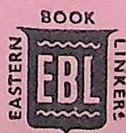
ओ३म्

वैदिक-संग्रहः

(टिप्पण्यादिसमलङ्कृतः)

डॉ० कृष्ण लाल
उपाचार्य (रीडर), संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली



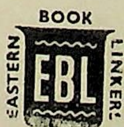
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली

ओ३म्

वैदिक-संग्रहः

(टिप्पण्यादिसमलङ्कृतः)

डॉ० कृष्ण लाल
उपाचार्य (रीडर), संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली



ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५/१६, विजय नगर (डबल स्टोरी), दिल्ली-११०००६

द्वितीय संस्करण : १९७७
मूल्य : रु० १०.००

मुद्रक :—
अमर प्रिंटिंग प्रेस, (श्याम प्रिंटिंग एजेन्सी),
८/२५ विजय नगर (डबल स्टोरी), दिल्ली-११०००६

प्रिय पत्नी

श्रीमती शशिप्रभा

को

समर्पित

प्राक्कथन

गत कतिपय दशकों से महाविद्यालयीय और विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रमों में समावेश हेतु वैदिक संकलन प्रकाशित किये जाते रहे हैं। मैकडॉनल की वैदिक रीडर एवं पीटरसन के 'ए सिलेक्शन ऑफ हिम्ज़ फ्रॉम दि ऋग्वेद' से लेकर अब तक अनेक भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने वैदिक संकलन प्रकाशित किये हैं। सूक्तों के चयन एवं उनकी व्याख्या में हरेक का अपना-अपना दृष्टिकोण रहा है। वैदिक सूक्तों के लिये यह कहना कि अमुक सूक्त अधिक उत्तम है समीचीन नहीं है। अपौरुषेय ज्ञानराशि का प्रत्येक कण उपादेय है, हृद्य है, महत्त्वपूर्ण है। तारतम्य तो संकलनकर्ताओं की रुचि पर आधृत है। 'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्'—जो भी सूक्त अथवा ब्राह्मणभाग संकलनकर्ता को भा जाता है वही उसे महत्त्वपूर्ण लगता है। वह समझता है कि उन सूक्तों अथवा वैदिक वाङ्मय के अंशों से संस्कृत के विद्यार्थी वैदिक वाङ्मय का सम्यक्तया परिचय प्राप्त कर सकेंगे। इसी भावना से प्रेरित हो वह संकलन कार्य में जुट जाता है और टिप्पणी-व्याख्यादि के साथ उसे प्रकाशित करवा देता है।

वेद के विषय में एक सुप्रसिद्ध उक्ति है—बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति। वेद की व्याख्या के लिये तो व्याख्याकार को बहुश्रुत होना चाहिए। तदर्थ भूयोविद्य व्यक्ति ही प्रशस्त माना जाता है—भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति। वेद की आत्मा को जो पहिचाने वही उसके साथ न्याय कर सकता है। उसमें तो एक स्वर के इधर से उधर हो जाने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है

शताब्दियों से विद्वानों ने वेद की आत्मा को पहिचानने का प्रयत्न किया है। जैसा उनका सामर्थ्य था या जैसी उनकी समझ थी—'यथाशक्ति यथामति—उन्होंने वेद के अर्थ करने का प्रयास किया है। पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों की कई पीढ़ियाँ इस काम में जुटी रही हैं। पर कोई निश्चय से कह सकता है क्या कि उनमें से कोई भी सही रूप से वेद के स्वरूप को पहिचान पाया है?

संकलनकर्त्ता के लिए इस स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि वह सभी के सभी—यदि यह सम्भव न हो—तो कम से कम सभी प्रमुख—वैदिक व्याख्याकारों का मत मन्त्रों की व्याख्या के समय उद्धृत करे। यदि उसका अपना भी कोई मत है जो पूर्व व्याख्याकारों से भिन्न है तो उसका भी वह उल्लेख कर सकता है।

प्रस्तुत संकलन में यही किया गया है। संकलनकर्त्ता डॉ० कृष्णलाल वैदिक वाङ्मय के अधिकारी विद्वान् हैं। वर्षों इन्होंने वैदिक अध्ययन एवं शोध में बिताये हैं। वे संस्कृत और हिन्दी के ख्यातनामा कवि भी हैं। इसी कारण वैदिक मन्त्रों के प्रसंग में भी उनके भीतर का कवि अपने को रोक नहीं पाया है और उनकी (मन्त्रों की) व्याख्या से पूर्व उन्होंने उनका सरल-सरस हिन्दी पद्यानुवाद भी प्रस्तुत कर दिया है जिसने प्रस्तुत संकलन को चार चांद लगा दिये हैं।

डॉ० कृष्णलाल ने अपनी समझ से उन सूक्तों का सग्रह में संकलन किया है जो भाषा के साथ भाव की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी व्याख्या उन्होंने विस्तार से यहाँ दी है। पूर्ववर्ती सभी प्रमुख देशी-विदेशी विद्वानों की व्याख्याओं को भी इन्होंने यहाँ प्रस्तुत किया है। व्याकरण विषयक टिप्पणियाँ भी पर्याप्त दी हैं जिससे इसकी उपादेयता बहुत बढ़ गई है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संकलन महाविद्यालयीय अथ च विश्वविद्यालयीय संस्कृत छात्रों के लिए बहुत उपयोगी रहेगा एवं च संस्कृत जगत् के द्वारा इसका समुचित सम्मान किया जायेगा।

सत्यव्रत शास्त्री

आचार्य एवं अध्यक्ष
संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

'सुरभि',
३/५४, रूपनगर,
दिल्ली-७

प्रथम संस्करण की भूमिका

वेद अगाध रत्नाकर है। इस महापयोधि की कुछ अमृत-कणिकाओं का भी यदि मनुष्य आस्वादन कर सके तो वह कृत-कृत्य हो जाता है। बहुत समय से इन कणिकाओं का एक लघु-सग्रह तैयार करने का विचार मन में था। ईश्वरेच्छा से अब वह साकार हो सका है। मैक्डॉनल, पीटर्सन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा तैयार किये गये जिन संग्रहों के अध्ययनाध्यापन का अवसर मिला, उनसे सर्वदा मन में एक असन्तोष की भावना व्याप्त रही क्योंकि ऐसा लगा कि एक तो उनसे वेद का वास्तविक स्वरूप उभर कर नहीं आता और दूसरे वह भी स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द प्रभृति विद्वानों के विचारों के समावेश के अभाव में अधूरा रह जाता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के एम० ए० पाठ्यक्रम के लिए श्री सत्यभूषण योगी द्वारा तैयार किये गये संग्रह 'वेदसमुल्लास' से मुझे और अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। और इस प्रेरणा को बल मिला दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष, पूज्य गुरुवर प्रोफेसर डॉ० सत्यव्रत शास्त्री द्वारा मेरे विचार की पुष्टि से।

यह प्रयत्न किया गया है कि इस संग्रह में प्रमुख वेद (मन्त्रब्राह्मण)-ग्रन्थों का सम्यक् प्रतिनिधित्व हो जाये और दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा बी० ए० (ऑनर्ज) संस्कृत के पाठ्यक्रम में निर्धारित वैदिक अंशों का भी समावेश हो जाये। प्रत्येक मन्त्र का हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है। इस अनुवाद की यह विशेषता है कि इसमें अर्थों का क्रम मन्त्रों में विद्यमान शब्दों का क्रम ही है। इससे शब्द का अर्थ से सम्बन्ध स्थापित करने में सुविधा होती है। पद्यानुवाद के पश्चात् कुछ वाक्यों में मन्त्र में निहित भाव स्पष्ट कर दिया गया है। प्रत्येक सूक्त के आरम्भ में देवता-परिचय सम्बन्धी लेख है। इसमें तत्तद्देवता के विषय में प्रमुख विद्वानों द्वारा प्रतिपादित मतों को आलोचनात्मक रूप में संकलित करके देवता का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। अधिकांश मन्त्रों के सम्बन्ध में सायण-भाष्य का सकलपाठ देने के स्थान पर शब्दशः टिप्पणियों में सभी विद्वानों के उपलब्ध भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त समझा गया है। इन टिप्पणियों में यथासम्भव व्याकरण और

स्वर से सम्बद्ध पूर्ण विवरण देने का प्रयत्न किया गया है। इस विवरण के लिए मुझे सबसे अधिक सहायता पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में रीडर पूज्य गुरुवर डा० रामगोपाल की पुस्तक वैदिक व्याकरण (दो भाग) से प्राप्त हुई है। मैंने निस्सङ्कोच इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का उपयोग किया है और स्थान-स्थान पर उसके सन्दर्भ-संकेत दिये हैं। इनके साथ-साथ यास्क, स्कन्द-स्वामी, वेंकट माधव, सायण, स्वामी दयानन्द, योगी अरविन्द, मैक्स म्युलर, ग्रासमन, गेल्डनर, मैक्डॉनल, सातवलेकर, वासुदेव शरण अग्रवाल, हरिशंकर जोशी प्रभृति जिन उद्भट विद्वानों का साहाय्य इस पुस्तक में प्राप्त किया गया है, उनके प्रति आभार-प्रदर्शन करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। वैदिक अंशों के चयन में बहुमूल्य सुझाव देने के लिए पूज्य गुरुवर श्री सत्य भूषण योगी के प्रति और सत्प्रेरणा तथा प्राक्कथन के लिए पूज्य गुरुवर डा० सत्यव्रत शास्त्री के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए मुझे महान् सन्तोष का अनुभव होता है। इस अवसर पर मैं अपने हितैषी मित्रों श्री कैलाश चन्द्र, श्री विश्वमोहन, डॉ० जगदीश कुमार, डॉ० नित्यानन्द शर्मा, डॉ० सूबे सिंह राणा, डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी और डॉ० प्रह्लाद कुमार का शुभ स्मरण करना चाहता हूँ।

अधिक क्या कहा जाये। आशा है कि यह पुस्तक विद्वानों और छात्रों—दोनों को ग्राह्य होगी और वेद का स्वरूप स्पष्ट करने रूपी अपने उद्देश्य में सफल होगी।

स्वाभाविक है कि पुस्तक में कुछ अशुद्धियाँ (मुद्रणसम्बन्धी भी) रह गई होंगी। विद्वान् तो स्वयं ही अशुद्धि-संशोधन कर सकते हैं—वे अपने बहुमूल्य सुझाव देकर भी अनुगृहीत करें। मुद्रणालय द्वारा बहुत प्रयत्न करने पर भी दूषित अक्षरमुद्राओं के कारण स्वर-चिह्न कई स्थानों पर पूरे उभर नहीं सके हैं। किन्तु ऐसे स्थलों पर मुझे विश्वास है कि पद-पाठ सहायक होगा।

कृष्णलाल

प्रवाचक, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-७

८/११, रूप नगर,
दिल्ली-७
(सं० २०३०)

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'वैदिकसंग्रहः' का द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथ में देते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष एवं सन्तोष का अनुभव हो रहा है। पाठकों ने इसका जो स्वागत किया उससे मेरा बहुत उत्साहवर्धन हुआ है। वेदाध्ययन की सम्यक् पद्धति और वेदव्याख्या का समीचीन मार्ग बताना ही इस पुस्तक का उद्देश्य था, और उसमें यह पर्याप्त सफल रही है।

छात्रों की दृष्टि से प्रायः इस पुस्तक के विषय में यह कहा गया है कि इसमें पूर्ण सायणभाष्य होना चाहिये। मेरा इस सम्बन्ध में यह विनम्र निवेदन है कि टिप्पणियों में अन्य भाष्यों के समान ही सायणभाष्य के महत्त्वपूर्ण अंशों का समावेश किया गया है, उसकी उपेक्षा नहीं की गई। पूर्ण भाष्य न देने के पीछे मेरी यही दृष्टि रही है कि सभी भाष्यों को समान महत्त्व देना चाहिये। और यदि सभी भाष्य पूर्णरूपेण दिये जायें तो एक तो पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जायेगा तथा मूल्य अधिक होने के कारण यह सभी छात्रों की पहुँच के बाहर हो जायेगी और दूसरे आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन के लिये तुलनात्मक टिप्पणियों की अवहेलना नहीं की जा सकती। जिन प्रबुद्ध छात्रों को अधिक जिज्ञासा होती है वे पुस्तकालय का प्रयोग करके अपनी जिज्ञासा शान्त कर ही लेते हैं। केवल सायणभाष्य को एकमात्र आधार बनाने की बात भी मेरी समझ में नहीं आती। अन्यथा सम्पूर्ण सायणभाष्य उतार कर रख देना कोई कठिन कार्य नहीं।

मन्त्रों का जो हिन्दी-पद्यानुवाद किया गया है, इसके स्थान पर (या उसके साथ-साथ) हिन्दी-अन्वयानुवाद दिया जाये—ऐसा भी मन्तव्य मेरे पास पहुँचा। मेरे विचार में पद्यानुवाद का स्पष्टीकरण उसके नीचे दी गई संक्षिप्त व्याख्या में हो जाता है, फिर अपना वाक्य बनाना किसी के लिये कठिन नहीं।

फिर भी जिन सज्जनों ने उपर्युक्त बातों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया, उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे मुझे अनुगृहीत करते रहेंगे।

विगत संस्करण में कई स्थानों पर स्वरचिह्न टूट गये थे। उन्हें इस संस्करण में संशोधित करने का प्रयत्न किया गया है।

विगत संस्करण की भूमिका में मैंने अपने अनन्य सखा, बन्धु एवं शिष्य डॉ० प्रह्लाद कुमार का शुभस्मरण किया था। परन्तु अब उनके इस संसार में न रहने के कारण भारी मन से उनका स्मरण कर रहा हूँ। वे वेद के स्तम्भ थे, मेरे प्रत्येक कार्य में सहायक थे। उनके अभाव में मैं अपने आपको खण्डित अनुभव करता हूँ।

विश्वनीड, ई ९३७,
सरस्वती विहार, दिल्ली ११००३४

कृष्णलाल
उपाचार्य, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

क्रम

संक्षेप सूची

अ.—अरबी
अं—अंग्रेजी
अथर्व—अथर्ववेद (शौनक)
अ. प्रा.—अथर्ववेद प्रतिशाख्य
अर.—योगी अरविन्द घोष
अवे.—अवेस्ता
उ.—उवट
ऋ.—ऋग्वेद
ऋ. प्रा०—ऋक्प्रातिशाख्य
ऐ. ब्रा.—ऐतरेय ब्राह्मण
(ओ.) ओ. ब.—ओल्डन बर्ग
गिरि.—गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी
(वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति)
गेल्ड.—गेल्डनर (देअर ऋग्वेद)
गो.—गोथिक
ग्रास.—ग्रासमन (वोर्तरबुख त्सुम ऋग्वेद)
ज.—जर्मन
तु.—तुलनीय
तै. ब्रा०—तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं.—तैत्तिरीय संहिता
दे.—देखिये
नि.—निरुक्त
प. पा.—पदपाठ
पा.—पाणिनीय अष्टाध्यायी
पी.—पीटर पीटर्सन
प्रिय.—प्रियरत्न (यमपितृपरिचय)
ब्लूम.—मौरिस ब्लूमफील्ड
मक्स.—मक्स म्युलर

मनु.—मनुस्मृति
मही.—महीधर
मै.—आर्थर एन्थोनी मैक्डॉनल
या.—यास्क
यू.—यूनानी
ला.—लातीनी
लिथु.—लिथुआनी
वा. प्र.—वाजसनेयिप्रातिशाख्य
वा. श. (वा. श. अ.)—वासुदेवशरण अग्रवाल
वा. सं.—वाजसनेयिसंहिता
वि. वै. शो. सं.—विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
वें—वेंकट माधव
वेल.—हरिदामोदर वेलणकर
वे. वि. नि.—वेद विद्या निदर्शन भगवद्दत्त)
वै. ग्रा. स्टू.—वैदिक ग्रामर फॉर स्टूडेंट्स (मैक्डॉनल)
वै. री.—वैदिक रीडर (मैक्डॉनल)
वै. वि. द.—वैदिक विश्व दर्शन-२ भाग (हरिशंकर जोशी)
वै. व्या.—वैदिक व्याकरण—२ भाग (डॉ. रामगोपाल)
वै. स्व. स.—वैदिक स्वर समीक्षा (अमरनाथ शास्त्री)
वो. बु.—वोर्तरबुख त्सुम ऋग्वेद (ग्रासमन)
व्हि.—विलियम ड्वाइट व्हिट्ने
श. ब्रा.—शतपथ ब्राह्मण
सं.—संस्कृत
सा.—सायण
सात.—श्रीपाद्दामोदर सातवलेकर
स्क.—स्कन्दस्वामी
स्वा. द.—स्वामी दयानन्द सरस्वती
ह. शं—हरिशंकर जोशी (वैदिक विश्व दर्शन)

अग्निः

यद्यपि सूक्तों की संख्या की दृष्टि से इन्द्र (२५० सूक्त) का महत्त्व ऋग्वेद में सबसे अधिक प्रतीत होता है, तथापि तात्त्विक दृष्टि से २०० सूक्तों में वर्णित होने पर भी अग्नि सर्वप्रधान दिखाई देता है। सम्भवतया इसीलिये अन्यान्य देवों को अग्नि बताया गया है यथा **अग्निर्वै रुद्रः** (श० ब्रा० ५।३।१।१०), **अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः, इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः** इत्यादि (ऋ० १।१६४। ४६), **अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य** (ऋ० १०।७।३), **अग्ने गर्भो अपामसि** (वा० सं० १२।३७), **अग्निर्वै सर्वा देवताः** (ऐ० ब्रा० १।१), **ते देवा अग्नौ तनूः सन्न्यदधत। तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति** (तै० ब्रा० ३।२।६।१०) इत्यादि।

सर्वप्रधान और सर्वव्यापक होने के साथ ही साथ अग्नि अग्रणी भी है, सर्वप्रथम है। उसका जातवेदाः नाम इस विशेषता का द्योतक है। इसकी पुष्टि श० ब्रा० १४।२।५ के इस वचन से होती है—**अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा**, और तै० सं० २।१।६।४ में तो अग्नि का जन्म सब देवताओं से पूर्व बताया है—**अग्निमेव देवतानां प्रथममसृजत।**

ऋग्वेद के सभी मण्डलों के आदि में अग्निसूक्तों के अस्तित्व से इस देव की प्रमुखता प्रकट होती है। भूमण्डल के विभिन्न प्रमुख तत्त्वों से अग्नि का सम्बन्ध बताया गया है। ऋ० २।१।१ के अनुसार अग्नि आकाश, सूर्य, जल, पाषाण, वनस्पतियों, ओषधियों और मनुष्यों से उत्पन्न होता है। यास्क का झुकाव भी अनेक देवों को अग्नि मानने की ओर ही है जैसा कि द्रविणोदाः, वैश्वानर, इध्म, तनूनपात्, नराशंस, द्वार, त्वष्टा, वनस्पति इत्यादि देवों के विवेचन से स्पष्ट होता है।

अग्नि होता है, पुरोहित है, यजमान है। यह विचित्र कीर्ति वाला है। अपने स्तोताओं को रत्नादि संमृद्धि प्रदान करता है। घृत से अग्नि का सम्बन्ध अनेक स्थलों पर बताया गया है। वह घृतमुख है, घृतचक्षु है, घृतपृष्ठ है और उसका निवास भी घृत में है—**घृतमस्य धाम**। वह आकाश में सर्वप्रथम उत्पन्न

होता है—दिवस्परि प्रथमं जज्ञे (शायद सूर्य के रूप में)। अग्नि के तीन रूपों (त्रेधा) का उल्लेख है। इससे पृथ्वीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय अथवा गार्हपत्य, आहवनीय और, दक्षिणाग्नि, या मन, प्राण, वाक्, (सत्त्व, रजस् और तमस्) का संकेत प्राप्त होता है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में ऐसे कहा गया है—**एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः**। अग्नि को त्रिधातु भी कहा गया है; वही अर्क है, अजस्र घर्म और हवि भी है। यह अन्नाद है; सम्भवतया इसमें जठराग्नि अभिप्रेत है। वह वरेण्य अतिथि है। वैश्वानररूप में इसे आकाश की मूर्धा, पृथिवी की नाभि और रोदसी की स्थिरता माना है। इसे दूत भी कहा गया है और इसलिये वह्नि तथा हव्यवाट् (आहुतियों का वहन करने वाला) भी। यह रयिपति (धन, ऐश्वर्य का स्वामी), गृहपति, पावक (पवित्र करने वाला), वृषा (प्रजननशक्ति से युक्त), राजा (द्युतिशील, शासक), हरिकेश, कवि (क्रान्तदर्शी), चन्द्र, चन्द्ररथ (चन्द्ररूपी रथ वाला), अप्सुषद् (जल में निवास करने वाला), स्वर्विद् (आकाश को जानने या प्राप्त करने वाला), अजिर, प्रत्न, (पुरातन), यज्ञस्य केतुः (यज्ञ का चिह्न), कविक्रतु (क्रान्तदर्शी क्रियाओं वाला), नेता, ऋतुपा (ऋतुओं का रक्षक), वृत्रहा (वृत्रनाशक), शुचिदन् (चमकीले दाँतों—अंगारों वाला), प्रचेता इत्यादि है।

इसके जन्म के विषय में यह विचित्र बात है कि यह स्वयं पिता है और स्वयं ही पुत्र (**अग्नेरग्निरजायत**)। वास्तव में इसके मूल में **आत्मा वै जायते पुत्रः** का सिद्धान्त है। इसकी दो माताएँ हैं क्योंकि यह दो अरणियों से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कहा गया है कि इन्द्र ने दो पाषाणों के मध्य अग्नि को जन्म दिया है। इसे दस युवतियों की सन्तान कहा गया है। स्पष्ट ही यहाँ दस युवतियों से अग्नि प्रज्वलित करने वाले की दस उंगलियाँ अभिप्रेत हैं। वह आकाश का शिशु है। इसे बल का पुत्र (सहसः सूनुः) तो बार बार कहा गया है। यह तीन माताओं वाला (त्र्यम्बक) है। ये तीन माताएँ आकाश अन्तरिक्ष और पृथ्वी हो सकती हैं। या आध्यात्मिक दृष्टि से इन्हें मन, प्राण, वाक् कहा जा सकता है।[1] उत्पन्न होते ही अग्नि ने सभी लोकों को देख लिया —**जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः**। अग्नि का जन्म जल से भी माना गया है—**अपां नपात्**। इसी प्रकार उसे **अपां गर्भः** भी कहा गया है। जल में अग्नि निरन्तर समिद्ध होता है (**अप्सु अजस्रमिन्धानः**। यहाँ जल से सम्भवतया विश्वसृष्टि के मूल जल के प्रति संकेत है।

अग्नि की प्रमुख क्रियाएँ वनों का भक्षण, अन्धकार को ध्वस्त करना,

---

१. वेदरश्मि, पृ. ७।

देवताओं को यज्ञों में लाना, आहुतियों का वहन करना इत्यादि हैं। यद्यपि ये क्रियाएं भौतिक अग्नि से सम्बद्ध हैं, तथापि ऋग्वैदिक ऋषियों ने उसके आध्यात्मिक रूप का भी विशद वर्णन किया है। प्रतीकार्थ में तो वासुदेवशरण अग्रवाल प्रभृति अनेक विद्वान् उपर्युक्त क्रियाओं को भी आध्यात्मिक ही मानते हैं। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि मरणधर्मा मनुष्यों में अमर अग्नि का निधान किया गया—**मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि**। यहाँ अग्नि परमतत्त्व के तुल्य है। वह न केवल भौतिक समृद्धि का स्वामी है अपितु अमर-समृद्धि का भी—**ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेरीशे रायः सुवीर्यस्य दातोः**। उत्पन्न होते ही वह सब लोकों को देख लेता है। वह सब में प्रमुख है, वह मुख है। पुरुष सूक्त में अग्नि का जन्म पुरुष के मुख से बताया गया है—**मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च**। श०ब्रा० (३।७।२।६) में अग्नि को देवताओं का मुख कहा है—**अग्निर्वै देवानां मुखं प्रजनयिता**। तै०ब्रा० (१।८।८।१) में आता है कि अग्नि ऋत की प्रथम सन्तान है, देवताओं से पूर्व उत्पन्न हुआ है और अमरत्व का केन्द्र (**अमृतस्य नाभिः**) है।

अग्नि का सबसे अधिक सम्बन्ध इन्द्र से है। अनेक सूक्तों में इनकी सहस्तुति हुई है। सम्भव है कि इस रूप में ये दोनों देव सूर्य के रूप में आते हों। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र के मूल में मानी गई इन्ध् धातु का अर्थ अग्नि का गुण या प्रज्वलित होना ही है। दोनों को ही वृत्रहा कहा गया है। वे दोनों साथ साथ बढ़ने वाले हैं। श०ब्रा० (६।२।२।२८) में इन्द्राग्नी को सभी देवों का प्रतिनिधि माना गया है—**इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः**। अन्य देवताओं के अतिरिक्त अग्नि का सोम के साथ सम्बन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऋ० ५।४४।१५ में सोम अग्नि के पास जाकर अपना सख्य प्रकट करता है। जिस प्रकार इन्द्र सोम से अभिवृद्ध होता है उसी प्रकार अग्नि भी। अग्नि का मरुतों के साथ आह्वान किया गया है। यों तो अनेक देवों को अग्नि के नाम से अभिहित किया गया है, किन्तु रुद्र के लिये अग्नि का नाम महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यह परम्परा पुनरावृत्ति के कारण और सुदृढ़ हो गई है (श०ब्रा० ५।२।४।१३—यो वै रुद्रः सोऽग्निः)।

अग्नि शब्द की तुलना लैटिन इग्निस्, स्लैवानिक ओग्नि आदि से की जा सकती है। और इससे इस शब्द के विस्तार का ज्ञान होता है। यास्क द्वारा प्रदत्त निरुक्तियों **अङ्गं नयति सन्नममानः** (प्रत्येक पदार्थ की ओर प्रवृत्त होता हुआ उसके शरीर को ले लेता है), **अक्नोपनो भवति** (सुखा देता है), **इतात्** (इ=जाना), **अक्ताद्दग्धाद्वा** (अञ्ज्=लिप्त होना या दह्=जलना), **नीतात्** (नी=ले जाना) से अग्नि का भौतिक रूप, **अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते** (यज्ञों में आगे आगे ले जाया जाता है), **अग्रणीर्भवति** (सब का नेता है) से इसका

दिव्य रूप और उसके द्वारा उद्धृत ब्राह्मणवचन '**अग्निः सर्वा देवताः**' से इसका आध्यात्मिक रूप प्रकट होता है। परन्तु उसका निष्कर्ष यह है कि प्रमुख रूप से सूक्तों में इसी पार्थिव अग्नि की स्तुति की गई है और इसे ही यज्ञों में आहुति अर्पित की जाती है। कुछ विद्वान् इसकी निरुक्ति अग्=अङ्ग् (जाना) धातु से भी करते हैं क्योंकि यह सर्वत्र जाता है। मैक्डॉनल ने इसका निर्वचन अज् धातु से किया है और इसे गतिमान् बताते हुए भूताग्नि माना है। परन्तु यह ध्यान में रहना चाहिये कि इन गत्यर्थक धातुओं से व्याप्ति का बोध भी होता है। व्याप्ति से आत्म-तत्त्व और ब्रह्मतत्त्व का संकेत भी मिलता है। श० ब्रा० ६।१।१।११ में अग्नि की व्युत्पत्ति केवल अग्र शब्द से की गई है और कहा गया है कि देवताओं के परोक्षकाम होने के कारण अग्रि को ही अग्नि कहते हैं। तदनुसार अर्थ यह कि अग्नि सभी प्राणियों के अन्दर स्थित है और प्राणियों के जीवन में सर्वप्रथम इसकी ही सृष्टि होती है (**यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्रिरसृज्यत, स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः**)। इसके अनुरूप ही तै० ब्रा० का '**अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्**' वचन है। अग् (गतिशील होना, प्रमुख होना आदि) धातु से अग्नि का निर्वचन करते हुए अरविन्द ने इसे गतिशील जीवन तत्त्व तथा प्रकाश और शक्ति का प्रतीक माना है। इस तत्त्व का निवास अनन्त चिरन्तन सत्य में है। वह इस सत्य का सतत प्रकाश है जो मन की धुंधली और पर्याक्रान्त दशाओं में भी प्रदीप्त रहता है।

इसी विचारधारा के समानान्तर वासुदेव शरण अग्रवाल प्रभृति विद्वानों ने अग्नि को प्राणियों के भीतर विद्यमान अमर आत्मतत्त्व या शरीर को उष्ण रखने वाला प्राणतत्त्व माना है। यही प्राणतत्त्व रुद्र है और यही सोम का अर्थात् अन्न का भक्षण करके जीवन्त रहता है और शरीर को जीवित तथा गतिशील रखता है। इसे ही परम तत्त्व भी माना गया है। वस्तुतः सभी वैदिक देव परम तत्त्व के प्रतिरूप हैं जैसा कि मनु की इस उक्ति से स्पष्ट है :—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ (मनु० १२।१२३)

स्वामी दयानन्द ने इसी तथ्य की पुष्टि अन्यान्य प्रमाणों से भी की है। श० ब्रा० १।४।२।११ में **ब्रह्म ह्यग्निः** तथा श० ब्रा० १।२।३।२ में **आत्मा वा अग्निः** वचन भी इसके पोषक हैं। परन्तु इसके साथ ही स्वामी दयानन्द अग्नि का भौतिक स्वरूप भी स्वीकार करते हैं। इसकी पुष्टि श० ब्रा० १।३।३।३० के वचन **अश्वो वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति** तथा श० ब्रा० १।४।३।१२ के **अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य** से भी होती है।

निष्कर्षतः ऋग्वेद में तथा सामान्यतया वैदिक साहित्य में भी अग्नि का अध्यात्मोन्मुख भौतिक स्वरूप माना जा सकता है।

ऋ० १।१

ऋषिः—मधुच्छन्दाः, देवता—अग्निः, छन्दः—गायत्री।

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्। होतारम्। रत्नऽधातमम् ॥

अग्नि की मैं स्तुति करता, जो पुरःस्थित, यज्ञ का दिव्य ऋत्विज है।
जो करता आह्वान, श्रेष्ठ धनदाता, (सबका ही शुभचिन्तक है) ॥

अग्निम्—अनुदात्तौ सुप्पितौ (पा० ३।१।४) से अम् विभक्ति अनुदात्त होनी चाहिये, किन्तु उसका पूर्वरूप एकादेश होने के कारण 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (पा० ८।२।५) से अन्त्य स्वर इकार उदात्त है।

ईळे—अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ **स्तौमि** (मैं स्तुति करता हूँ) किया है। यास्क (या०)—**याचामि** (मैं मांगता हूँ—प्रेरित करता हूँ)। स्वामी दयानन्द (स्वा० द०)—दोनों अर्थ। दो स्वरों के मध्य आने वाला ड और ढ क्रमशः वेद में ळ और ळह् में परिणत हो जाता है—अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः। अज्मध्यस्थढकारस्य ळहकारं वै यथाक्रमम् ॥ 'तिङ्ङतिङः' (पा० ८।१।२८) से तिङन्त पद पहले न होने के कारण तथा वाक्य के मध्य आने के कारण यह पद सर्वानुदात्त है। ईड् धातु से यूनानी ऐदोमाई (लज्जित होना) की तुलना की जा सकती है।

पुरःऽहितम्—या०, सायण (सा०), मैक्डॉनल (मै०), ओल्डनबर्ग (ओ०) स्कन्दस्वामी (स्क०) प्रभृति विद्वान्—पुरोहित, यज्ञकर्म सम्पादित करने वाला। सा० और स्क० इसका लाक्षणिक अर्थ करते हुए कहते हैं कि जैसे पुरोहित यज्ञकर्मों द्वारा राजा की आपत्तियों से रक्षा करके उसका अभीष्ट सम्पादित करता है, उसी प्रकार अग्नि भी अभीष्ट सम्पादित करता है। (सा० यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं सम्पादयति तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं सम्पादयति; स्क. शान्तिकपौष्टिकैः कर्मभिर्यो राजानमापद्भ्यस्त्रायते स पुरोहितः) इनकी वैकल्पिक व्याख्या तथा वेंकटमाधव (वें०) और मुद्गल (मु०) के अनुसार इस

पद का अन्वय 'यज्ञस्य' के साथ करके इसका अर्थ 'यज्ञ के पूर्व भाग में स्थापित आहवनीयाग्नि' किया गया है। स्वा० द० के अनुसार इसका अर्थ है, 'उत्पत्ति के समय से पहले परमाणु आदि सृष्टि का धारण करने वाला परमेश्वर या पदार्थों के उत्पादन से पूर्व भी छेदन, धारण आकर्षण आदि गुणों को धारण करने वाला भौतिक अग्नि (**पुरस्तात् सर्वं जगद्दधाति छेदनधारणाकर्षणादि-गुणांश्चापि**)। अरविन्द (अर०) ने इसे हमारे 'ईश्वरोन्मुख कार्यों का नेतृत्व करने वाली प्रेरक शक्ति' बताया है। सातवलेकर (सात०) इसका अर्थ 'स्वयं आगे बढ़कर लोगों का हित करने वाला' करते हैं। गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी (गिरि०) ने इसका व्यापक अर्थ करते हुए कहा है कि 'जो कुछ हमारे सामने है, वह सब अग्नि है। तु० नि० ७।३।८ —**यच्च किञ्चिद्दार्ष्टिविषयिकमग्निक-र्मैव तत्**—जो भी पदार्थ सामने हमारी दृष्टि में आता है वह सब अग्नि का ही कर्म है। मै० के अनुसार समास में उत्तरपद क्तान्त होने पर पूर्वपद पर उदात्त होता है। परन्तु पा० के अनुसार 'समास अन्तोदात्तः' से अन्तोदात्त प्राप्त होने पर भी 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (पा० ६।२।२) इत्यादि से या **पुरः** पद की गति संज्ञा होने पर (पुरोऽव्ययम्), 'गतिरनन्तरः' (पा० ६।२।४९) से पूर्वपद का प्रकृति-स्वर अर्थात् पुरोहित का ओकार उदात्त है।

यज्ञस्य—सा० वें० आदि के समान इसका अन्वय केवल पुरोहितम् के साथ करना उचित नहीं प्रतीत होता। स्वा०द० ने इसका सम्बन्ध सभी द्विती-यान्त पदों से माना है। यज् धातु के धातुपाठगत अर्थों के आधार पर वे इसका अर्थ 'महिमा, कर्म, विद्वानों का सम्मान या संगति' करते हैं। मै० के मतानुसार इसका सम्बन्ध केवल पुरोगामी ऋत्विजम् के साथ है। सात० ने यहाँ यज का संगतिकरण अर्थ लेकर यज्ञ का अर्थ 'समाज का संगठन या शुभकर्म' किया है। गिरि० के अनुसार अन्य व्यक्तियों से अपने लिये कुछ ग्रहण करने और उन्हें कुछ प्रदान करने का नाम ही यज्ञ है। अर० भी समस्त विश्व का आधार यज्ञ अथवा दानक्रिया मानते हैं। देवताओं या परमात्मा को उद्दिष्ट सभी अन्तर्बाह्य क्रियाएँ यज्ञ नाम से अभिहित होती हैं। या० ने यज् धातु से निरुक्ति के अतिरिक्त इसकी निरुक्ति **यजुरुन्नो भवतीति वा...यजूं-ष्येनं नयन्तीति वा** (यजुर्मन्त्रों से युक्त कर्म) भी की है। इस शब्द से अवेस्ता—यस्न, गाथा—यस्नह्य और यूनानी—हग्नोस् की तुलना की जा सकती है।

देवम्—दिव्यशक्तिरूप, प्रकाशक। इसकी व्युत्पत्ति दिव् धातु (चमकना या दान करना) से मानी जाती है।—सा० दानादिगुणयुक्तम्। अग्नि अथवा परमेश्वर सब पदार्थों को समस्त जनों तक पहुँचाता हुआ, सबको जीवनदान

देता हुआ मानो स्वयं यज्ञ के नियमों को प्रकाशित करता है। या० ने **द्युस्थानो भवतीति वा** (वह आकाश में अवस्थित होता है) निरुक्ति भी दी है। तु० अवेस्ता—दएव (राक्षस), लैटिन—दिउम् । अर० के अनुसार 'देव' बाह्य प्राकृतिक शक्तियों के इच्छा, मन आदि आभ्यन्तर रूप हैं—दिव्य तत्त्व ।

ऋत्विजम्—ऋतौ यजति=(ऋत्विग्दधृक्...पा० ३।२।५९ से निपात) —जो ऋतु में अर्थात् नियत समय पर यज्ञ करता है। सा०, स्क० और मु० ने इसे होतारम् का विशेष्य माना है। दे० सा० **देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव** । वें० ने इसकी व्याख्या **स्वे स्वे काले देवानां यष्टारम्** (अपने अपने उचित समय में देवों का यज्ञ करने वाला) की है। उपरिलिखित निर्वचन के अतिरिक्त या० ने इसकी एक अन्य व्युत्पत्ति—ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः (ऋचाओं के द्वारा यज्ञ करने वाला) भी की है। स्वा० द० ने इसकी परमेश्वरपरक व्याख्या की है—**य ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं यजति, करोति, संगतं सर्वेषु ऋतुषु यजनीयः तम्** (वारंवार उत्पत्ति के समय में स्थूल सृष्टि के रचने वाले तथा ऋतुऋतु में उपासना करने योग्य)। गिरि० ने इसे सर्वव्यापी अग्नि मानकर अर्थ किया है, "विभिन्न ऋतुओं में जो अग्नि विभिन्न पदार्थों या तत्त्वों के रूप में प्रकट होता है।" अर० के अनुसार 'ऋतु' सत्य का नियत धर्म है, अग्नि उस धर्म के अनुकूल यज्ञ करने वाला पुरोहित है—दूसरे शब्दों में आत्मा। ऋतु के लिये तु० अवेस्ता—रतु, यूनानी, लातीनी —अर्तुस्। 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा० ६।२।१३९) से कृत्-प्रत्यययुक्त उत्तरपद में प्रकृतिस्वर के कारण 'इ' उदात्त है। मै० के अनुसार समस्तपद होने पर भी प० पा० में इसका विग्रह नहीं किया गया क्योंकि उत्तरपद इज् स्वतन्त्र शब्द नहीं है।

होतारम्—वह अग्नि जो सब दैवी शक्तियों का अपने अपने कार्य के लिये आह्वान करता है, उन्हें प्रेरित करता है। या जो सब मनुष्यों को सत्कर्मों के निमित्त, यज्ञकर्म के निमित्त आह्वान करता है। जो उसका आह्वान सुनते हैं वे सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। सात०—विद्वानों को बुलाने वाला। या० को भी **(देवानाम्) ह्वातारम्**, (देवों को बुलाने वाला) अर्थ सम्मत प्रतीत होता है। वें० ने यही अर्थ दिया है। √हु (आहुति देना) से भी उसने इसकी व्युत्पत्ति मानी है—**जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः** । दे० ऐ० ब्रा० १२।३—'अग्निर्वै देवानां होता'। स्वा० द० ने भी सम्भवतया √हु से व्युत्पन्न मानते हुए इसका अर्थ 'दातारमादातारं वा' देने या ग्रहण करने वाला) किया है। इसी धातु के आधार पर गिरि० ने 'होम का साधन' अर्थ किया है क्योंकि तदनुसार 'अग्नि में ही

हवन कर सकते हैं। यही धातु मानते हुए अर० इसे आहुति देने वाला मानते हैं क्योंकि 'अग्नि की शक्ति ही यज्ञ के प्रतीकरूप कार्य में सत्य का प्रयोग करती है—सत्य की आहुति देती है।' तु० अवेस्ता—ज़ओतर्। धातु से तृन् प्रत्यय लगने से प्रत्यय के न् इत् होने के कारण आद्युदात्त है। [ञ्नित्यादिर्नित्यम्]

रत्नऽधातमम्—धन देने वालों में श्रेष्ठ। उस सर्वनियन्ता सर्वाधीश्वर से अधिक अच्छा धनदाता और कौन हो सकता है। रत्न का अर्थ प्रायः या०, वें० प्रभृति भारतीय विद्वानों ने 'रमणीय धन' किया है। 'धा' का अर्थ दान करने वाला या धारण करने वाला दोनों ही है। सम्भवतया रत्न शब्द √रा (दान करना) से व्युत्पन्न है और इस प्रकार इस अकेले शब्द से यज्ञ-दान-प्रधान वैदिक संस्कृति का परिचय मिलता है। ईश्वर हमें धनसम्पत्ति दान के निमित्त देना है, और यही उसके दान की श्रेष्ठता है। स्वा० द० और सात० के अनुसार इसका अर्थ 'पृथिवी तथा सुवर्णादि रत्नों को धारण करने वाला' है। सा० की व्याख्या कर्मकाण्ड के अनुरूप है—**यागफलरूपाणां रत्नानाम् अतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा।** गिरि० 'सुवर्ण, मणि आदि रत्नों को पोषण, धारण, दान करने वाला'। अग्नि से सुवर्ण की उत्पत्ति एक वैज्ञानिक सत्य है। तै० ब्रा० १।१।३—आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्, ता अग्निमभ्यध्यायत्। ताः समभवन् तस्य रेतः परापतत्, तद्धिरण्यमभवत्॥[1] अर० के अनुसार रत्न आनन्द का प्रतीक है। रत्नानि दधाति इति रत्नधा+तमप्—'समास अन्तोदात्तः' से 'धा' में सामान्य उदात्त है। समासों के विषय में यह नियम है कि पदपाठ में बाद में जोड़े गये पद को अवग्रह से पृथक् किया जाता है (दे० वा० प्रा० ५।७—बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा)। इस दृष्टि से तमप् प्रत्यय को भी समास का ही एक पद मानते हैं। परन्तु यहां उसे पृथक् न करके 'रत्न' को पृथक् किया गया है—धातम को पृथक् पद माना गया है।

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त। स दे॒वाँ एह व॑क्षति ॥२॥

अ॒ग्निः। पूर्वे॑भिः। ऋषि॑ऽभिः। ईड्यः। नूत॑नैः। उ॒त। सः। दे॒वान्। आ। इ॒ह। व॒क्ष॒ति॒॥

अग्नि पूर्वज ऋषियों द्वारा स्तुत्य रहा, अभिनव द्वारा भी तो है।
वह दिव्य जनों को यहां ले आवे, (यह यज्ञ उनका ही तो है)॥

प्राचीन और अभिनव दोनों प्रकार के क्रान्तदर्शी प्रकाशरूप परमेश्वर का रहस्य समझते हैं, और इसलिये वे उसकी ही स्तुति करते हैं। वे उससे प्रार्थना करते हैं कि वह सब दिव्य शक्तियों को इस संसार में सुखसमृद्धि के लिये

१. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० १७०-१।

उपस्थित करे। संसाररूपी यज्ञ ईश्वर द्वारा प्रेरित उन शक्तियों द्वारा ही संचालित होता है। वा० श० तथा सात० के अनुसार अग्नि को प्राण मानने पर ऋषियों को इन्द्रियाँ (प्राण) मानना होगा (तु० **प्राणाः वा ऋषयः** श० ब्रा० ६।१।१।१)। उन्हीं इन्द्रियों की मूल शक्ति को यहाँ देव कहा है। उपनिषदों में देव शब्द इन्द्रियों के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। यहां अर्थात् इस शरीर में उन देवों (इन्द्रियशक्तियों) के लाने की प्रार्थना की गई है। सारांश यह कि हमारी इन्द्रियाँ अपनी शक्तियों से युक्त रहें। **वाङ्म आस्ये** इत्यादि वेदमन्त्र में भी यही भावना व्यक्त होती है। सा०, स्क०, वें० प्रभृति विद्वानों के अनुसार अग्नि देवता से अन्य देवों को यज्ञ में लाने की प्रार्थना की गई है।

पूर्वेभिः—स्क०, सा०—पुरातनैः भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः (भृगु, अङ्गिरा इत्यादि ऋषियों के द्वारा)। ऋषियों को मन्त्रकर्ता मानने वाले विद्वान् अपने मत की पुष्टि में इस वेदवाक्य को उद्धृत करते हैं क्योंकि तदनुसार यदि वेद ईश्वरकृत हो तो पुरातन और नूतन का भेद उसमें न हो। स्वा० द०—ज्ञानी उपदेशक अध्यापक—ये ही साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हैं। लौकिक संस्कृत में पूर्वैः रूप होता, परन्तु वैदिक में 'बहुलं छन्दसि' (पा० ७।१।१०) सूत्र से पूर्वेभिः बनता है। एक विद्वान् के अनुसार भिस् विभक्ति ऋ० में प्रायः विशेषणों और सर्वनामों में प्रयुक्त होती है, पाली, प्राकृत में भी भिस् है।

ऋषिऽभिः—या० ने ऋषि शब्द के चार निर्वचन दिये हैं। प्रथम (ऋषिर्दर्शनात्) के अनुसार √ऋष् (गति—ज्ञान—दर्शन) से इसका अर्थ 'जो सूक्ष्म तत्त्वों का दर्शन करता है' होगा। द्वितीय (स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः) से इसका अर्थ मन्त्रद्रष्टा होगा। ब्राह्मण से उद्धृत तृतीय निरुक्ति यद्यपि भिन्न (तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवन्—तपस्यानिरत इनके पास ब्रह्म अर्थात् ज्ञान या वेद स्वयं आया, अतः वे ऋषि हो गये) है तथापि अभिप्राय उसका 'मन्त्रद्रष्टा' है। अन्यत्र √ऋष् को गत्यर्थ ही मान कर ऋषि का अर्थ ऋषीण अर्थात् गमनशील किरणें[1] या इन्द्रियाँ किया है। प्रथम तीन निरुक्तियों के आधार पर स्वा० द० ने ऋषि का अर्थ 'मन्त्रार्थ का दर्शन करने वाले अध्यापक' किया है। उनके द्वारा प्रदत्त इसके ही दूसरे अर्थ 'तर्क' का आधार भी नि० (१३।१२) है—पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। इसके अर्थ 'प्राण' के लिये दे० ऊपर। अन्य सभी विद्वानों ने इसका अर्थ 'ऋषि' ही किया है। पदपाठ में 'भिस्' विभक्ति को

१. दे० मेदिनीकोष—ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्।

अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखाया गया है। ह्रस्व स्वर तथा व्यञ्जन से परे आने वाली भकारादि विभक्ति को पदपाठ में अवग्रह द्वारा प्रातिपदिक से पृथक् करके दिखाया जाता है—वा० प्रा० ५।१३ ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्तिप्रत्यये (दे० वै० व्या० ६० ग, पृ. १६८)।

ईड्यः—यहाँ डकार के दो स्वरों के मध्य न होने के कारण उसे ळकार नहीं हुआ। इस पद से आरम्भ होने वाले द्वितीय पाद में एक अक्षर की कमी इसका ईळिअः उच्चारण करने से पूरी हो सकती है। (दे० वै० व्या० भा. २, ४२०, पृ. ८६७ और वै० री० में इस मन्त्र पर मै० की टिप्पणी), तु० यूनानी—ऐदोइओस्—सम्माननयोग्य।

नूतनैः—एक ही मन्त्र में अकारान्त प्रातिपदिक के साथ 'भिस्' विभक्ति के अतिरिक्त 'ऐस्' विभक्ति का एक उदाहरण। नव से नू[1] आदेश को तनन् प्रत्यय—नवस्य नू तनप्तनन्खाश्च (वार्तिक)। प्रत्यय का न् इत् होने से आद्युदात्त। नू आदेश से तु० अवे० नू, यू० नु, ला० नुम्, गौथिक—नु।

उत—निपात—नि० १।४—उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। निपात (निपाता आद्युदात्ताः—फिट्० ४।२२) आद्युदात्त होना चाहिये। परन्तु या तो प्रातः शब्द के समान ही यह भी अन्तोदात्त है और या फिर (एवादीनामन्तः—फिट्—४।१४) एव इत्यादि के समान यह अन्तोदात्त है।

देवान्—संहितापाठ में इसके आगे स्वर होने के कारण 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) से न् का रु, 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (पा० ८।३।१७) से रु का य् और 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८।३।१९) से य् का लोप होता है। फिर 'आतोऽटि नित्यम्' (पा०-८।३।३) से पदान्तीय न् का रु बनने पर अट् से पूर्व उपधा के आ का अनुनासिक बन जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार जिस पदान्तीय न् के उपधा का स्वर अनुनासिक बनता है वह मूलध्वनि न्स् का प्रतिनिधित्व करता है। (दे० वै० व्या०, पृ० १५७-६, टि० ५५) स्वा० द०—दिव्यानीन्द्रियाणि, विद्यादिदिव्यगुणान्, दिव्यान् ऋतून्, दिव्यान् भोगान् वा—तु० श० ब्रा० ७।२।२।२६—ऋतवो वै देवाः।

इह—सा० प्रभृति भारतीय और मै० प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ 'इस यज्ञ में' माना है। स्क० ने 'इस संसार में' (इह जगति) अर्थ भी

---

१. 'नू' पृथक् शब्द के रूप में भी ऋ० में आज या अब के अर्थ में आता है। दे० ऋ० १।९६।७ नू च पुरा सदन रयीणाम्...।

दिया है। स्वा० द०—अस्मिन् वर्तमाने संसारे जन्मनि वा। सात०—इस यज्ञ में अर्थात् संगतिकरण के कार्य में।

आ वक्षति—वेद में प्राय: उपसर्ग और धातु के मध्य व्यवधान आ जाता है, जैसे यहाँ इह शब्द आ गया (पा० १।४।८२—व्यवहिताश्च)। प्राय: सभी विद्वान् वक्षति को लेट् का रूप मानकर 'ले आवे, पहुँचा दे, उठा लाये' अर्थ करते हैं। केवल स्क० ने इसका लट् लकार जैसा अर्थ 'आवहति—लाता है' किया है। वें० के एक पाठ में आवहतु (दे० वि० वें० शो० सं० का संस्करण) और अन्यत्र आवहति मिलता है। अर० ने इसे वह्+स+ति में खण्डित करके स को या तो पौन:पुन्य का, या अभिलाषा का अर्थ देने वाला माना है। दूसरे अर्थ की तुलना अंग्रेज़ी में 'आई विल गो' में 'विल—इच्छा' से की है। संस्कृत के भविष्यत् रूप नेष्यति आदि में भी यही 'स' विद्यमान है। सा० ने भी इसे लोट् के अर्थ में लृट् मानते हुए उसके यकार का लोप छान्दस माना है। उसका दूसरा—लेट् सम्बन्धी मत विद्वत्सम्मत है—वह्+सिप् (स्) +अट् (अ) +ति। मै० के अनुसार यह अनिट्सिज्लुङ् (स् एओरिस्ट) का लेट् रूप है।

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त् पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे। य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥३॥

अ॒ग्निना॑। र॒यिम्। अ॒श्न॒व॒त्। पोष॑म्। ए॒व। दि॒वेऽदि॑वे। य॒शस॑म्। वी॒रव॑त्ऽतमम् ॥

अग्नि से धन को प्राप्त करे (सत्कर्मी), बढ़ता ही हो जो प्रतिदिन।
यश से युक्त अतिवीर प्रजा का दाता, (सब समृद्धि देता है धन)॥

व्यापक अर्थ में यज्ञ कर्म करने वाले व्यक्ति को प्रकाशक परमेश्वर बढ़ने वाला धन प्रदान करे। हम जानते हैं कि दान देने पर भी उत्तरोत्तर बढ़ने वाला ज्ञान का, विद्या का धन है। विद्या से यश की प्राप्ति होती ही है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वैदिक ऋषि बौद्धिक समृद्धि के साथ साथ भौतिक समृद्धि को नहीं भूला है—वीर प्रजा की कामना से यह स्पष्ट है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि वास्तविक ज्ञान वही है जो सन्तुलित जीवन बनाये—जिससे सभी समृद्धि प्राप्त हो। यदि स्थूल अर्थ में भी यहाँ धन को लिया जाए तो भी हम जानते हैं कि यश के लिये उसके दान देने की प्रेरणा यहाँ दी गई है। धन से सभी भौतिक सुख की सामग्री प्राप्त की जा सकती है—अपना और सन्तान का स्वास्थ्य पुष्ट रह सकता है। सा० दानादिना यशोयुक्तम्...सति हि धने पुरुषा: सम्पद्यन्ते)।

रयिम्—सम्भवतया √रा से निष्पन्न यह शब्द स्वयं दान का भाव लिये हुए है। वैदिक संस्कृति में धन का बड़ा उद्देश्य दान है। अधिकांश विद्वान् इसका अर्थ 'धन' ही देते हैं। वें० के अनुसार इसका अर्थ 'पशून् प्रजाश्च' है—यह वेद में धन की भावना के अनुरूप है। स्वा० द०—विद्यासुवर्णाद्युत्तमधनम्। वा० श० और सात० के अनुसार यह धन अन्नरूप धन है। अग्नि अन्नाद है और सोम अन्न। प्राणरूप अग्नि को अन्नरूप सोम चाहिये। इसीलिये वह मनुष्य को अन्नरूप धन देता है। इससे तु० सं० रै, ला० रेस्, ज० राइश्तुम्, अ० रईस।

अश्नवत्—'तिङ्ङतिङः' से सर्वानुदात्त। सभी संस्कृत भाष्यकार स्कन्दस्वामी से लेकर स्वामी दयानन्द तक—इसका वर्तमानकालिक अर्थ करते हैं—प्राप्नोति (प्राप्त करता है)। सा० ने इसकी व्याकरण-प्रक्रिया लेट् के समान दी है। स्वा० द०—लेट्प्रयोगः, व्यत्ययेन परस्मैपदम्। किन्तु जैसा कि पाश्चात्य और आधुनिक भारतीय विद्वान् मानते हैं, इसके लेट्-रूप के अनुसार ही इसका अर्थ भी 'प्राप्त करे' होना चाहिये। मै० ने इसमें अंश् धातु मानी है यद्यपि पाणिनीय संस्कृत व्याकरण में अश् धातु ही है। लेट् में 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' से तिप् के इ का लोप, 'लेटोऽडाटौ' से अडागम, इस प्रकार प्र० पु० एक० का रूप। तु० अवे० अस्नोइति, यू० एको (मैं रखता हूँ)।

पोषम्—सा० और स्वा० द० दोनों इसे रयिम् का विशेषण मानते हैं और 'एव' शब्द के बल के कारण यही उचित प्रतीत होता है। सा०—पुष्यमाणतया वर्धमानम्, न तु कदाचिदपि क्षीयमाणम्। स्वा० द०—आत्मशरीरयोः पुष्ट्या सुखप्रदम्। दूसरी ओर स्क०, वें० तथा पाश्चात्य विद्वान् इसे रयिम् से संयुक्त पृथक् संज्ञा मानते हैं और एव को च के अर्थ में लेते हैं। तदनुसार अर्थ हैं—पुष्टि, पोषण, समृद्धि, कल्याण (मै० प्रॉस्पैरिटी)।

एव—स्वर के लिये दे० द्वितीय मन्त्र में उत पर टि०। स्क०—एवशब्दोऽवधारणासम्भवाच्चार्थे।

दिवेऽदिवे—दिन प्रतिदिन—स्क० सर्वकालमित्यर्थः। दिव् शब्द से सप्तमी के स्थान पर सुपां सुलुक् इत्यादि (७।१।३९) सूत्र से शे (ए) हो जाने पर, 'सावेकाचः इत्यादि' (पा० ६।१।१६८) या 'ऊडिदम्पदादि इत्यादि' (पा० ६। १।१७१) से सर्वनामस्थानभिन्न (सप्तमी) विभक्ति अर्थात् ए उदात्त है। 'नित्यवीप्सयोः' (पा० ८।१।४) से द्वित्व होने पर 'अनुदात्तं च' (८।१।३) सूत्र से उत्तरपद सर्वानुदात्त हुआ है। मै० ने इसे द्विरुक्तसमास (इटरेटिव) की संज्ञा दी है। इसकी विशेषता यह है कि पूर्वपद विभक्ति सहित उदात्त रहता है (दे० वै० ग्रा० स्टू० १८९ सी)।

यशसम्—यशसे युक्त, परन्तु स्क० और वें० इसे यशः का ही पर्याय मानकर केवल **कीर्ति** अर्थ करते हैं। (वें०—यशसशब्दो यशःशब्दपर्यायो मध्योदात्तः) स्वा० द०—सर्वोत्तमकीर्तिवर्धकम्। सा०—यशोऽस्यास्ति इति 'अर्शआदिभ्योऽच्' (५।२।१२७) सूत्र से अच् प्रत्यय। प्रत्यय का च् इत् होने से अन्तोदात्त होना चाहिये था, किन्तु व्यत्यय से मध्योदात्त है।

वीरवत्ऽतमम्—स्क० के अनुसार वीर का अर्थ पुत्र है (बहुभिः पुत्रैः सहितम्)। वें०—वीरपुरुषयुक्तम्। सा० ने दोनों का समन्वित अर्थ दिया है—अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम्। स्वा० द०—विद्वांसः शूराश्च विद्यन्ते यस्मिन् तदतिशयितम्। सात०, अर०—श्रेष्ठ वीरता को देने वाला। पाश्चात्य विद्वान् वीर का अर्थ शूरवीर या शूरवीर सन्तान करते हैं (मै० मोस्ट अबाउंडिंग इन हीरोज़, ओ० ब० हाई ब्लिस ऑफ़ वेलिएंट ऑफ़स्प्रिंग)। अन्तिम तमप् प्रत्यय को पदपाठ में अवग्रह से पृथक् किया गया है (दे० वा० प्रा० ५।७—बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा)। मतुप् और तमप् प्रत्यय पित् होने के कारण अनुदात्त होते हैं। अर०—अज्ञानादि के आक्रमण का प्रतिरोध करने वाली बौद्धिक और नैतिक शक्ति। दे० नि० १।७—वीर की निरुक्ति-वीरयत्यमित्रान् (शत्रुओं को तितर बितर कर देता है —वि + √ईर्), वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः (गति अर्थ वाली वी धातु से—शत्रुओं की ओर प्रयाण करता है), वीरयतेर्वा (वीर् धातु से—यह पराक्रमवान् होता है)। धातुपाठ में वी धातु का एक अर्थ प्रजन भी दिया है। तदनुसार प्रजननयोग्य होना भी वीर का आवश्यक गुण है। वह क्लीब न हो। इस मन्त्र में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार मान सकते हैं क्योंकि विशेष उद्देश्य प्रस्तुत (अश्नवानि—मैं प्राप्त करूँ) होने पर, बात सामान्य (अश्नवत् —वह प्राप्त करे) की कही गई है।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति ॥४॥

अग्ने। यम्। यज्ञम्। अध्वरम्। विश्वतः। परिऽभूः। असि। सः। इत्। देवेषु। गच्छति ॥

अग्ने जिस यज्ञ को हिंसा से शून्य, चतुर्दिक् व्याप्त करते तुम।
वही दिव्य जनों तक जाता पहुँच, (उसकी रक्षा करते तुम) ॥

प्रकाशरूप परमेश्वर या भौतिक अग्नि या प्राण का जो हिंसारहित बहुजनहिताय बहुजनसुखाय यज्ञ निरन्तर सर्वत्र चलता रहता है, उसी यज्ञ के, दान के नियम से अन्य सभी दैवी शक्तियां, या भौतिक पदार्थ या इन्द्रियां प्रेरित

होती हैं। उन सबके यज्ञ के सुचारु रूप से चलने के लिये अग्नि सब ओर से उसकी रक्षा करता है क्योंकि वह सबका अधिष्ठाता है।

अग्ने'—'आमन्त्रितस्य च' (पा० ६।१।१९८) से पाद के आदि में आने पर यह सम्बोधन पद आद्युदात्त है। अन्यथा पाद के मध्य रहने पर आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से यह सर्वानुदात्त होता।

अध्वरम्—स्कन्द से लेकर स्वामी दयानन्द तक सभी भारतीय विद्वान् इसे यज्ञम् का विशेषण मानते हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसे यज्ञ (पूजा) से भिन्न दूसरा पद बलिकर्म (सेक्रिफ़िशल एक्ट) कहते हैं। सभी उपर्युक्त भारतीय विद्वानों ने इसका अर्थ 'हिंसारहित' तो किया है, परन्तु उनके भाव में अन्तर है। स्क० के अनुसार यज्ञ में जिन पशुओं आदि की हिंसा होती भी है वह परमार्थ हिंसा नहीं क्योंकि उससे उनपर अनुग्रह ही होता है (येऽपि हि तत्र पश्वादयो हिंस्यन्ते तेषामप्यनुग्रहमेव शिष्टाः स्मरन्ति)। या फिर उसी के मतानुसार जिस यज्ञ की राक्षसों द्वारा हिंसा या क्षति नहीं होती उससे अभिप्राय है। वें० और सा० ने इस दूसरे भाव को ग्रहण किया है (दे० सा०—न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति)। स्वा० द०—हिंसाधर्मादिदोषरहितम् (जिस यज्ञ में हिंसा, अधर्म आदि का दोष नहीं है)। वस्तुतः शुद्ध संहिता की भावना को देखा जाये तो यज्ञ में पशुहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। समस्तपद होने पर भी प० पा० में इसके पदों को अवग्रह द्वारा पृथक् करके नहीं दिखाया गया क्योंकि यह नञ् समास है (वा० प्रा० ५।२४—प्रतिषेधे नावग्रहः)। नञ् पूर्वक बहुव्रीहि पद होने के कारण 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) से यह अन्तोदात्त है। इस पद की एक अन्य निरुक्ति अध्वानंराति (मार्ग प्रदान करने वाला) के अनुसार यह उपपद समास है और तदनुसार भी 'गतिकारकोपपदात्' (पा० ६।२।१३९) से यहाँ अन्तोदात्त ही होगा। तु० नि० १।८—ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः। अर० ने भी इस शब्द के मूल में अध्वन् (मार्ग) की भावना को मानते हुए अध्वर को 'यात्रारूप यज्ञ' की संज्ञा दी है—देवों के प्रति आत्मा की यात्रा।

विश्वतः—सभी दिशाओं में, सभी ओर से। वें० और सा० की कर्मकाण्डपरकव्याख्या में इस शब्द से चारों दिशाओं में स्थापित आहवनीय, मार्जालीय, गार्हपत्य और आग्नीध्रीय अग्नियों का अभिप्राय लिया गया है। 'लिति' (पा० ६।१।१९३) सूत्र से तसिल् प्रत्यय का ल् इत् होने के कारण पूर्ववर्ण व उदात्त है। मै० के अनुसार क्रियाविशेषण प्रत्ययों से पूर्व विश्व शब्द का उदात्त दूसरे अक्षर पर स्थानान्तरित हो जाता है। (दे० वै० ग्रा० स्टू०, पृ० ४५४, १०)।

परिऽभूः—चारों ओर से व्याप्त किये हुए। सा० के अनुसार परि शब्द से अग्नि की होत्रिय (होतृ सम्बन्धी) आदि धिष्ण्यों (स्थानों) में व्याप्ति का संकेत होता है। नि० १।३—परीति सर्वतोभावं प्राह। यहां पूर्वपद में अव्यय होने से उस पर उदात्त होना चाहिये था, किन्तु उत्तरपद कृदन्त होने के कारण अन्तोदात्त है (दे० ऊपर अध्वरम्)। परि से तु० अवे० पैरि, यू० पेरि, ला० पेर्; भूः से तु० अवे० बू, यू० फुओ, ला० फुइ, अं० बी।

असि—तिङन्त पद होने से सर्वानुदात्त होना चाहिये, परन्तु वाक्य में यत् शब्द का रूप यम् होने के कारण उदात्तत्व है (दे० पा० ८।१।६६—यद्वृत्तान्नित्यम्)। यहां स्वा० द० के भाष्य की एक विशेषता की ओर संकेत करना अप्रासंगिक न होगा। जहाँ भी वेद में भौतिक निर्जीव पदार्थ (जैसे यहां भौतिक अग्नि) का वर्णन है वहां सम्बोधन के स्थान पर वे प्रथमा विभक्ति और क्रियापदों के सभी पुरुषों के स्थान पर प्रथम पुरुष मानते हैं। तदनुसार यहाँ अर्थ होगा—अग्निः...अस्ति।

इत्— एव। मै० (वैं० ग्रा० स्टू०, पृ० २१८)—यह इतर, इतः इत्यादि में विद्यमान सर्वनाम अङ्ग इ का नपुं० रूप है, जिस प्रकार कच्चित् का कत् सर्वनाम अङ्ग क का नपुं० रूप है। लौकिक संस्कृत में चेत् (च+इत्) में इसका अवशेष है।

देवेषु—देवों में अर्थात् देवों के प्रति या देवों में प्रेरणा के लिये। स्क० देवेषु गच्छति—देवास्तमेव परिगृह्णन्ति नान्यमित्यर्थः। सा० देवेषु तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गे गच्छति। सात०—देवों के समीप जाता है—देवों के अनुकूल होता है। मै०—देवों के प्रति (टू दी गॉड्स्)—प्राप्त लक्ष्य का अधिकरण।

गच्छति—मै० के अनुसार मूलरूप में यह शब्द चकाररहित गछति है (दे० प० पा०)। परन्तु संहितापाठ में स्थिति के कारण चकारसहित है। जिस ह्रस्व स्वर से परे छ या ळह आये, वह गुरु अक्षर माना जाता है—दे० वै० व्या०, ४१८ (३), ऋ० प्रा० ६।३—असंयोगादिरपि च्छकारः।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत् ॥५॥

अग्निः। होता। कविऽक्रतुः। सत्यः। चित्रश्रवःऽतमः। देवः। देवेभिः। आ। गमत् ॥

अग्नि होता, क्रान्तदर्शनकृत्य सच्चा, विविध कीर्ति वालों में श्रेष्ठ।
वह देव देवों के साथ यहाँ पर आवे, (वही यज्ञ यजमान ज्येष्ठ) ॥

कविऽक्रतुः—अग्नि के सभी क्रतु अर्थात् कृत्य क्रान्तदर्शन हैं अर्थात् दूरदर्शिता से युक्त हैं। साधारण मनुष्य उन कृत्यों को सीमित दृष्टि और विचार-शक्ति के कारण समझ नहीं पाता। कवि—क्रान्तदर्शन, क्रतु—कर्म। नि० १२।१३ —कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा, (तु० स्वा० द०—यः सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रं कवते उपदिशति स कविरीश्वरः)। स्क०, वें०, सा०—सर्वत्र पहुँची हुई प्रज्ञा या कर्म वाला। ये विद्वान् कवि का अर्थ केवल क्रान्त लेते हैं, क्रान्तदर्शी नहीं (तु० स्क० कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनः, न मेधाविनाम। क्रतु शब्दः प्रज्ञानाम कर्मनाम वा। क्रान्तं गतं सर्वत्राप्रतिहतं प्रज्ञानं कर्म वा यस्य सः)। स्वा० द०—कविः क्रान्तदर्शनश्चासौ क्रतुः कर्ता च। परन्तु स्वर (पूर्वपद उदात्त) के आधार पर यह बहुव्रीहि समास होगा अतः स्वा० द० की व्याख्या उसके अनुकूल नहीं। क्रतु का अर्थ प्रज्ञा और कवि का मेधावी मानते हुए मै० ने मेधावी प्रज्ञा वाला (ऑफ़ वाइज़ इंटेलिजेंस) और ग्रो० ब० ने विचारशील (थॉटफ़ुल) अर्थ किया है। अवे० ख्रतु (मनः शक्ति), और यू० क्रतोस् (शक्ति) से तुलना करने पर भी क्रतु का भाव कर्म के निकट ही है। अर० की व्याख्या अधिक ग्राह्य प्रतीत होती है—संकल्पशक्ति या उससे उत्पन्न कर्म के प्रति जिसका संकल्प द्रष्टा जैसा है। सात० की व्याख्या भी इसके समान है—कर्म अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाला।

सत्यः—सच्चा, जिसका स्वरूप वास्तविक है, सभी पदार्थों का तत्त्व। स्क०, वें० और सा०—सत्यकर्म करने वाला अर्थात् यज्ञ का अभिलषित फल अवश्य ही देने वाला। स्वा० द०—सज्जनों के लिये हितकर (सद्भ्यो हितः तत्र साधुर्वा)। तु० नि० ३।१३—सत्यं कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा। अर० सत्य का अपरोक्ष दर्शन, इसके शब्द का अपरोक्ष श्रवण, और जो ठीक हो उसकी अपरोक्ष विवेचन द्वारा पहचान—इस चेतना से युक्त।

चित्रश्रवस्तमः—विचित्र अर्थात् विविध प्रकार की कीर्ति से युक्त जनों में श्रेष्ठ। ईश्वर के अद्भुत तथा आश्चर्यजनक कार्यों के कारण उसकी कीर्ति संसार में सबसे अधिक व्याप्त है। दे० सा०—अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः। परन्तु स्क० के अनुसार √चाय् (पूजानिशामनयोः) से व्युत्पन्न होने पर चित्र का अर्थ 'पूजनीय' हो सकता है और श्रव का अर्थ 'अन्न या धन' भी हो सकता है। तदनुसार अर्थ होगा—अत्यधिक पूज्य या 'विचित्र अन्न, धन या कीर्ति वाला। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये अर्थों (मोस्ट स्प्लेंडिडली रिनाउन्ड, ऑफ़ मोस्ट ब्रिलिएंट फ़ेम) का अभिप्राय भी 'विचित्र कीर्ति वालों में श्रेष्ठ' है। स्वा० द० का अर्थ भी ऐसा ही है। इस अर्थ में चित्र का निर्वचन √चित् (देखना) से होगा—वह श्रवणयोग्य कीर्ति में जो दर्शनीय है, ध्यान

आकृष्ट करती है। अर० के अनुसार श्रवः का अर्थ है, 'ईश्वरीय ज्ञान या वह ज्ञान जो अन्तःप्रेरणा से आता है—चित्र....नानाविध अन्तःप्रेरणा का जो महाधनी है। सात० का अर्थ (विविधरूपों वाला और अतिशय कीर्तियुक्त) समास के स्वर (पूर्वपद उदात्त—बहुव्रीहि, दे० बहुव्रीही प्रकृत्या पूर्वपदम्) के अनुकूल नहीं है। चित्र से तु० अवे० चिथ्र, श्रवस् से तु० अवे० स्रवह् (शब्द), यू० क्लेवोस् (कीर्ति)।

देवेभिः—सा० की कर्मकाण्डीय व्याख्या—हविर्भोजैः सह। यहाँ तृतीया सह के अर्थ में है, सह के योग में नहीं। स्वा० द०—विद्वद्भिः दिव्यगुणैः सह वा। अर०-दिव्य शक्तियों के साथ। 'इन्द्रियों के साथ वह प्रधान इन्द्रिय (प्राण) आये' अर्थात् इस शरीर में स्वस्थ इन्द्रियों के साथ प्राण का वास हो। वह परमेश्वर सभी दिव्य शक्तियों को यहाँ प्राणिहित कार्य करने की प्रेरणा दे। यहाँ भी अकारान्त पद के तृ० बहु० में ऐस् के अतिरिक्त प्रयुक्त होने वाली भिस् विभक्ति है (दे० मन्त्र २, पूर्वेभिः)।

आ गमत्—आये। सा० इसे √गम् से लोट् प्र० पु० एक० का रूप मानता है। इसमें दो व्यत्यय मानने पड़े हैं—एक तो छत्व का अभाव और दूसरे तु प्रत्यय के उकार का लोप (लोडन्तस्य गच्छत्विति शब्दस्य छत्वाभावः। उकारलोपश्छान्दसः)। स्वा० द० द्वारा दिया गया लुङ्प्रयोग और अडभाव-विषयक मत अधिक व्याकरणसम्मत है। मै० द्वारा इसे विकरणालुग्लुङ् (रूट एओरिस्ट) का लेट् रूप माना गया है।

यदुङ्ग दाशुषे त्वम् अग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥६॥

यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि। तव। इत्। तत्। सत्यम्। अङ्गिरः ॥

जो क्षिप्र दाता के लिये तुम अग्ने ! कल्याणकार्य करोगे।
तुम्हारा ही वह सत्य अङ्गिरा ! होगा। (उससे तुम प्रशस्त होगे) ॥

ईश्वर का सत्य स्वरूप यही है कि वह अन्य बन्धुओं और मानवता के प्रति उपकार करने वालों का कल्याण करता है। जो यजमान यज्ञ में आहुतियाँ प्रदान करता है, उसके प्रति अग्नि कल्याणकर होता है।

अङ्ग—अभिमुखीकरणार्थो निपातः। यदि यह शब्द आद्युदात्त हो तो इसका अर्थ 'अवयव' होता है। यहाँ सा० के अनुसार अभ्यादिगण में आने के कारण यह अन्तोदात्त है। परन्तु अभि स्वयं 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' फिट्-सूत्र से अन्तोदात्त है। अतः सम्भवतया यहाँ भी 'एवादीनामन्तः' से अन्तोदात्त

होगा क्योंकि अन्यत्र सा० ने कहा है—अङ्गेति निपात एवार्थे। स्क० और वें० का अर्थ या० द्वारा पुष्ट है—**अङ्गेति क्षिप्रनामाञ्चितमेवाङ्कितं भवति** (नि० ५।१७) अर्थात् अङ्ग क्षिप्र है क्योंकि जो क्षिप्र होता है, वह भावी क्रियाओं में भी लक्षित होता है (√अञ्च् या √अङ्क्)।

दाशुषे—स्क०, वें०, सा०, अर०—यजमान के लिये (जो आहुति देता है—हविर्दत्तवते), ओ०, मै०—उपासक के लिये (टु दि वरशिप्पर)। वा द० —सब कुछ दान करने वाले के लिये (सर्वस्वं दत्तवते)। सात०—दानशील का। √दाश् (दाश्टृ दाने)+वस् (क्वसु)—दाश्वस् (मै० दाश्वांस्) से चतुर्थी एक०। यह शब्द द्वित्वरहित लिडङ्ग से वस् प्रत्यय लगकर बना है (दे० वै० व्या० ३३२ख, पृ. ७६०, तु० पा० ६।१।१२—दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च)।

त्वम्—इस पाद के छन्द में एक अक्षर की न्यूनता को पूर्ण करने के लिए **तुअम्** उच्चारण करना चाहिये (दे० वै० व्या० ४२०,३,पृ. ८९९)।

अग्ने—प्रत्येक पाद को नया वाक्य मानकर उसके आरम्भ में आने वाले सम्बोधन तथा तिङन्त पद को उदात्त किया जाता है (दे० वै० ग्रा० स्टू०, पृ० ४६५, १८ए; १९बी, तु० पा० ८।१।१८—अनुदात्तं सर्वमपादादौ तथा ६।१।१९८—आमन्त्रितस्य च)।

करिष्यसि—निपातैर्यद्यदिहन्त इत्यादि (पा० ८।१।३०) सूत्र से वाक्य में यद् निपात होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है।

अङ्गिरः—हे अङ्गिरा! या० ३।१७—अङ्गिरा अङ्गाराः (अंगारे ही अंगिरा हैं)। ऐ० ब्रा० १३।१० में भी—येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् (जो अंगारे थे, वे ही अंगिरा हो गये)। अतः अग्नि का ही रूप होने के कारण अङ्गिरा को भी अग्नि मानते हैं। स्क० ने 'अंगारों' से भिन्न व्युत्पत्ति देकर भी इसे 'शरीर की स्थिति के लिये खाद्य पेय आदि रस का उत्पत्तिकर्ता अग्नि सिद्ध किया है (**अङ्गानि** शरीरावयवानि तद्वदङ्गि शरीरं, तस्य स्थितिहेतुः अशितपीतरसोऽङ्गिरसः, तं करोति, अङ्गिरसयति)। ऋ० १०।६२।५ में स्वयं अङ्गिराओं की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है—**ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे**। स्वा० द० ने भी अङ्गिरा को रसरूप मानते हुए उसे सकल ब्रह्माण्ड तथा मानव शरीर के अङ्गों का प्राण बताया है (पृथिव्यादीनां ब्रह्माण्डस्याङ्गानां प्राणरूपेण शरीरावयवानां चान्तर्यामिरूपेण रसरूपोऽङ्गिराः)। 'प्राण' अर्थ की पुष्टि में उन्होंने श० ब्रा० ६।३।७।३ का वचन **प्राणो वा अङ्गिराः** उद्धृत किया है। वा० श० ने भी अङ्गिराः का यही अभिप्राय लिया है।[1] सात० के अनुसार अङ्गिराः शरीर के प्रत्येक अंग में अग्निरूप में रहता

१. दे. वेदविद्या, पृ. ४९.

है, इसलिये शरीर में गर्मी रहती है। अग्नि के साथ अङ्गिरा का सारूप्य मानते हुए अर० ने इसे 'एकरूप होकर कार्य करते हुए प्रकाश और शक्ति के गुणयुग्म के साथ दिव्य चैतन्य की उज्ज्वल शक्ति' कहा है। मै० ने अङ्गिरा को अग्नि का प्ररोचक बताया है। तदनुसार 'सम्भवतः वे स्वर्ग की दूत—अग्निज्वालाओं के मानवीकरण रहे हों—तु० दूतवाचक यूनानी शब्द अङ्गेलोस।' किन्तु वेबर के मत में अङ्गिरा मूलतः भारत-ईरानी काल के पुरोहित थे। तु० अंग्रेजी—एंजल। परन्तु वेद में अङ्गिरा का यम, इन्द्र, अग्नि प्रभृति देवताओं के साथ तादात्म्य होने के कारण इन यूरोपीय शब्दों से ध्वनिसाम्य होते हुए भी एकदम उनसे इसका सम्बन्ध जोड़ना सर्वथा उचित नहीं।

तवेत्तत्सुत्यम्—इस वाक्यांश के अन्वय के विषय में विद्वानों में कुछ मत-भेद है। स्क. और सा. ने सत्यम् को क्रि. वि. मानकर जो व्याख्या की है उसका भाव इस प्रकार है—हे अग्नि, यह बात सत्य है कि वह अर्थात् आपके द्वारा सम्पादित कल्याण आपका ही है अर्थात् आपके सुख का कारण है क्योंकि उसी समृद्धि से यजमान पुनः यज्ञ करेगा और आपको आहुति प्रदान करेगा। तु० स्क० तवैव तद्, यज्ञान्तरे हविः कृत्वा तुभ्यमेव प्रदास्यत इत्यर्थः; सा० यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति। वें० के अनुसार इसका भाव है—वह (कल्याणकार्य) आपका ही सत्य है, क्योंकि अन्य व्यक्ति तो किये हुए को भूल भी जाता है, आप नहीं भूलते (तवैव तत् सत्यमङ्गिरस्त्वमेकः, अन्यस्तु कृतं विस्मरत्यपि)। ग्रो० ब० ने इसका ही अनुसरण किया है—दैट (वर्क) वेरिली इज़ दाइन। मै० ने सत्यम् को विधेय माना है—आपका वह संकल्प सत्य होता है—दैट (पर्पज़, इन्टेन्शन) ऑफ़ दी (कम्ज़) ट्रू। स्वा० द० प्रभृति विद्वानों के अनुसार इसका भाव है कि 'वही आपका सत्य स्वभाव है या वही आपका वास्तविक स्वभाव है—आपकी वास्तविकता इसी में है कि आप दानी व्यक्ति का कल्याण करते हैं।'

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्। नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥७॥

उप॑। त्वा॒। अ॒ग्ने॒। दि॒वेऽदि॑वे। दोषा॑ऽवस्तः। धि॒या। व॒यम्। नमः॑। भर॑न्तः। आ। इ॒म॒सि॒॥

पास तुम्हारे अग्ने दिन प्रतिदिन, तिमिर में दीप! बुद्धि से हम।
नमस्कार करते हुए आते हैं, (नमन तुम्हें जितना हो, कम)॥

उस कल्याणकारी एकमात्र परमेश्वर की शरण में हम बुद्धि—विवेक-पूर्वक (यह जानकर कि वही एकमात्र कल्याणकारी सत्ता है) विनम्र भाव से

आते हैं क्योंकि हमें ज्ञात है कि वही अन्धकार का एकमात्र दीपक है, वही अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाने वाला है। 'दिन प्रतिदिन' सम्भवतया प्रतिक्षण का उपलक्षण है—हम प्रतिक्षण मन में ईश्वर का ध्यान करते हैं जिससे कि उसकी सत्ता अनुभव हो और अनुचित कार्य न करें।

त्वा—त्वामौ द्वितीयायाः (पा० ८।१।२३) से युष्मत् शब्द के द्वितीया एक वचन के रूप त्वाम् का यह वैकल्पिक रूप अनुदात्त होगा।

अग्ने—पाद के मध्य रहने पर यह सम्बोधन पद सर्वानुदात्त है—दे० पा० ८।१।१९।

दोषाऽवस्तः—सा०, वें०, स्वा० द० इत्यादि विद्वानों ने इस शब्द का अर्थ 'रात्रि और दिन' या 'सायं-प्रातः' किया है। सा० ने इसे द्वन्द्वसमास मानकर कार्तकौजपादयश्च (पा० ६।२।३७) सूत्र से इसका स्वर सिद्ध किया है। परन्तु एक तो यह शब्द उक्त गण में नहीं, और दूसरे सूत्र के अनुसार पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होता है। दोषा का प्रकृतिस्वर अन्तोदात्त है। इसके अतिरिक्त पदपाठ के नियम के अनुसार यदि द्वन्द्व समास के व्यञ्जनादि उत्तरपद से पूर्व पूर्वपद का अन्तिम स्वर दीर्घ हो तो पदपाठ में उसे अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया जाता (दे० अ० प्रा० ४।५०—यस्य चोत्तरपदे दीर्घो व्यञ्जनादौ)। परन्तु यहाँ अवग्रह है, अतः यह द्वन्द्व समास नहीं होना चाहिये। साथ ही यहाँ वस्तः का अर्थ दिन लिया गया है, परन्तु निघण्टु में वस्तोः का यह अर्थ दिया गया है। इन अनेक असङ्गतियों को देखते हुए स्क० और उसका अनुसरण करने वाले पाश्चात्य विद्वानों का 'हे रात्रि अथवा अन्धकार में प्रकाशित होने वाले!' (रात्रौ स्वेन ज्योतिषा तमसामाच्छादयितः) अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है। स्वयं सा० ने अन्यत्र (ऋ० ७।१५।१५ में) इसे सम्बोधन माना है। उस स्थल पर दिवानक्तम् शब्द की उपस्थिति से भी उपर्युक्त अर्थ की ही पुष्टि होती है। प्राचीन साहित्य भी इसी अर्थ का पोषक है। उदाहरणार्थ शाङ्खायन गृह्यसूत्र (५।४।४५) में एक साथ 'सायं दोषावस्तर्नमः स्वाहा, प्रातः प्रातर्वस्तर्नमः स्वाहा' शब्द आते हैं। यदि यह द्वन्द्व समास होता और वस्तः का अर्थ दिन होता तो प्रातर्वस्तः शब्द में वह निरर्थक हो जाता। मैं० का इस विषय में यह कहना कि यह केवल यहीं उपलब्ध है (व्हिच ऑकर्ज हिअर ओन्ली) तथ्य के विपरीत है। सा० की आलोचना करते हुए वह कहता है कि वस्तः कहीं भी क्रि० वि० के रूप में नहीं आता और द्वन्द्व समासों में स्वर-परिवर्तन नहीं होता, परन्तु यहां दोषा का उदात्त स्थानान्तरित हो गया है। यहाँ वस्तः (सम्बोधन) की तुलना ऋ० ३।४९।४ में प्राप्त वस्तु शब्द के प्रथमान्त रूप से की जा सकती है—क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य।

क्या यहां स्वर की व्याख्या 'आद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्' (वार्तिक, पा० ६।२।९१) से नहीं हो सकती ? कहीं ऐसा तो नहीं कि रात्रिवाची निपात दोषा अन्तोदात्त हो, और प्रस्तुत शब्द में दोषा √दुष् + घञ् से बना हो क्योंकि प्रत्यय का ञ् इत् होने से आद्युदात्त का विधान है (पा० ६।१।१९७—ञ्नित्यादिर्नित्यम्)। इस प्रकार निष्पन्न दोष शब्द समासाश्रयविधि से 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा०६।३।१३७) सूत्र से अन्त में दीर्घत्व को प्राप्त होता है। तब अर्थ होगा—हे दोषों को आच्छादित करने वाले, अर्थात् हे गुणों के प्रकाशक !

धि॒या—स्क०—प्रज्ञया, सा०—बुद्ध्या, वें०—अग्निहोत्रकर्मणा। स्वा० द० ने दोनों अर्थ दिये हैं—बुद्ध्या कर्मणा वा। ओ० ब०—प्रार्थना (प्रेयर); यद्यपि मै० ने 'विचार' अर्थ किया है, तथापि टि० में वह इसका भाव मानसिक प्रार्थना (थॉट् यूज़्ड इन द सेन्स ऑफ़ मेंटल प्रेयर) बताता है। अर० ने भी विचार अर्थ किया है। सात० ने बुद्धि और स्तुति, दोनों अर्थ माने हैं। निघण्टु में धीः को कर्म और प्रज्ञा दोनों के अर्थ में रखा गया है। सम्भवतया इसका निर्वचन √धा (धारण करना) से होगा—बुद्धि जिसमें तत्त्व धारण किये जाते हैं (धीयन्ते तत्त्वानि यत्र) या कर्म, जिसके द्वारा मनुष्य धारण किया जाता है (धीयते येन मनुष्यः)।

नमः॑—स्क०—स्तुतिम्, सा०—नमस्कारम्, स्वा० द०—उपासनाम्, नम्रीभावम्, अर०—आन्तरिक नमस्कार, ओ० ब०—ॲडोरेशन, मै०—होमेज (श्रद्धा, पूजा)। इससे तु० अवे० नॅमः।

भर॑न्तः—स्क०—हरन्तः, प्रापयन्तः, स्तुतिं कुर्वन्त इत्यर्थः (स्तुति पहुँचाते हुए या करते हुए), सा०—सम्पादयन्तः। ओ० ब० और मै०—लाते हुए। यहां पा० ३।१।८४ पर वार्तिक (हृग्रहोर्भश्छन्दसि) के अनुसार √हृ का ही वेद में √भृ रूप प्राप्त होता है। भाषाविज्ञान से भी इसकी पुष्टि होती है। प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी संस्कृत के महाप्राण का हकार मिलता है, यथा दधि का दही इत्यादि। परन्तु यहां भकार हकार में परिवर्तित होने वाला न होकर नितान्त भिन्न भी हो सकता है। सम्भवतया यह जुहोत्यादिगणीय √भृ का श्लुरहित और तदनुसार द्वित्वरहित वैदिक रूप है। स्वा० द० ने इसी आधार पर धारयन्तः (धारण करते हुए) अर्थ किया है। तु० अवे० बरन्तो, यू० फेरोन्तेस, अं० बेअरिंग। यहां शप् के पित् होने से तथा तास्यनुदात्तेत् इत्यादि (पा० ६।१।१८६) सूत्र द्वारा सार्वधातुक शतृ के अनुदात्त होने के कारण केवल धातुस्वर शेष है। अतः भकार उदात्त है।

आ इमसि—संहितापाठ में एकार का उदात्तत्व आ उपसर्ग की सन्धि के कारण है—दे० वै० व्या० ३९६ (१), पृ० ८६०। वैदिक में उत्तम पु० बहु० की विभक्ति **मस्** 'इदन्तो मसि' (पा० ७।१।४६) सूत्र के अनुसार इकारान्त है।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे ॥८॥

राजन्तम्। अध्वराणाम्। गोपाम्। ऋतस्य। दीदिविम्। वर्धमानम्। स्वे। दमे॥

(पास तुम्हारे, तुम) शासक अध्वरों के, रक्षक ऋत के दीप्तियुक्त।
वृद्धि को प्राप्त हो रहे अपने घर में, (नहीं कभी तुम रहे सुप्त)॥

इस मन्त्र में क्रिया (एमसि) का अध्याहार पिछले मन्त्र से किया जाना चाहिये। ईश्वर हिंसारहित यज्ञों का स्वामी है, उसी के आदेश और नियन्त्रण में संसार के सब परोपकार-हित कर्म चलते हैं। अग्नि भी कर्मकाण्ड का मूलाधार होने के कारण यज्ञ का स्वामी है। वह सदा चलने वाले शाश्वत नियम, यज्ञ सम्बन्धी नियम का रक्षक है, इसी कारण वह दीप्तियुक्त अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित है। शाश्वत नियम ही मानो उसका घर है, और उनमें रहता हुआ ही वह जन जन के हृदय में प्रथित होता है—यही मानो उसकी वृद्धि है। अग्नि भी ऋत अर्थात् यज्ञ का रक्षक है तथा दीप्तियुक्त है। यज्ञ ही उसका घर है और वह वहाँ आहुतियों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। इस मन्त्र के प्रथम दो पादों का अन्वय **राजन्तम्** को पृथक् रख कर भी किया जा सकता है। तदनुसार भाव होगा कि वह सारे संसार का शासक है या दीप्तियुक्त है। वह यज्ञों का रक्षक है तथा ऋत का प्रकाशक है। सा० और स्वा० द० को यही अन्वय मान्य है।

राजन्तम्—सा० और स्वा० द०—दीप्यमान, प्रकाशमान। अन्य सभी भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ **शासक** किया है। अर० दोनों अर्थ देते हैं। वस्तुतः √राज् का मूल अर्थ चमकना, प्रकाशित होना, शोभित होना है। इसी का विकास होकर इसका अर्थ शासक या राजा हुआ—जो अपने वैभव के कारण सबसे अधिक शोभायुक्त होता है। स्वर के लिये दे० पूर्वमन्त्र में **भरन्तः**।

अध्वराणाम्—इस पाद में छन्द के अक्षरों में एक की कमी पूरी करने के लिये इस शब्द का उच्चारण **अध्वराणअम्** किया जाना चाहिये—दे० वै० व्या० ४२० (४), पृ० ८९९। यदि इस पद का अन्वय राजन्तम् के साथ किया जाये तो उसका अर्थ **शासक** देना अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि प्रायः

शासन करना अर्थ वाली धातुओं के योग में षष्ठी का प्रयोग होता है। इस प्रयोग की तुलना अवेस्ता, यूनानी, लातीनी आदि भाषाओं से भी की जा सकती है। स्वयं ऋ० १।२५।२० में **त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि** जैसे प्रयोग हैं।

गोपाम्—रक्षक, गौ का अर्थ इन्द्रिय करें तो अर्थ होगा इन्द्रियों का रक्षक-प्राणरूप अग्नि इन्द्रियों का, सारे शरीर का रक्षक है। इसे स्वतन्त्र रखकर **ऋतस्य** का सम्बन्ध **दीदिविम्**—के साथ किया जा सकता है। स्वा० द०—पृथिव्यादिकों की रक्षा करने वाला (गाः पृथिव्यादीन् पाति रक्षति तम्)। इस का अर्थ गौओं का (और सामान्यतया पशुओं का) रक्षक भी हो सकता है। स्पष्ट रूप से समस्तपद होते हुए भी पदपाठ में अवग्रह द्वारा इसके अगों को पृथक् करके नहीं दिखाया गया। इसका कारण सम्भवतया यह है कि उस काल में भी इस शब्द की स्वतन्त्र सत्ता बन चुकी थी। आगे चलकर नामधातु **गोपाय** का प्रयोग हुआ और सम्भवतया उसी आधार पर √गुप् बना। यह ध्यान देने योग्य है कि √गुप् के रूप गोपायति आदि बनते हैं। ऋ० में भी **जुगुप्** का प्रयोग एक बार और **गुपित** का दो बार हुआ है। कुछ विद्वानों द्वारा गौ शब्द का मूल सुमेर शब्द गुद् (गु) बताया जाना हास्यास्पद है। स्वयं संस्कृत में समासों में गौ का गु रूप मिलता है। क्या वास्तविक स्थिति उनकी कल्पना के विपरीत नहीं हो सकती ? यह एक धातुज आकारान्त पद है। "धातुज आकारान्त प्रातिपदिकों को अकारान्त बनाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई है।" दे० वै० व्या० १३६ (ख)। गौ से तु० अवे० **गाउस्**, यू० बौस्, ला० बोस्, ज० कूह्, अं० काउ। पाति से तु० अवे० पाइति, यू० पाउ (समूह)।

ऋतस्य—स्क० यज्ञस्य, ऋतशब्दो ह्यपठितोऽपि भूयिष्ठं यज्ञनाम दृश्यते। वें० सत्यस्य। सा० ने भी सत्य ही अर्थ किया है, किन्तु सत्य की व्याख्या की है—अवश्य प्राप्त होने वाला कर्मफल (अवश्यम्भाविनः कर्मफलस्य)। मै० ऑर्डर (नियम)। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने इसे **सर्गसिद्धान्त** का वाचक माना है।—दे० वै० दे० शा० पृ० १८। यद्यपि आगे चलकर ऋत को सत्य का पर्याय मानने लग गये, परन्तु ऋ० में इन दोनों शब्दों की साथ-साथ उपस्थिति (यथा **ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्, ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम्** इत्यादि) से यह स्पष्ट है कि परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी ये भिन्न तत्त्व हैं। निघं० ३।१० में यह सत्य के नामों में परिगणित है। तदनुसार स्वा० द० ने व्याख्या की है—सत्य, सब विद्याओं से युक्त चारों वेद या जगत् का सनातन कारण (सत्यस्य सर्वविद्यायुक्तस्य वेदचतुष्टयस्य सनातनस्य जगत्कारणस्य वा)। या० ने विभिन्न

स्थलों पर ऋत के **उदक, यज्ञ, सत्य** अर्थ दिये हैं। इसकी निरुक्ति **प्रत्यृतं भवति** दी गई है। तदनुसार यह शब्द √ऋ (जाना) से निष्पन्न है। इसी आधार पर अर० की सम्मति में सत्य तो **भाव-सत्य** है (√अस्-होना) और ऋत **कर्मरत, गतिशील सत्य** है—वह दिव्य सत्य, जो मन और शरीर दोनों की उचित क्रियाओं को नियमित करता है। षष्ठ मन्त्र में अग्नि के कल्याणकारी गुण को उसका सत्य बताया है, यहाँ उसे ऋत का प्रकाशक कहा है। अतः यहाँ ऋत का अभिप्राय गति या कर्म—वह गति या कर्म जिससे मनुष्य को परम कल्याण प्राप्त होता है। ऋत में ही सत्य प्रतिष्ठित है, अर्थात् उचित कार्य करने से उचित सत्य फल की प्राप्ति होती है—गति से ही सत्ता होती है। सत्य में स्वयं अस् (होना) और इ (जाना) दोनों धातुओं का संयोग माना गया है। बहुत विद्वान् ऋत का अर्थ **प्राकृतिक** नियम यथा चन्द्रमा और सूय की निश्चित गति भी मानते हैं। इसीसे यज्ञ-विधान का और दूसरी ओर नैतिक विधान या धर्म का भाव निकलता है। अन्य विद्वानों के अनुसार ऋत **सक्रिय-ज्ञान** है और सत्य **क्रिया-विहीन-ज्ञान**। वा० श० की सम्मति में ऋत **विश्व-व्यापी-अखण्ड नियम** है। स्वयम् यजुर्वेद (वा० सं० ३२।१२) में ऋत के तन्तु के सर्वत्र व्याप्त होने की बात कही गई है। ग्रासमैन ने वो० व्रु० में ऋत के अर्थ 'पवित्र कार्य, दैवी नियम या विधान, शाश्वत सत्य, अपरिवर्तनीय क्रम या नियम, यज्ञ आदि (हाइलिगस वेर्क, गोइटलिशॅ गेसेत्स, एविगॅ वारहाइत, उन्फ़ेरेन्दरलिशॅ ओर्दनुंग ओदर रेगॅल, ऑप्फ़रवेर्क) दिये हैं। इसने **गोपाम् ऋतस्य** अन्वय किया है। जरथुस्त्र धर्म के 'अस' (सत्य और उचित) की तुलना ऋत से की जाती है। इसी प्रकार विद्वानों का मत है कि चीनी 'ताओ' (विश्व का उचित क्रम) भी ऋत से घनिष्ठरूप में सम्बद्ध है। इससे तु० जर्मन 'रिश्तन' (व्यवस्थित करना) और अं० राइट (ठीक)।

दीदिविम्—स्क०, वें० तथा पाश्चात्य विद्वान्—अत्यर्थं दीप्तम् (अत्यन्त द्युतिशील), सा०—पौनःपुन्येन भृशं वा द्योतकम् (ऋतस्य)—आहुत्याधारमग्निं दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यते (ऋत का बार बार या अत्यधिक प्रकाशक —क्योंकि आहुति के आधारभूत अग्नि को देखकर शास्त्रों में प्रसिद्ध कर्मफल का स्मरण होता है)। स्वा० द०—सर्वप्रकाशकम् (सब कुछ प्रकाशित करने वाला)—यह शब्द √दिव् से क्विन् प्रत्यय लग कर बना है। उणादि० (४। ५५) 'दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य' सूत्र से धातु को द्वित्व और अभ्यास का दीर्घत्व (दी) हुआ है। पाश्चात्य विद्वान् यहाँ √दी (चमकना) मानते हैं। पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु इस अर्थ में नहीं है अपितु क्षीण होना (क्षये) अर्थ में है। 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९) सूत्र से आदि अक्षर उदात्त

है। सायण के पौनःपुन्य अर्थ से स्पष्ट है कि वह इसे यङ्लुगन्त रूप मानता है।

स्वे दमे—स्क०, सा०—अपने घर अर्थात् यज्ञशाला में (स्वकीये गृहे, यज्ञशालायाम्), वें०—आहवनीय (रूपी घर) में (आहवनीये)। पाश्चात्य विद्वान् इसका केवल शाब्दिक अर्थ (घर) ही देकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे इसका भावार्थ नहीं बताते। स्वा० द०—अपने उस परमानन्द रूप स्थान में जहाँ दुःखों का दमन अर्थात् शमन हो जाता है (दाम्यन्ति उपशाम्यन्ति दुःखानि यस्मिन् तस्मिन् परमानन्दे पदे) वे इसकी निरुक्ति √दम्+घञ् से करते हैं। दम शब्द की तुलना एक अन्य समानार्थक दम् शब्द से की जा सकती है जो **दम्पती** में अवशिष्ट है। यहाँ दम शब्द का भाव निवास का स्थान न होकर **निवास की स्थिति या क्रिया** प्रतीत होता है—अग्नि या ईश्वर को किसी स्थान की आवश्यकता नहीं, वह तो सर्वत्र है, केवल अपनी स्थिति या अस्तित्व मात्र से वृद्धि को प्राप्त होता है। अर० के अनुसार अग्नि का घर अर्थात् इसका अपना वास्तविक क्षेत्र सत्य चेतना है—उसी में दिव्य संकल्प और दिव्य-शक्ति रूप अग्नि बढ़ता है। छन्दःपूर्ति के लिये व्यूह करके स्वे का उच्चारण सुए करना चाहिये। दम से तु० यू० दोमोस्, ला० दोमुस्, अवे० दम्। ग्रास० वो० बु० के अनुसार √दम् का मूल अर्थ सम्भवतया **बाँधना** होगा। इसकी तुलना **दाम (माला, शृङ्खला)** से की जा सकती है। इसी धातु से दम (घर) बना—जो मानो सब कुछ बाँध कर सुरक्षित रखता है। परन्तु पाणिनीय धातुपाठ में इसका अर्थ **उपशम (शान्त होना)** दिया गया है। तदनुसार दम (घर) वह स्थान या स्थिति है जहाँ दुःखों, कष्टों की शान्ति होती है—मनुष्य को प्रेम मिलता है। इस अर्थ से मूल भारतीय भावना की अभिव्यक्ति होती है। घर केवल दीवारें और बन्धन नहीं है। बिना दीवारों के भी जहाँ पारिवारिक प्रेम हो, वह घर है—न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते—घर एक स्थिति है, केवल स्थान नहीं।

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व। सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥९॥

सः। नः॒। पि॒ताऽइ॑व। सू॒नवे॑। अग्ने॑। सु॒ऽउ॒पा॒य॒नः। भ॒व॒। सच॑स्व। नः॒। स्व॒स्तये॑ ॥

वह तुम हमें पिता जैसे हो पुत्र को, अग्ने सुप्राप्य हो जाओ।
निकट रहो हमारे कल्याण के हित (हमें सन्मार्ग दिखलाओ)॥

वह प्रसिद्ध परमेश्वर हमारे प्रति पिता जैसे हो। पिता पुत्र के निकट होता है—वह उसके कल्याणार्थ उसे निरन्तर देखता रहता है। जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, वह सुलभ कराता है और जहां पुत्र प्रमाद करता है

वहाँ उसे रोकता है, समझाता है, और आवश्यकता पड़ने पर दण्ड भी देता है। उसी प्रकार प्रकाशक परमेश्वर निकट से हमारा ध्यान रखें। भौतिक या यज्ञाग्नि के पक्ष में भी पिता के समान सान्निध्य की बात सार्थक है क्योंकि जैसे पिता पालनपोषण करता है वैसे ही अग्नि विभिन्न ओषधि-वनस्पतियों को पकाकर हमारा कल्याण करता है।

पिताऽइव—पिता के समान। पदपाठ में अवग्रहसहित इसके पदों का पृथक्करण होने से इसका समस्तपद होना स्पष्ट है (दे० वार्तिक० इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च)। इस समास में पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर होता है। अतः यहाँ भी **ता** उदात्त है और संहितापाठ में गुणसन्धि होने पर एकार उदात्त है—इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च वक्तव्यम्। अन्यथा भी 'चादयोऽनुदात्ताः' से **इव** सर्वानुदात्त है।

सूनवेऽग्ने—सूनवे के एकार में उदात्त वस्तुतः पूर्वरूपएकादेशभूत अग्ने के अकार का है। यह स्थिति पदपाठ में स्पष्ट है। सम्बोधन होते हुए भी पाद के आदि में आने के कारण 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ६।१।१९८) से अग्ने आद्युदात्त है। छन्दःपूर्ति के लिये इन दो शब्दों का उच्चारण सन्धिविच्छेद करके किया जाना चाहिये। सूनु से तु० अवे० हुनु, गो० सुनु, ज० ज़ॉन, लिथु० सूनु, अं० सन।

सूपायनः—शोभनमुपायनं यस्य, शोभनप्राप्तियुक्तः। बहु० होने के कारण पूर्वपदप्रकृतिस्वर होना चाहिये था, किन्तु पूर्वपद में सु होने के कारण 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) से यह अन्तोदात्त है। सभी गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक भी होती है, इस आधार पर स्वा० द० ने अर्थ किया है—शोभन ज्ञान, जो कि सब सुखो का साधक और उत्तम उत्तम पदार्थों का प्राप्त करने वाला है, उसके देने वाले होकर (सुष्ठु उपगतमयन ज्ञानं सुखसाधनं पदार्थप्रापणं यस्मात्सः)।

सचस्व—संहितापाठ में अन्त्यदीर्घत्व द्रष्टव्य है। यह केवल वैदिक धातु से बना है। स्क०, वें०—सेवस्व (सेवा करो), सा०—समवेतो भव (हमसे सयुक्त होइये), स्वा० द० समवेतान् कुरु (संयुक्त कीजिये), पाश्चात्य विद्वान्—गेलाइतन, स्टेय् विद् अस्, अॅबाइड बाइ अस्, (हमारे साथ ठहरिये, रहिये)। पाणिनीय धातु पाठ में दो सच् धातुएँ परिगणित हैं। एक का अर्थ **सेवन** और दूसरी का **समवाय** दिया गया है। समवाय में निकट होने, रहने या निकट करने का भाव भी विद्यमान है। तु० यू० स्पां, अवे० हच्। यह वैदिक धातु संस्कृत के सचिव, सक्तु शब्दों में सुरक्षित है। सं० सचस्व से तु० अवे० सचनुह, यू० स्पेग्रो, ला० सेक्वेरे।

स्वस्तये — कल्याण के लिये । छन्दःपूर्ति के लिये इसका उच्चारण **सुअस्तये** किया जाना चाहिये । स्क०, वें०, सा०—विनाश न होने के लिये (अविनाशाय) । पाश्चात्य विद्वानों ने इसे कल्याणार्थक ही माना है—तु० हैप्पिनेस, वैलवींग । मँ० के अनुसार यह समस्त पद पदपाठ में अवग्रह द्वारा इसलिये पृथक् करके नहीं दिखाया गया क्योंकि **अस्ति** स्वतन्त्र नामिक अङ्ग के रूप में नहीं विद्यमान । ऋ० में प्राप्य स्वस्तिः, स्वस्तिम्, स्वस्ती, स्वस्तये इत्यादि रूपों से स्पष्ट है कि ऋ० में इसके नामरूप चलते थे । इसका प्रधान प्रयोग तृ० एक० में स्वस्ती के रूप में होता था । इसका अन्त्य स्वर प्रायः ह्रस्व हो जाता था । अन्ततोगत्वा यह अव्यय के रूप में रूढ़ हो गया । भाषावैज्ञानिकों के मतानुसार स्वस्ति का उत्तरपद आगे चलकर समासों के अन्त में स्ति के रूप में अवशिष्ट रह गया—यथा अभिष्टि, उपस्ति में ।

इन्द्रः

इन्द्र की स्तुति में ऋग्वेद में सब से अधिक (२५०) सूक्त अभिहित हैं। इस संख्या से ही इन्द्र के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता हैं। इसे विद्वान् प्रायः वैदिक भारतीयों का प्रिय राष्ट्रीय देवता बताते है। इन्द्र की महत्ता और शक्ति अतुलित है। इसे आकाश, अन्तरिक्ष, पृथ्वी और वायु, तथा सभी देवों से बड़ा बताया गया है—

प्र मात्राभी रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीतः।
प्र मज्मना दिव इन्द्रः पृथिव्याः प्रोरोर्महो अन्तरिक्षादृजीषी॥

(ऋ. ३।४६।३)

एक अन्य स्थल (ऋ. ७।३२।२३) पर कहा गया है कि—कोई दिव्य अथवा पार्थिव प्राणी इसकी समता करने वाला न तो हुआ है और न ही होगा—**न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते॥** इसे एकमात्र अकेला शासक बताया गया है—**एक ईशान ओजसा** (ऋ. ८।६।४१)। यह पृथ्वी और आकाश दोनों का उत्पादक है—**जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः** (ऋ० ८।३६।४)। ऋ० २।१२ में इन्द्र की अतुल्य शक्ति का सुन्दर वर्णन है। तदनुसार इसने ही कांपती हुई पृथ्वी और पर्वतों को टिकाया, अन्तरिक्ष का निर्माण किया और आकाश को स्तम्भित किया (२)। वही सूय और उषा को जन्म देने वाला तथा आपः को लाने वाला अर्थात् उनकी सृष्टि करने वाला है (३-**यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता**)। उसकी इसी शक्ति के कारण पृथ्वी और आकाश उसे प्रणाम करते हैं और पर्वत भयभीत होते हैं (१३-**द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते**)। इसीलिये मानव और दिव्य जनों का उसे नायक बताया गया है—**इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा** (ऋ० ३।३४।२)। सम्भवतया वेदों में वर्णित इन्द्र के इस महत्त्व को ध्यान में रखकर ही स्वामी दयानन्द ने अनेक स्थलों पर इसे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर माना है।[1] इसी प्रकार अरविन्द घोष ने 'स्वर् अर्थात् दिव्य मन के ज्योतिर्मय जगत् के स्वामी' इन्द्र को हमारे अस्तित्व का शासक

---

१. तु. दुर्ग, निरुक्त १।२ पर—**इन्द्र आत्मा येन ईयते लिङ्ग्यतेऽनुमीयते वास्त्यसा-वात्मा कर्ता यस्येदं करणं नाकर्तृकं करणमिति।**

तथा मनःशक्ति बताया है। उनके अनुसार यह दिव्य शक्ति है और स्नायविक चैतन्य की सीमाओं तथा बाधाओं से मुक्त है।[1] वासुदेव शरण अग्रवाल ने इन्द्र को ईश्वर का वाचक मानते हुए[2] उसे इन्द्रियों का अधिष्ठाता मध्य प्राण बताया है।[3] उनके मतानुसार देह में प्रतिष्ठित अग्निरूप मूलभूत शक्ति का समिन्धन ही इन्द्र है। वही एक नाना रूपों में प्रकट होता है—**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (ऋ० ६।४७।१८)। इसी तत्त्व को आगे चलकर वे इन्द्रियों के मूल में विद्यमान मनस्तत्त्व का अधिष्ठाता बताते हैं क्योंकि इन्द्र को 'मनस्वान्' कहा गया है—**यो जात एव प्रथमो मनस्वान्** (ऋ० २।१२।१)। इसकी पुष्टि गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्ध (४।१२) के इस वाक्य से भी होती है—**यन्मनः स इन्द्रः**। जिस प्रकार मन की शक्ति अनन्त है, उसी प्रकार इन्द्र की शक्ति भी वेद में अनन्त कही गई है—**अत्राह ते मघवन् विश्रुतं सहो द्यामनु शवसा बर्हणा भुवत्** (ऋ० १।५२।११)। निष्कर्ष रूप में वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'प्राणशक्ति, मनस्तत्त्व और दोनों से ऊपर शुद्ध आत्म तत्त्व' को इन्द्र माना है।[4] हरिशङ्कर जोशी ने भी इन्द्र को मूल रूप में मनस्तत्त्व मानकर उसे मन के अधिष्ठाता, और फलस्वरूप ब्रह्माण्ड के प्रथम महायोगी के रूप में स्वीकार किया है। तदनुसार वह मौलिक सृष्टि पूरी होने पर योग करता है। वह योग द्वारा देवताओं की पुनः जागृतिरूप नवीन सृष्टि करके अखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। इसी कारण सबसे कनिष्ठ होने पर वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है।[5] मैक्डॉनल प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने इसे प्रायः झंझावात के देवता के रूप में वर्णित किया है। किन्तु वे इसके मिश्रित चरित्र से भी इन्कार नहीं करते। उनके अनुसार इनके सहायक मरुतों के आधार पर इसका 'मरुत्वत्' नाम सम्भवतया इसके वायु के साथ सम्बन्ध को प्रकट करता है। कुछ स्थलों पर इन्द्र को सूर्य ही बताया गया है—**स सूर्यः... .....इन्द्रः**(ऋ० १०।८९।२)। इन्द्र को ये विद्वान् युद्ध का देवता भी मानते हैं क्योंकि योद्धाओं द्वारा इसका आह्वान किया जाता है—**तमिन्नरो वि ह्वयन्ते समीके** (ऋ० ४।२४।३)। इन्द्र का यह मिश्रित स्वरूप स्वामी दयानन्द के भाष्य में भी देखने को मिलता है क्योंकि उन्होंने भी परमेश्वर के अतिरिक्त विविध प्रसङ्गों में इसके मेघ, वायु,

---

१. ओरोबिन्दोज़ वेदिक ग्लॉस्सरी, पृ० २६।
२. वेदविद्या, पृ० २७७—"इन्द्र ईश्वर का वाचक है। परमैश्वर्यरूप सृष्टि का विधाता यदि किसी शब्द से यथार्थ में अभिहित किया जाये तो उसके लिये 'इन्द्र' यही उपयुक्त नाम हो सकता है।"
३. स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः—श. ब्रा. ६।१।१।२
४. वेदविद्या, पृ० २८२।
५. वैदिक योगसूत्र, पृ० १२७

सूर्य, राजा, सेनापति आदि अर्थ भी दिये हैं। वायु और इन्द्र के एक होने का संकेत निरुक्त (७।५) में भी है—**वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः।**

इन्द्र का यह सार्वभौम महत्त्व होने पर भी वेद में उसके जन्म की गाथायें आई हैं। द्यौः को इन्द्र का पिता अथवा जन्मदाता कहा गया है—**सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता** (ऋ० ४।१७।४)। अन्यत्र इन्द्र और अग्नि के एक ही पिता का उल्लेख है और यहीं इन्हें यमज भ्राता बताया गया है—**समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमौ** (ऋ० ६।५९।२)। निष्टिग्री का उल्लेख इन्द्र की माता के रूप में हुआ है—**निष्टिग्रचः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रम्** (ऋ० १०।१०१।१२)। सायण के अनुसार अदिति ही निष्टिग्री है। **'तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि'** (ऋ० ४।१८।२) में इन्द्र की माता के पार्श्व से जन्म लेने की कामना व्यक्त की गई है। मैक्डॉनल के अनुसार 'सम्भवतः मेघों के किनारों से विद्युत् की चमक के प्रकट होने की धारणा से ही यह विचार निष्कृष्ट हुआ प्रतीत होता है'।[1] किन्तु इन्द्र का जन्म साधारण जन्म नहीं। जन्म लेते ही उसने अपने शत्रुओं को बाधित किया—**जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः** (ऋ० १०।११३।४)। इसी प्रकार उसे जन्म से ही अशत्रु अर्थात् दुर्जेय बताया गया है—**अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे** (ऋ० १०।१३३।२)।

इन्द्र के विशेषणों में **'शिप्रिन्'** बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका शचीपति और शचीवान् विशेषण इसके शक्ति से युक्त होने का, शतक्रतु विशेषण सैंकड़ों क्रियाओं से युक्त होने का तथा मघवन्, और वसुपति समृद्ध, धनसम्पन्न होने का द्योतक है। हरि शब्द के साथ इस देवता का सम्बन्ध बहुत बार प्रकट होता है। इन्द्र की विशेषता है कि वह इच्छानुसार रूप-परिवर्तन कर लेता है—**यथावशं तन्वं चक्र एषः** (ऋ० ३।४८।४)। इन्द्र का अस्त्र वज्र है, यह केवल इन्द्र से ही सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिजली गिरने की क्रिया को ही वज्र कहा जाता है। प्रायः इन्द्र की वज्रधारी भुजाओं का वर्णन हुआ है।[2] यह वज्र त्वष्टा ने बनाया था—**त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष** (ऋ० १।३२।२)। काव्य उशना को भी वज्र-निर्माता बताया गया है—**यं ते काव्य उशना मन्दिनं......ततक्ष वज्रम्** (ऋ० १।१२१।१२)। यह वज्र शत जोड़ों वाला (शतपर्व) और सहस्र नोकों वाला (सहस्रभृष्टि) है।[3] इन्द्र के रथ का भी वर्णन आता है। वह रथ स्वर्णिम है तथा मन से भी तीव्र गति वाला है।[4] यह दो हरे रंग के (हरी) अश्वों द्वारा खींचा जाता है। ये अश्व द्रुत

१. वैदिक माइथॉलोजी, अनु. रामकुमार राय, वाराणसी १९६१, पृ० १०५।
२. वज्रबाहु, वज्रहस्त, वज्रिन्।
३. ऋ. ८।६।६ तथा १।८०।१२।
४. ऋ. ६।२९।२ तथा १०।११२।२।

गति से बड़ी दूरियाँ पार करते हैं—**आ त्वा मदच्युता हरी श्येनं पक्षेव वक्षतः** (ऋ० ८।३४।९)। अरविन्द घोष ने इन दो अश्वों को प्रकाश के नियम तथा अतिमानस चैतन्य की दृष्टि-शक्तियाँ माना है।[1] वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार प्राण-शरीर इन्द्र का रथ है और अश्व इसकी गति। ये दोनों अश्व प्राण के दो रूप हैं। प्राणों का नियन्ता होने के कारण ही इन्द्र को मरुत्वान् कहा गया है। ऐ० ब्रा० (२।२४) में ऋक् और साम को इन्द्र के दो अश्व बताया गया है—**ऋक्सामे वँ इन्द्रस्य हरी**। वासुदेवशरण अग्रवाल ने ऋक्साम की प्राण-अपान के रूप में व्याख्या की है।[2] इन्द्र के वाहन के प्रसङ्ग में सूर्य और वात के अश्वों का भी उल्लेख हुआ है।[3] इससे इन्द्र और सूर्य तथा इन्द्र और वात का परस्पर सम्बन्ध अथवा अभेद लक्षित होता है।

सोम का इन्द्र के साथ विशेष सम्बन्ध है। सोमपान इन्द्र की अत्यन्त स्वाभाविक और विशेष प्रवृत्ति है "**इन्द्र इत् सोमपा एकः**" (ऋ० ८।२।४)। सोम के प्रति इन्द्र का इतना आकर्षण है कि उसने सोम को चुरा लिया था—**आमुष्या सोममपिबः** (ऋ० ८।४।४)। सोमपान करके वह पृथ्वी-धारण आदि जैसे महान् कार्य करता है—

अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥
(ऋ० २।१५।२)

इन्द्र द्वारा सोमपान के प्रभाव में किये गये महान् ओजस्वी कार्यों का वर्णन इन्द्र के स्वगत भाषण के रूप में एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० १०।११९) में किया गया है। भारतीय विद्वानों ने सोमपान की भिन्न भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। स्वामी दयानन्द ने सोम को आनन्द मानकर 'आनन्दित होना' या सोम को ओषधिरस मानकर 'ओषधिरस का पान करना' भी व्याख्या की है।[4] अनेक स्थानों पर (यथा ऋ० ३।३९।७) इन्होंने 'सोमपाः' का अर्थ 'ऐश्वर्य का रक्षक' (**सोममैश्वर्यं पाति**) भी किया है। वासुदेव शरण अग्रवाल के मतानुसार सोमपान के प्रसङ्ग में इन्द्र जठराग्नि है और सोम अन्न। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। 'यदि इन्द्ररूपी जठराग्नि को अन्नरूपी सोम न मिले तो उसकी क्षीणता का अन्त मृत्यु है। दूसरी ओर इन्द्र मन भी है। उसके लिये भी सोम-

---

१. श्री ओरोबिन्दोज़ वेदिक ग्लॉस्सरी, पृ० २०।
२. वेदविद्या, पृ० २९५।
३. ऋ. १०।४९।७; १०।२२।४,९।
४. ऋ. ३।४८।४ पर स्वामिदयानन्दभाष्य—यः इन्द्रः परमैश्वर्यवान् जनः अमूषु भक्षयित्रीषु सेनासु आमुष्य चोरयित्वा सोमम् ओषधिरसम् अपिबत् पिबेत्…।

रूपी अन्न सहायक है, क्योंकि शरीर की प्रक्रिया में अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस......, और अन्त में ओज से मन बनता है। इस प्रकार मनरूपी इन्द्र को सदा सोम चाहिये।[१] 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' वाक्य भी इसी आधार पर सार्थक है क्योंकि समस्त विश्व में यही प्रक्रिया दिखाई देती है। अरविन्द के अनुसार दिव्य मन द्वारा दिव्य आनन्द का उपभोग ही सोमपान है। हरि शंकर जोशी का मत है कि 'मन के शासक इन्द्र द्वारा अन्धकारमय मन को विष्णु की ज्योति से चेतनामय करने की क्रिया सोमपान है।'[२]

सोम के साथ साथ इन्द्र से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध वृत्र भी है। सोम इन्द्र में शक्ति तथा उत्तेजना उत्पन्न करता है और उसका उपयोग वृत्र के विरुद्ध होता है। इन्द्र वृत्र का नाश करता है। इसी आधार पर उसका एक बहु-प्रचलित नाम 'वृत्रहा' भी है। इससे अवेस्ता के **वेरेथ्रघ्न** की तुलना की जा सकती है यद्यपि अवेस्ता में वह मेघवृष्टि से सम्बद्ध न होकर विजय का देवता है।[3] वृत्र का नाश करके इन्द्र गौओं को मुक्त कर देता है। ये गौएँ जल की धारायें प्रतीत होती हैं क्योंकि ऋ० ६।२०।२ में वृत्र को जलावरोधक बताया गया है—**अहिं न यद्वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्।** इन्द्र द्वारा वृत्र पर वज्रप्रहार के समय पृथ्वी और आकाश भी काँप उठते हैं—

अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात् (ऋ० २।११।९)। पौराणिक दृष्टि से तो यह सब वृत्र नामक राक्षस द्वारा गोधन को चुराने का और इन्द्र देवता द्वारा उसे मुक्त कराने का वर्णन है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वृत्र मेघ है और गौएँ वृष्टि जल हैं, अथवा पर्वतों से प्रवाहित पार्थिव नदियाँ या जल की धारायें हैं। ये मेघ ही पूः हैं, अतः इन्द्र को पूर्भिद् कहा गया है। किन्तु बर्गेन आदि विद्वानों का यह भी मत है कि 'इस पर भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि ऋ० में जल और नदियों के भी प्रायः दिव्य अथवा अन्तरिक्षीय होने की कल्पना की गई है।'[४] यह भी माना गया है कि 'अनेक अन्य दशाओं में गायों की धारणा इन्द्र द्वारा प्रकाश पर विजय से सम्बद्ध हो सकती है क्योंकि रात्रि की कालिमा से प्रकट होती हुई उषा की अरुण रश्मियों की अपनी गोशालाओं से बाहर आती हुई गायों से तुलना की गई है।'[५] वृत्रवध के इस महान् कार्य में प्रायः मरुत उसके सहायक होते हैं,

---

१. वेदविद्या, पृ० २८४।
२. वैदिक योगसूत्र, पृ० १३९।
३. वैदिक माइथॉलोजी, पृ० १२४।
४. वहीं वहीं, पृ० १११-११२, द्र. ऋ. १।१०।८—स्वर्वतीरपः।
५. वहीं वहीं, पृ. ११२।

अतः इन्द्र को मरुत्वान् भी कहा जाता है। एक स्थान (१।३२।१२) पर यह भी उल्लेख हुआ है कि इन्द्र ने सोम को भी गौओं के साथ साथ जीता। तदनुसार सोम की उपलब्धि वृत्र-वध से सम्बद्ध है—**अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्**। कुछ स्थलों पर स्पष्ट ही वृत्र-वध से प्रकाश पर विजय का संकेत है जिससे वृत्र अन्धकार की शक्ति के रूप में भी प्रकट होता है।[1] वृत्र-सम्बन्धी सभी सन्दर्भों से एक बात स्पष्ट है कि वृत्र कोई आवरक शक्ति है। प्राकृतिक दृष्टि से यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि यह जल को मानो बाँध कर रोके रखने वाला जमा हुआ हिम हो, जिसे सूर्यरूपी इन्द्र के द्वारा पिघला कर नष्ट किया जाता है और जलरूपी गौओं की मुक्ति होती है। वृत्र के इस आवरक तत्त्व को ही प्रमुखरूप से ध्यान में रखकर विभिन्न विद्वानों द्वारा इन्द्र-वृत्र संघर्ष की विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं। स्वामी दयानन्द ने वृत्र, शम्बर, नमुचि, अहि आदि को मेघ मानकर इस संघष की वृष्टिसंघर्ष के रूप में व्याख्या की है। ये संघर्ष वैयक्तिक न होकर सांकेतिक हैं—इस बात का संकेत स्वयं ऋ. १०।५४।२ में किया गया है :—**मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः**। वृत्र व्यक्तिवाचक न होकर आसुरी शक्ति का द्योतक है, इसी कारण इसका उल्लेख बहुवचन में भी (वृत्राणि) हुआ है। यह महान् अवरोधक है—**सर्वं वृत्वा शिश्ये**। श्री अरविन्द के अनुसार यह ऐसा आवरक है जो हमसे सम्पूर्ण सत्य की शक्तियों और क्रियाओं को पृथक् करता है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने वृत्र को समष्टिविज्ञान माना है—"बृहस्पति की गौएँ जिस अद्रि की गुफा में मुंदी हैं वही समष्टि विज्ञान या विराट् मन है। उन गौओं या चैतन्य धाराओं को व्यष्टि-जीवन के लिये उन्मुक्त करने वाला व्यक्ति का निजी मन है।"[2] इसी प्रकार हरिशंकर जोशी ने वृत्र को इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मौलिक शरीर बताया है।[3] इसकी पुष्टि में उन्होंने श० ब्रा० (४।१।४।७) की एक उक्ति उद्धृत की है जिसके अनुसार वृत्र और सोम आश्चर्यजनक रूप से एक ही तत्त्व सिद्ध होते हैं—**वृत्रो वै सोम आसीत्**।

इन्द्र निश्चय ही समस्त संसार के आधार में असाधारण महती शक्ति है। उसे राष्ट्रीय देवता की संज्ञा दी जाती है। वह दस्युओं को नष्ट कर आर्यजनों की रक्षा करता है—**हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्** (ऋ० ३।३४।९)। उसका

---

१. उदाहरणार्थ ऋ. ८।८९।४—हनो वृत्रं जया स्वः।

२. वेदविद्या, पृ० २८५।

३ वैदिक योगसूत्र, पृ० ६१, तु. श. ब्रा. वृत्रो वै उदरम। इसी प्रकार श. ब्रा. १।१।३।३—वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स इदं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम।

मित्र न मारा जाता है, न विजित होता है—**न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन**। और इन्द्र का मित्र वही होता है जो चलता रहे, कार्यशील रहे—**इन्द्र इच्चरतः सखा** (ऐ० ब्रा० ३३।३।१)। अवेस्ता में इन्द्र का नाम दो बार असुर के रूप में आया है।

निरुक्त (१०।८) में दी गई इन्द्र शब्द की निरुक्तियों से भी इन्द्र का स्वरूप स्पष्ट होता है। सर्वप्रथम इरा शब्द से विभिन्न धातुओं का संयोग करके बताया गया है—इरा (अन्न) को (बीज रूप में अंकुरित होने के लिये) तोड़ता है (**इरां दृणाति, इरां दारयते**), इरा देता है या धारण करता है **इरां ददाति, इरां दधाति, इरां धारयते**)। इन्द्र के दो निर्वचन इन्दु (सोम) को आधार मान कर दिये गये हैं—इन्द्र (सोम) के लिये अर्थात् उसे पीने को दौड़ता है (**इन्दवे द्रवति**) अथवा इन्दु में रमण करता है (**इन्दौ रमते**)। मैक्डॉनल ने भी इन्दु (बिन्दु) से इसके निर्वचन की सम्भावना व्यक्त की है। अथवा √इन्ध् (दीप्त्यर्थक) से—जो सब प्राणियों को प्रकाशित करता है (**इन्धे भूतानि**)। यह निर्वचन इन्द्र को प्राण-शक्ति के रूप में प्रकट करता है। इसकी पुष्टि में दिये गये ब्राह्मणवाक्य से यह बात और स्पष्ट होती है—

तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् (जो कि इसे प्राणों से, प्राणों के रूप में, प्रदीप्त किया, वह इन्द्र का इन्द्रत्व है)। इसी प्रकार **इदंकरण** (जिसने यह सब किया—बनाया) निर्वचन से भी इन्द्र विधाता के रूप में प्रकट होता है। यही भाव **इदंदर्शन** (जो यह सब कुछ देखता है—सर्वद्रष्टा) निर्वचन में है। √इद् (इन्द्—ईश्वर, स्वामी होना) के आधार पर किये गये निर्वचन भी इन्द्र के इसी स्वरूप को द्योतित करते हैं—स्वामी होता हुआ शत्रुओं को विदीर्ण करने वाला या भगाने वाला (**इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा**)। इन्द्र यज्ञ करने वालों का आदर करने वाला है (**आदरयिता च यज्वनाम्**)।

ऋ० १।८१

ऋषिः—रहूगणपुत्रः गोतमः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः (पांच अष्टाक्षर पाद)।[1]

इन्द्रो मदा॑य वावृधे शव॑से वृत्र॒हा नृभिः॑।
तमिन्म॒हत्स्वा॒जिषू॒तेमर्भे॑ हवामहे॒ स वाजे॑षु॒ प्र नो॑ऽविषत् ॥१॥

---

१. स्वा. द. के अनुसार—१, ७, ८—विराट् पङ्क्तिः, ३-६, ६—निचृदास्तार-पङ्क्तिः, २—भुरिग् बृहती।

इन्द्रः । मदा॑य । वुवृधे । शव॑से । वृत्रऽहा । नृऽभिः । तम् । इत् । महत्ऽसु॑ । आजिषु॑ । उत । ईम् । अर्भे॑ । हुवामहे । सः । वाजे॑षु । प्र । नः । अविषत् ॥

इन्द्र आनन्द के लिये बढ़ा है,
बल के लिये, वृत्रविनाशक, मानवजन के साथ ।
उसे ही बड़े बड़े संघर्षों में,
और उसे ही छोटों में भी बुला रहे हम,
वह गतिकार्यों में हमें सुरक्षित करदे (नाथ) ॥

ईश्वर अथवा मन सभी मनुष्यों की सङ्गति में ही निरन्तर विस्तार को प्राप्त होता है। इस क्रिया में ही उसे स्वयं तथा सब मनुष्यों को भी आनन्द प्राप्त होता है। ईश्वर के विस्तार को देखकर तथा मन की विशालता (उदारता) के कारण मनुष्य को वास्तविक बल और निर्भयता प्राप्त होते हैं। आन्तरिक अथवा बाह्य, छोटे अथवा बड़े—सभी संघर्षों में मन अथवा ईश्वर का परम आश्रय लिया जाता है। वही प्रत्येक गति में हमें सुरक्षित सन्तुलित रखता है।

इन्द्रः—स्वा० द०—शत्रुगणविदारयिता सेनाध्यक्षः।

मदा॑य—सा०—हर्षाय, वें—सोमाय, स्वा० द०—स्वस्य भृत्यानां हर्षकरणाय। मक्स०—आनन्द, विनोद, नशा (डिलाइट, रिजॉयसिंग, राउश), गेल्ड०—नशा (राउश), ग्राम०-नशा, सोम के मज़े में आने वाला सुखप्रद और बलप्रद उत्साह (राउश—फोय्दिगॅ उन्त् थात्केफ्तिगॅ बॅगाइस्तेरुंग, दी दुर्श देन गेनस्स देस सोम एर्रेग्त विर्द)।

वुवृधे—संहितापाठ में अभ्यास का दीर्घत्व ध्यान देने योग्य है।[1] (पा० ६।१।७—तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य)। स्क०-स्तोमेन स्तुतिभिश्च वर्धते, सा०—स्तोत्रशस्त्ररूपाभिः स्तुतिभिः प्रवर्धितो बभूव—स्तुत्या हि देवता प्राप्तबला सती प्रवर्धते। स्वा० द०—वर्धते, गेल्ड०—बलिष्ठ हुआ है (वार्द गॅश्टेर्क्त्)। यहां 'बढ़ा हुआ है—और निरन्तर बढ़ रहा है' भाव प्रतीत होता है। 'तिङ्ङतिङः' से सर्वानुदात्त।

शव॑से—बलाय उणादि० ४।१८८—श्वेः सम्प्रसारण च, √शिव + असुन् = शु + असुन्—गुण—शो + असुन् = शो + अस् = शवस्।

वृत्रऽहा—वृत्र—आवृत करने वाले अज्ञानरूप अन्धकार का नाशक, या जल अथवा किरणों को रोकने वाले मेघ अथवा हिमनद का नाशक—सूर्य।

---

१. सा. वृधेः कर्मणि लिट् 'अन्येषामपि दृश्यते' इति अभ्यासदीर्घत्वम्। तुजादित्वे हि तूतुजान इतिवत् पदकाले दीर्घः श्रूयेत।

मन में इतनी शक्ति है कि वह संयम के द्वारा इन्द्रियों के मार्ग में आने वाले अज्ञान के आवरण को दूर कर देता है। जिससे मार्ग स्पष्ट हो जाये। नि० (७।६।२३) में 'वृत्रहणम' का अर्थ 'मेघहनम्' दिया है। २।५।१७ में नैरुक्तों के मतानुसार वृत्र का अर्थ मेघ ही दिया गया है और उसकी निरुक्ति इस प्रकार दी गई है :—वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा। वें०-शत्रुहा, सा०—आवरकस्य वृष्टिनिरोधकस्य मेघस्यासुरस्य वा हन्ता, यद्वा आवरकाणां शत्रूणां हन्ता। स्वा० द०—मेघहन्ता सूर्य इव शत्रूणां हन्ता। गेल्ड०—वृत्र को मारने वाला (वृत्र-तोयूतर), मक्स० और ग्रास०—शत्रुओं का या वृत्र का नाशक (स्लेयर ऑफ़ फ़ोज़ ऑर ऑफ़ वृत्र)। अर.—वृत्र आवरक, जो हमसे सम्पूर्ण शक्तियों और क्रियाओं को पृथक् कर देता है। श० ब्रा० (११।१।५।७) में पाप को वृत्र बताया गया है—पाप्मा वै वृत्रः। श० ब्रा० (११।१।६।१७) में भी दैवासुरसंग्रामों को ऐतिहासिक न बता कर वृत्र के ऐतिहासिक व्यक्ति न होने की ओर संकेत किया गया है।[1] वा० श० के अनुसार "इन्द्र की शक्तियों का अवरोध वृत्र है—सर्वं वृत्वा शिश्ये, जो सबको घेर कर बैठ गया, वही आवरक तत्त्व वृत्र है।" (दे० वेदविद्या पृ० २९६), परन्तु मै० ने इसे एतन्नामक दानव या मानव-शत्रु माना है।[2] तु० अवे० वेरेथ्रघ्न्। उपपद समास होने के कारण कृदन्त उत्तरपद 'हा' पर प्रकृति से उदात्त है—दे० पा० ६।२।१३९—गतिकारकोप-पदात् कृत्।

नृभिः—स्क०—यष्टृभिर्मनुष्यैः, वें०—मरुद्भिः, सा०—यज्ञस्य नेतृभि-र्ऋत्विग्भिः। स्वा० द०—सेनासभाप्रजास्थैः पुरुषैः सह मित्रत्वेन वर्तमानः।

तम्—स्क० ने इसका सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिये आरम्भ में 'यः इन्द्रः' ऐसा अन्वय किया है। परन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं। ववृधे क्रिया वाला एक पृथक् वाक्य है और नये वाक्य में स्वाभाविकतया 'तम्' पिछले वाक्य के कर्ता इन्द्र की ओर सङ्केत करता ही है।

ईम्—एनम्, नि० (१।३९) में इसे पदपूरण बताया गया है। (पदपूर-णास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति) किन्तु, नि० १०।४।४७ में ऋ० १०। ९५।७ के भाष्य में इसका अर्थ एनम् दिया है।

वाजेषु—प्रायः सभी विद्वानों ने वाज का अर्थ युद्ध दिया है। मक्स०—विजय, शक्ति, अर०—बाहुल्य। किन्तु नि० (२।७।२९) में वाजी का जो भाष्य वेजनवान् दिया गया है वहाँ, गत्यर्थक √विज् (ओविजी भयचलनयोः) का संकेत मिलता है। तदनुसार वाज का अर्थ गति उचित प्रतीत होता है। अन्यथा

---

१. नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्॥

२. वै. दे. ना.—पृ. ४०१-४१५।

भी वाज को जहाँ अन्न माना गया है, वहाँ अन्न गति का उत्पादक ही है। और इसके संग्राम अर्थ में भी गति ही प्रधान है।

प्र अविषत्—स्क०, वें०, सा०—प्रकर्षेण रक्षतु। स्वा० द०—प्रकर्षेण रणादिक व्याप्नोतु। √ अव् लेट्-अट् सिप्-प्र० पु० एक०। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इष् लुङ् के अङ्ग से लेट् रूप।

छन्द—पङ्क्ति छन्द के अनुसार छन्दः पूर्ति के लिये तृतीय पाद के अन्तिम दो और चतुर्थपाद के प्रथम शब्दों को सन्धिविच्छेद करके ऐसे पढ़ना चाहिये :—महत्सु आजिषु उतेम्।

असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददः।
असि दभ्रस्य चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥२॥

असि। हि। वीर। सेन्यः। असि। भूरि। पराऽददिः। असि। दभ्रस्य। चित्। वृधः। यजमानाय। शिक्षसि। सुन्वते। भूरि। ते। वसु ॥

हो तुम हे वीर ! सेना से युक्त,
हो तुम अधिकाधिक दान के दाता (अति उदार)।
हो तुम लघु के भी वृद्धि-विधायक,
यज्ञ करने वाले को देते हो तुम सामर्थ्य,
रसस्रष्टा के हित बहुत तुम्हारा धनसम्भार ॥

वास्तविक तथा स्थायी सेना से युक्त ईश्वर अथवा मन को ही कहा जा सकता है, क्योंकि इनकी शक्ति अतुलित है। वे दोनों ही सबसे बड़े दानी हैं क्योंकि सारी सृष्टि ही इनसे होती है। निस्सन्देह इनकी शक्ति से छोटा भी बड़ा बन सकता है—एक ओर ईश्वर की कृपा और दूसरी ओर मन की संकल्प-शक्ति। जितना ही कोई यज्ञ अर्थात् दानादि कर्म करने में दत्तचित्त होता है, उतना ही उसका सामथ्य बढ़ता है। वह और उदार होता जाता है तथा उसमें निर्भयता बढ़ती जाती है। मानो वही व्यक्ति अपने और संसार के लिये रस-आनन्द की सृष्टि करता है। उसे ही वास्तविक धन अर्थात् मनोबल और सन्तोष प्राप्त होता है।

असि—यह तिङन्त पद इस मन्त्र में सर्वत्र पाद के आदि में आने के कारण उदात्तयुक्त है (दे० वै० व्या० भा० २, अनु० ४१३ (ख))। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० ३।१।४) से सि अनुदात्त है और अ उदात्त।

वीर—सा०—हे शत्रुक्षेपणकुशल इन्द्र, दे० नि० १।३।७—वीरयत्यमित्रान्, वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः, वीरयतेर्वा। तदनुसार (१) शत्रुओं को तितर बितर

करने वाला, (२) निर्बाध गति वाला या (३) पराक्रम से युक्त। स्वा० द०-शत्रूणां सेनाबलं व्याप्तुं शील, सेनापते। 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८।१।१९) से पाद के आदि में न होने के कारण सर्वानुदात्त।

सेन्यः—स्क०—स्वामिन्ययमिदमर्थे यत्प्रत्ययो द्रष्टव्यः। मरुदादिसेनानां पतिः (इन्द्र मरुतों आदि की सेनाओं का स्वामी है)। अथवा सेन्यशब्दोऽत्र सेव्यवचनः—'असेन्या वः पणयो वचांसि' (ऋ० १०।१०८।६) इति यथा। सेव्यः सर्वस्यासि न कस्यचित् सेवक इत्यर्थः। (सबके द्वारा सेवनीय हो, किन्तु किसी के सेवक नहीं हो) वें०, सा०—सेनार्हः, सा० ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—त्वमेकोऽपि सेनासदृशो भवसीत्यर्थः (तुम अकेले भी सेना के तुल्य हो)। स्वा० द०—सेनासु साधुः सेनाभ्यो हितो वा, हिन्दी में—सेनायुक्त। सम्भवतया स्वा० द० के अनुकरण पर गेल्डनर—ज़ोल्दातॅनफ़्रॉयण्ड, क्रीगरिश (योद्धृमित्र, युद्धोचित)। ग्रास०—आयुधयुक्त। छन्द की दृष्टि से इसका तथा अगले शब्द का उच्चारण 'सेनिओ असि' किया जाना चाहिये। (दे० वै० व्या० भा० २, पृ० ८९६, अनु० ४२०)।

भूरि, पराऽददिः—स्क०, वें०—बहुधनस्य दाता, अथवा (स्क०)—बहुनोऽपि शत्रुबलस्य विनाशयिता। सा०—प्रभूतं शत्रूणां धनं परादाता शत्रूणां पराङ्मुखं यथा भवति तथा आदाता भवसि। स्वा० द०—बहु परान् शत्रून् आदाता (बहुत प्रकार से शत्रुओं के बल को नष्ट कर ग्रहण करने वाला है)। गेल्ड०—बहुत अधिक के दाता हो (दू बिस्त ग्राउनॅर, दॅर फ़ील फ़ेर्शॅंक्त)। यास्क ने 'परा' को 'आ' का विपरीतार्थक अर्थात् दूर-अर्थ वाला बताया है।[1] तदनुसार या तो सायण के समान परा में आ की कल्पना करें और या परा—दूर से देने वाला (सर्वत्र व्याप्ति के कारण)। सायण के अर्थ में भूरि की व्याख्या के लिये 'शत्रूणाम्' जोड़े बिना काम नहीं चल सकता।

दभ्रस्य—स्क०—अल्पस्यापि च स्वाश्रितस्य, वें०—क्षुद्रस्य, सा०—अल्पस्यापि तव स्तोतुः। स्वा० द०—ह्रस्वस्य चित् महतो युद्धस्यापि विजेतासि (चित् के आगे के अंश को अपनी ओर से जोड़ा गया है क्योंकि वृधः शब्द का सामान्य अर्थ नहीं लिया गया)।

वृधः—सभी भाष्यकार इसका अर्थ वर्धक, 'वृद्धि करने वाला' करते हैं। √वृध् क (अ) प्रत्यय—पा० ३।१।१३५—इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। परन्तु स्वा० द० इसे दभ्रस्य के साथ सम्बद्ध न मानकर (शिक्षसि के साथ मानते हुए इसे वृध् (वृध्+क्विप्) शब्द का द्वितीया बहु० समझकर यह अर्थ करते हैं—ये

१. नि. १।५—आ इत्यर्वागर्थे। प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्॥

युद्धे वर्धन्ते तान् वृधः वीरान् शिक्षसि (बल से बढ़ने वाले वीरों को शिक्षित करता है)।

सुन्वते—स्क०, वें०, सा०—सोमाभिषव करने वाले यजमान को धन देते हो। किन्तु गेल्ड० का अन्वय पद्य की भावना के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है। तदनुसार चतुर्थ पाद और पञ्चम पाद पूर्णतया पृथक् हो जाते हैं—"तुम यजमान के लिये उपयोगी हो। सोमाभिषव करने वाले के लिये तुम्हारे पास बहुत सम्पत्ति है।" किन्तु स्वा० द० ने 'शिक्षसि' को तो 'वृधः' के साथ ले लिया है और अब वे अन्तिम दोनों पादों को मिलाकर यह अर्थ करते हैं—तस्मै सुन्वते यजमानाय अभयदात्रे ते तुभ्यम् उत्तमं द्रव्यमस्ति (उस विजय की प्राप्ति करने हारे सुखदाता तेरे लिये बहुत धन प्राप्त हो)। अर. के अनुसार सुन्वते का अर्थ 'आनन्दरूपी मदिरा का अभिषवण करने वाले के लिये' है। सोम रस का प्रतीक है, वही आनन्द है—उसका अभिषवण अर्थात् जीवन के विविध संघर्षों में रस की, आनन्द की सृष्टि।

शिक्षसि—यद्यपि या०, स्क०, वें०, सा०—सबने दानार्थक शिक्ष् धातु मानकर 'धन देते हो' अर्थ किया है तथापि इसे √शक् का सन्नन्त रूप भी सुविधापूर्वक माना जा सकता है—किसी के प्रति सकने या समर्थ होने की इच्छा करना।[1] देखा जाये तो दान देने के मूल में भी किसी के लिये कुछ कर सकने की इच्छा ही है।

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना।
युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥३॥

यत्। उत्ऽईरते। आजयः। धृष्णवे। धीयते। धना। युक्ष्व। मदऽच्युता।
हरी इति। कम्। हनः। कम्। वसौ। दधः। अस्मान्। इन्द्र। वसौ। दधः ॥

जब छिड़ जाते हैं संघर्ष (कभी)
(तब) धर्षक वीर को देते हो तुम धन (उत्साह)।
जोतो आनन्दवर्धक दो अश्व,
किसको मारोगे तुम किसको धनमध्य रखोगे ?
हमको हे इन्द्र ! धनमध्य रख देना (हे शुभवाह) ॥

'धीयते' और 'धना' शब्दों के परस्पर सान्निध्य से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि यहाँ 'धन' की निरुक्ति भी देना चाहता है—धीयते अनेन, अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य धारण किया जाता है। धन प्रत्येक अवस्था में रुपया पैसा ही

१. पा. ७।४।५४,५८—सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस। अत्र लोपोऽभ्यासस्य।

नहीं होगा, यह इस निरुक्ति से स्पष्ट है। जो भी वस्तु मनुष्य को परिस्थिति-विशेष में धारण करने वाली हो, वही उस समय धन होगी। जीवन के संघर्ष में जो व्यक्ति वीरतापूर्वक आचरण करता है, उसे ईश्वर अधिक उत्साहरूपी धन प्रदान करता है। दो हरि (घोड़े, हरण करने वाले) सम्भवतया द्विगुणित इच्छाशक्ति के प्रतीक हैं। ऐसी इच्छाशक्ति वाला मनुष्य धन (वसु) के मध्य रहता है अर्थात् प्रभूत धन प्राप्त करता है। वसु शब्द से उस धन का अभिप्राय है जो आच्छादन करता है अर्थात् निवास या सुरक्षा प्रदान करता है।

सायण ने इस मन्त्र की व्याख्या में निम्नलिखित आख्यान दिया है :—
"रहूगणपुत्रो गोतमः कुरुसृञ्जयानां राज्ञां पुरोहित आसीत्। तेषां राज्ञां परैः सह युद्धे सति स ऋषिरनेन सूक्तेनेन्द्रं स्तुत्वा स्वकीयानां जयं प्रार्थयामास॥" (रहूगण का पुत्र गोतम ऋषि कुरु और सृञ्जय देश के राजाओं का पुरोहित था। उन राजाओं का शत्रुओं से युद्ध होने पर उस ऋषि ने इस सूक्त द्वारा इन्द्र की स्तुति करके अपने राजाओं की विजयप्रार्थना की।) किन्तु इस सूक्त में इस प्रकार के आख्यान का कोई संकेत नहीं है।

यत्—यदा (जब)।

उदीरते—अधिकांश विद्वानों के अनुसार इसका अर्थ है—'उठते हैं, उत्पन्न होते हैं (उद्गच्छन्ति, उत्पद्यन्ते)। इस क्रिया का कर्ता 'आजयः (युद्ध, संघर्ष') है। किन्तु स्क० ने इसका 'मञ्चाः क्रोशन्ति' के समान लाक्षणिक अर्थ लिया है—संग्राम में स्थित योद्धा (सङ्ग्रामस्था योद्धारः)। तदनुसार 'उदीरते का अर्थ है—स्तुतियों का उच्चारण करते हैं (तव स्तुतीः उच्चारयन्ति)। उसकी एक अन्य व्याख्या के अनुसार—आजयः, अजेर्गत्यर्थस्येदं रूपम्। त्वां प्रति गन्त्र्यः स्तुतयः, यदा उदीर्यन्ते, उच्चार्यन्ते इत्यर्थः (जब तुम्हारी ओर जाने वाली स्तुतियाँ उच्चारित की जाती हैं)। इस तिङन्त पद में भी उदात्त है क्योंकि यह वाक्य यत् शब्द से आरम्भ है—दे० पा० ८।१।६६—यद्वृत्तान्नित्यम्।

धना—सा०—धनम् (निधीयते)—जयतो धनं भवतीत्यर्थः। गेल्ड०—पुरस्कार (बोयतॅगॅविन)। स्क० का एक भिन्न अर्थ है—धिनोतेः प्रीणनार्थस्य रूपम्। धना आहुतिरिहाभिप्रेता। प्रीणयित्री सोमाहुतिरित्यर्थः। अर्थात् जब तुझ धर्षक को प्रिय सोम की आहुति अर्पित की जाती है। साधारण धन के अर्थ में स्क० और सा० दोनों ने इसे धनम् का आ आदेश माना है। (पा० ७।१।३९-सुपां सुलुक इत्यादि से डा) वें० और स्वा० द० ने धनानि अर्थ देते हुए सम्भवतया यहाँ 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।१।७०) से शिलोप माना है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मदच्युता—स्क०, वें०—मदकरं सोमं प्रति गन्तारौ (अश्वौ)—च्यवतिर्गतिकर्मा। सा०—शत्रूणां मदस्य गर्वस्य च्यावयितारौ। स्वा० द०—यौ मदान् च्यवेते प्राप्नुतस्तौ (बड़े बलिष्ठ)। गेल्ड०—मदोद्धत (उय्‌वरम्युटिगॅन)। परन्तु यहाँ √ च्युत् (आसेचने) धातु लेने से अर्थ अधिक संगत बनता है—मद या आनन्द की वर्षा करने वाले। सम्भवतया इसी आधार पर मक्स० ने इसका अर्थ 'आह्लादक' (एन्‌ प्चरिंग) किया है। यह उपपदसमास है, अतः यहाँ कृदन्त पद पर उदात्त है—दे० पा० ६।२।१३९—गतिकारकोपपदात् कृत्।

युक्ष्व—यह द्व्यक्षर अकारान्त तिङन्त पद संहिता में दीर्घ है—पा० ६।३।१३५—द्व्यचोऽतस्तिङः। वाक्य के आरम्भ में होने के कारण यह तिङन्त पद सर्वानुदात्त नहीं है। (दे० वै० व्या०, पृ० ८७७)। √युज् से लोट् म० पु० एक०, 'बहुलं छन्दसि' से विकरण का लोप

हरी—इन्द्र के दो घोड़े। शारीरिक रूपक की दृष्टि से ये प्राण और अपान भी हो सकते हैं।[1] अरविन्द के अनुसार ये अतिमानस सत्य-चैतन्य की दो दर्शनशक्तियाँ हैं—एक सीधा सत्योद्‌घाटन, दूसरी अन्तःप्रेरणा।[2] पदपाठ में इसके आगे इति शब्द इसका प्रगृह्यभाव बताने के लिये जोड़ा गया है।[3]

कम् कम्—अधिकांश भारतीय भाष्यकारों ने इन शब्दों को प्रश्नसूचक न मानकर अनिश्चयात्मक बना दिया है, यथा सा.—कञ्चित् राजानं तव परिचरणमकुर्वन्तम्। परन्तु जैसा कि गैल्डनर ने किया है, इन्हें प्रश्नसूचक मानना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि उस स्थिति में अपनी ओर से कोई कल्पना नहीं करनी पड़ती।

हनः—हन्याः, जहि (मारो)। हिन्दी में ऐसी स्थिति (प्रश्नसूचक वाक्य) में इच्छार्थक क्रिया को भविष्यत्काल द्वारा व्यक्त करना पड़ता है। यह √ हन् से लेट् सिप् अडागम सहित म० पु० एक० का रूप है। तिङन्त पद होते हुए भी यह उदात्त है क्योंकि इसका और अगली क्रिया का संयोजक 'च' लुप्त है। दे० पा० ८।१।६३—चादि लोपे विभाषा।

वसौ—वसु (नपुं०) से वसुनि रूप होना चाहिये। यहाँ वेद में लिङ्गव्यत्यय होकर पुंल्लिङ्ग के समान रूप बना है।

अस्मान्—यद्यपि सब भाष्यकार इसका अर्थ 'हमें' ही करते हैं, तथापि सा० ने आरम्भ में दिये गये आख्यान के अनुसार 'हमारे राजाओं को' (अस्म-

---

१. दे. वा. श. अ., वेदविद्या, पृ. २८८।
२. मोरोवन्दोज वेदिक ग्लॉस्सरी, पृ. ४२० २१।
३. वै. व्या. भा. १, पृ. १९२, अनु. ८८।

दीयान् राज्ञ:) अर्थ किया है। संहितापाठ म अन्त्य न् का लोप होकर उपधा का आ अनुनासिक बन गया है।[1] छन्द को ध्यान में रखते हुए इसका पाठ सन्धि-विच्छेद करके 'अस्मान्' करना चाहिये।

क्रत्वा॑ म॒हाँ अ॑नुष्व॒धं भी॒म आ वा॑वृधे॒ शव॑:।
श्रि॒य ऋ॒ष्व उ॑पा॒कयो॒र्नि शि॒प्री हरि॑वान् दधे॒ हस्त॑यो॒र्वज्र॑माय॒सम् ॥४॥

क्रत्वा॑। म॒हान्। अ॒नु॒ऽस्व॒धम्। भी॒मः। आ। व॒वृ॒धे॒। शव॑:। श्रि॒ये। ऋ॒ष्वः। उ॒पा॒कयो॑:। नि। शि॒प्री। हरि॑ऽवान्। द॒धे॒। हस्त॑यो:। वज्र॑म्। आ॒य॒सम्॥

कर्म से महान् स्वास्थ्य के अनुकूल
भयानक (वह), समन्ततः बढ़ा हुआ बल (उसका)।
शोभाहित गतिमय सहवर्तियों में
वेगवान् वह अश्वों से युक्त धारण किये हुए है
दोनों हाथों में वज्र लौह-निर्मित (बल सबका)॥

जिस प्रकार पिता अथवा अध्यापक का भय शिशु को स्थिर रखने में, अपने मार्ग से विचलित न होने देने में सहायक होता है, उसी प्रकार मनुष्य को पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिये परमेश्वर विभिन्न प्रकार से अपनी भयावहता का परिचय देता रहता है। मनुष्य को उसका महान् बल दिखाई देता है, उसकी गति दिखाई देती है। उससे वह अपनी शोभा के प्रति आश्वस्त हो जाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने दोनों हाथों में अस्त्र-शस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार ईश्वर अपनी सभी अधीनस्थ शक्तियों में या पृथिवी और आकाश में शक्ति के प्रतीकभूत वज्र को धारण किये रहता है। ईश्वर का वह बल मानो सबका बल है। उपर्युक्त सभी बातें इन्द्र को मन मानने पर भी उसके अनुकूल ही सिद्ध होती हैं क्योंकि मन बहुत शक्तिशाली है।

क्रत्वा'—सभी भारतीय भाष्यकार—कर्मणा, सा०, स्वा० द०—प्रज्ञया भी, अर०—कर्मप्रेरक इच्छाशक्ति, मक्स०, मै०—पॉवर, विज्डम, गेल्ड०—अन्तर्दृष्टि (आइन्जिश्त), ग्रास०—शारीरिक या मानसिक शक्ति, निपुणता, अन्तर्दृष्टि, बोध इत्यादि (लाइवेंस्क्राफ़्त, गाइतॅस्क्राफ़्त त्युशितग्काइत, फ़ेर्श्टांड)। यहाँ वेद में तृतीया एक० में टा (आ) विभक्ति के स्थान पर ना नहीं हुआ (दे० वार्तिक—जसादिषु छन्दसि वावचनम्) क्रतु से तु० यू० क्रत्रतोस्।

अनुष्वधम्—सभी प्राचीन भारतीय विद्वान् यहाँ निघण्टु के आधार पर

---

१. वै. व्या. भा. १, पृ. १०४, अनु. ५२ (ख)। पा. ८।३।९—दीर्घादटि समानपादे, पा. ८।३।३—आतोऽटि नित्यम्।

स्वधा का अर्थ 'अन्न' मानकर व्याख्या करते हैं। उसी प्रकार स्वा० द० भी। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने स्वधा के 'अपनी इच्छा' (ग्रास०) 'अपनी शक्ति, आनन्द' (मै०), 'अपना विधान, निर्णय' (गेल्ड०), 'अपनी प्रकृति' (मक्स०) आदि अर्थ किये हैं। अर० ने इसे 'प्रकृति की आत्म-व्यवस्था' माना है। सभी आधुनिक विद्वानों ने अनुष्वधम् में अनु का अर्थ 'अनुसार' लिया है—'अपनी इच्छा, शक्ति आदि के अनुसार'। स्क०, वें०—सोमपानानन्तरम् (स्वधा=अन्न=सोम)। एक अन्य मन्त्र (ऋ० ३।४७।१) की व्याख्या में यास्क (नि० ४।८) ने 'अन्वन्नम्' अर्थ ही दिया है। और सा० ने वहाँ उपर्युक्त अर्थ ही दिया है—स्वधामनुगम्य वर्तमानम्। परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में सा० का अर्थ है—स्वधायाम्। विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। सोमलक्षणस्यान्नस्य पाने सतीत्यर्थः (जब सोमरूपी अन्न का पान हो रहा हो)। स्वा० द०—अन्नमनुकूलम् (अन्न के अनुकूल)। मै० ने स्वधा के मूल में स्व (अपना) और धा (रखना) मानकर इससे यूनानी 'हेथोस्' (प्रथा) की तुलना की है। इसकी निरुक्ति 'स्वस्मिन् दधाति' भी हो सकती है—जो मनुष्य को अपने आप में (शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से) रखता है, अर्थात् स्वास्थ्य; अनुष्वधम्—स्वास्थ्य के अनुकूल।

आ, वृवृधे—इस क्रियापद का अर्थ भीमः और शवः की स्थिति पर निर्भर है। प्रायः सभी विद्वानों ने 'भीमः' को इसका कर्ता और 'शवः (द्वि०) को इसका कर्म मानकर इसे णिजन्त-रूप में स्वीकार किया है—वह भयानक बल को सब ओर से बढ़ा रहा है, या उसने बढ़ाया है (बलम् आभिमुख्येन प्रावर्धयत्, वर्धयति)। किन्तु यदि 'भीमः' पर पूर्व वाक्य का अन्त मान लिया जाये, और आ ववृधे शवः को स्वतन्त्र वाक्य मान लिया जाये तो णिजन्त रूप की कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती—वह महान्...भयानक (है), (उसका) बल समन्ततः बढा हुआ है। इस स्थिति में 'शवः' (प्रथमा० एक०) कर्ता है।

ऋष्वः—'ऋषिर्दर्शनात्' व्युत्पत्ति के आधार पर सभी प्राचीन भारतीय विद्वान् इसका अर्थ 'दर्शनीय' करते हैं। स्वा० द०—प्राप्तविद्यः, अर०—शक्तिशाली, परम। इसके विपरीत सभी पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ ऊँचा, उदात्त, ऊर्ध्व' करते हैं। गेल्ड०—सुविस्तृत (रेक्कॅ)। किन्तु √ऋष् (गतौ) से निर्वचन मानने पर इसका अर्थ 'गतिशील' होगा। √ऋष् से तु० अं० रश्।

उपाकयोः—यास्क (नि० ८।११)—उपाके—उपक्रान्ते (उपगम्य इतरेतरं क्रान्ते), स्क०—अन्तिकस्थयोर्द्यावापृथिव्योः (श्रिये)। कस्य पुनः द्यावापृथिव्यावन्तिकस्थे, इन्द्रस्य। तथाह्यमी ते उभे अपि क्षणेनैकेन सञ्चरते। अथवा परस्परस्यान्तिकस्थे द्यावापृथिव्यौ। यावद्धि मक्षिकायाः पत्रं तावद्

द्यावापृथिव्योरन्तरम् इत्युपनिषद्विदः पौराणिकाश्चाचक्षते । तेनोपपन्नमनयोः परस्परान्तिकस्थानत्वम् । वें०, सा०—समीपवर्तिनोर्हस्तयोः, स्वा० द०—समीपस्थयोः सेनयोः (अपनी और शत्रु की सेनाओं के समीप) । गेल्ड०—परस्पर-सम्बद्ध दोनों हाथों में ।

शिप्री—यास्क (नि० ६।१७) ने सृप्र शब्द की निरुक्ति √ सृप् (सर्पण करना) से बताते हुए 'सुशिप्र' की व्याख्या भी इसी (सृप्) से की है (सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम्), फिर 'शिप्रे' का अर्थ ठोड़ी या नासिका (हनू नासिके वा) बताया है । स्क०, वें०, सा० ने इसे स्वीकार किया है, तदनुसार—हनुमान् या नासायुक्त । किन्तु स्क० ने एक मन्त्रांश 'शिप्राः शीर्षसु विततः' (ऋ० ५।५४।११) उद्धृत करके 'शिप्राः' का अर्थ शिरस्त्राण माना है, शिप्री—शिरस्त्राणयुक्त । स्वा० द०—शत्रूणामाक्रोशकः (शत्रुओं को रुलाने वाला) । पाश्चात्य विद्वान्—जबड़े या ओष्ठों से युक्त । परन्तु √ सृप् से निर्वचन करने पर इसका अर्थ 'सर्पणशील' या 'गतिवान्' हो सकता है ।

आयसम्—सा०-अयोमयम् (अयोनिर्मित या लौहनिर्मित), मक्स०, मै०—लौहनिर्मित, ग्रास०—पीतल का बना या लोहे का बना, गेल्ड०—पीतल का बना । अयस् से तु० ज० आइज़ॅन् । लोह दृढ़ता का प्रतीक है । लौहनिर्मित वज्र=सुदृढ़ वज्र ।

आ प॒प्रौ पार्थिवं॒ रजो॑ बद्ब॒धे रो॑च॒ना दि॒वि ।
न त्वावाँ॑ इन्द्र॒ कश्च॒न न जा॒तो न ज॑निष्य॒तेऽति॒ विश्वं॑ ववक्षिथ ॥५॥

आ । प॒प्रौ । पार्थिवम् । रजः॑ । ब॒द्ब॒धे । रो॒च॒ना । दि॒वि । न । त्वाऽवा॑न् । इ॒न्द्र॒ । कः । च॒न । न । जा॒तः । न । ज॒नि॒ष्य॒ते॒ । अति॑ । विश्व॑म् । व॒व॒क्षि॒थ ॥

सब ओर भरा है पार्थिव थल को,
बाँध दिया है उसने द्युतिशील (ग्रहों) को नभ में ।
नहीं तव सदृश इन्द्र ! है कोई,
न (तो) हुआ उत्पन्न (आज तक और) न होगा (कोई),
अत्यन्त विश्व से बढ़े हुए हो (तुम वैभव में) ॥

ईश्वर तथा मन सर्वव्यापी हैं । आकाश में जो बड़े बड़े ग्रह-नक्षत्र विद्यमान हैं, वे सब उसके नियन्त्रण में या उसकी पहुँच में हैं (तमेव भान्तमनु भाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति; तथा दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु) । ऐसी सत्ता से बढ़ कर और क्या हो सकता है । वही सर्वोपरि है । पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, ग्रह-नक्षत्र, सब उसके वशीभूत हैं ।

आ, पप्रौ—स्क०—वृष्टिद्वारेण आपूरयति, सा०—तेजसा आपूरयति, स्वा० द०—प्रपूर्ति (पूरित कर रहा है), वें०—कामैः आपूरयामास (पूरित कर दिया है)—इसी प्रकार गेल्ड०। √प्रा० लिट्, प्र० पु० एक०।

रजः—स्क०, वें०—(पार्थिवं) लोकम्, इसी प्रकार गेल्ड०—पृथ्वी के स्थान को, सा० ने पार्थिवम् को रजः का विशेषण न मानकर दोनों को पृथक् संज्ञाएँ माना है—पृथिव्याः सम्बन्धि वस्तुजातम्, अन्तरिक्षलोकं च (रजन्त्यस्मिन् गन्धर्वादय इति रजः अन्तरिक्षम्)। स्वा० द० ने पार्थिव को विशेषण तो माना है, किन्तु उसमें अन्तरिक्ष को सम्मिलित कर लिया है—पृथिवीमयं पृथिव्यामन्तरिक्षे विदितं वा रजः परमाण्वादिकं वस्तु लोकसमूहं वा (पृथिवी और प्रकाश में वर्तमान परमाणु और लोक में)। रजः का सीधा अर्थ 'लोक, स्थल' है (लोका रजांस्युच्यन्ते. नि० ४।१९)। यहीं निरुक्त में रजः की निरुक्ति 'रजो रजतेः' (रञ्ज्—'रंगना' से) देकर अन्य अर्थ भी दिये हैं—ज्योती रज उच्यते, उदकं रज उच्यते, असृगहनी रजसी उच्येते। माधव की निरुक्ति भिन्न है—रजो रजतेर्गतिकर्मणः—गम्यन्ते हि पुण्यकृद्भिर्लोकाः। अर०—लोक, चेतना का अवस्थान।

बद्बधे—स्क०—बध्नाति, वें०—बबन्ध, सा०—बबन्ध, स्थापितवान् (बाँधा अर्थात् स्थापित किया—टिकाया)। स्वा० द०—बीभत्सते (एक दूसरे वस्तु के घर्षण से बद्ध करता है)। गेल्ड०—बाँधा है। वाक्य के आरम्भ में होने के कारण सर्वानुदात्त नहीं है। √बध् लिट् प्र० पु० एक०, अभ्यास में केवल 'ब' (आरम्भिक हल्) रहना चाहिये था, किन्तु वैदिक व्यत्यय से ऐसा नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त, आत्मनेपद में अभ्यास लोप होकर ब को एत्व होकर बे बनना चाहिए था, वह भी नहीं हुआ।

रोचना—रोचमानानि दीप्तानि नक्षत्रादीनि, स्क० ने नक्षत्रों को बाँधने की बात की पुष्टि इस प्रकार की है—नक्षत्रादीनां हि दिवि व्यवस्थितानां धर्मो मूलम्। स च वृष्टिमूलम्। अत इदमुच्यते। उसकी एक अन्य व्याख्या—अथवा आदित्योऽत्र रोचनोऽभिप्रेतः। द्वितीयैकवचनस्यायमाकारादेशः। महत्तमस्तन्वन्तं वृत्रं हत्वा दर्शनार्थं दिवि सूर्यमारोपितवान् इत्यर्थः। रोचनम् के स्थान पर रोचना व्यत्यय मानने के कारण यह व्याख्या दूराकृष्ट हो गई है। अन्यथा 'शेश्छन्दसि बहुलम्' से सीधा ही नपुं० द्वि० बहु० का 'रोचना' रूप प्राप्त होता है।

त्वावान्—त्वत्सदृशः, युष्मद् + वतुप् (सा०-वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्), त्वद् का त्वा (आ सर्वनाम्नः, पा० ६।३।९१)।

अति, ववक्षिथ—स्क०—अतीत्य सर्वान् महान् भवसि (ववक्षिथ, विवक्षसे—निघं ३।३—महन्नामसु पाठात्)। वें०—सर्वमतिवहसि, सा०—जगत् अतिशयेन वोढुमिच्छसि, सर्वस्य जगतो निर्वाहको भवसीत्यर्थः, स्वा० द०—वक्षसि (यथायोग्य नियम में प्राप्त करता है, हे ईश्वर ऐसा तू स्तुत्य है, और कोई नहीं)। √वह् प्रापणे+सन् से व के अ को इ होना चाहिये था (सन्यतः)। किन्तु 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' से वह नहीं हुआ। सन्नन्त से (सन्यतः), लिट् में आम् प्रत्यय होना चाहिये था, किन्तु वेद में 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (पा० ३।१।३५) से निषेध के कारण आम् नहीं हुआ।

यो अर्यो मर्तभोजनं पराददाति दाशुषे।

इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु वि भजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः ॥६॥

यः। अर्यः। मर्तऽभोजनम्। पराऽददाति। दाशुषे। इन्द्रः। अस्मभ्यम्। शिक्षतु। वि। भज। भूरि। ते। वसु। भक्षीय। तव। राधसः॥

जो स्वामी मर्त्य का (पालक) भोजन
प्रदान करता है दानी को (जो बांट कर खाता)।
(वह) इन्द्र हमें दे शक्ति (दान की)
बाँट दो (सबमें), विपुल तुम्हारा धन (जीवन योग्य),
भोग करूँ तुम्हारे धनांश का (जिससे हूँ सब पाता)॥

ईश्वर ने सभी पदार्थ बाँट कर भोग करने के लिये बनाये हैं। इसी प्रकार मन शुद्ध स्वरूप में स्वार्थरहित होता है। दानी को अधिक धन या भोज्य पदार्थ मिलने का अभिप्राय यह है कि उसे अपनी प्रवृत्ति के कारण थोड़ा धन भी अधिक लगता है। इसीलिये दान की शक्ति की अभिलाषा की गई है। दान की शक्ति दोनों प्रकार से—एक तो देय-पदार्थ का बाहुल्य, और दूसरे (उससे भी आवश्यक) देने की इच्छा। अन्त में दान की भावना से प्रेरित भक्त ईश्वर से अपना समस्त धन बाँट देने की प्रार्थना करता है, जिससे वह दान करता हुआ अपने अंश का भोग कर सके।[1]

अर्यः—स्क०—ईश्वरः, वें०—उदारः, सा०—स्वामी, स्वा० द०—सर्वस्वामीश्वरः, अर०—उच्च पुरुष, स्वामी, योद्धा, ग्रास., पीटर्सन०—उदार, शुद्ध, पवित्र। इसके विपरीत अनेक पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय विद्वानों ने इसे 'अरि' शब्द का षष्ठी एकवचन का रूप मानकर अर्थ किया है 'ऊँचे, धनाढ्य मनुष्य का' (दे० गेल्ड०—देस् होहॅन हेर्न)।[2] मक्स० ने ऋ० ४।-

१. दे. ईशोपनिषद्—१—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥
२. वै. व्या., भा. १, पृ. १६७।

२।१२, १८ में 'अर्यः' को अनुवाद में 'अर्य' रखते हुए भी उसे अर्य का षष्ठी एक० का रूप माना है। यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। यास्क (नि० ५।६) ने ऋ० ७।१००।५ की व्याख्या करते हुए 'अर्यः' को 'स्तुतियों का स्वामी स्तोता' या 'मेरे अनुग्रह के लिये समर्थ ईश्वर' माना है (अर्योऽहमस्मीश्वरः स्तोमानामर्यस्त्वमसीति वा)। पाणिनि ने 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० ३।१।-१०३) सूत्र में इसका अर्थ 'स्वामी' या 'वैश्य' बताते हुए इसकी व्युत्पत्ति √ऋ+यत् से मानी है और इस प्रकार √ऋ+ण्यत् से निष्पन्न 'आर्य' शब्द से इसका भेद स्पष्ट किया है। 'यतोऽनावः' (पा० ६।१।२१३) सूत्र के अनुसार सामान्यतया यत्—प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होते हैं, किन्तु यहाँ यह शब्द उसका अपवाद है। (दे० वार्तिक—यतोऽनाव इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च वक्तव्यम्)।

परा॒दद॑ाति—अर्थ के लिये दे० मं० २—यत् शब्द का रूप (यः) वाक्य में होने के कारण तिङन्तपद सर्वानुदात्त नहीं है। स्वा० द० ने इसका सम्बन्ध 'दाशुषे' और 'अस्मभ्यम्' दोनों से माना है—जो ईश्वर तुझ दानी और हमारे लिये...देता है।

दा॒शुषे॑—यजमानाय (सभी भाष्यकार), स्वा० द०—दानशीलाय जीवाय (दाता को)। √दाश् (दान करना)+क्वसु प्रत्यय। यह प्रत्यय लिट् के अङ्ग से परे प्रयुक्त होता है, तदनुसार अभ्यास (द्वित्व) होना चाहिये। परन्तु यह द्वित्व का अपवाद है। (दे० पा० ६।१।१२—दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च)।

शि॒क्ष॒तु—अर्थ के लिये दे० मं० २—स्वा० द० ने विद्वान् को सम्बोधित मानकर यह व्याख्या की है—हे विद्वन्...ईश्वरोत्पन्नं भवानस्मभ्यं सदा शिक्षतु (हे विद्वन् जो ईश्वर ...... उस ईश्वरनिर्मित पदार्थों की आप हमको सदा शिक्षा करो)। गेल्ड०—हमारे लिये उपयोगी हो जाये (सॉल् उन्स त्सु न्युत्सॅन् जूर्खन)।

भ॒क्षी॒य—स्क०, वें०, सा०—भजेय, प्राप्नुयाम् (प्राप्त करूँ), स्वा० द०—सेवेय (सेवन करूँ)। √भज् सेवायाम् विधिलिङ् (भक्ष् अङ्ग से) उत्तम० पु० एक० 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) के अनुसार विकल्प से आर्धधातुक संज्ञा होने पर शप् भी नहीं होगा और विधिलिङ् के 'स' का लोप भी नहीं होगा। वाक्य के आरम्भ में होने के कारण सर्वानुदात्ताभाव। तु० अवे० बख्श, यू० फगो।

राध॑सः—स्क०, सा०—धनस्यैकदेशम्, स्क०—षष्ठीनिर्देशादेकदेशमिति शेषः, विभजमानो मह्यमपि भागं देहीत्यर्थः। स्वा० द०—तव वृद्धिकारकस्य शिक्षितस्य कार्यरूपस्य धनस्य (शिक्षित कार्यरूप धन का, जो यह परमात्मा

वेद द्वारा मनुष्यों को शिक्षा न करता तो किसी को विद्या का लेश भी प्राप्त न होता, इससे विद्वान् को योग्य है कि सब के सुख के लिये विद्या का विस्तार करना चाहिये)। यास्क ने (नि० ४।४) 'राधस्' का अर्थ धन देते हुए उसका निर्वचन किया है—राध्नुवन्त्यनेन। √राध् प्राप्त करना+असुन्।

मदेमदे हि नो दुदिर्यूथा गवामृजुक्रतुः।

सं गृभाय पुरू शतोभयाहस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर ॥७॥

मदेऽमदे। हि। नः। ददिः। यूथा। गवाम्। ऋजुऽक्रतुः।

सम्। गृभाय। पुरू। शता। उभयाहस्त्या। वसु। शिशीहि। रायः। आ। भर॥

प्रति आनन्द में हमको देने वाले
झुण्ड गौओं के (स्नेह के) तुम सीधे कर्मों वाले।
सम्यक् ग्रहण करो अनेक शतों को
दोनों ही हाथों से वासयोग्य धनों को (ईश !),
कर दो पैना, धन समन्ततः ला दो (धनों वाले !)॥

ईश्वर का 'ऋजुक्रतुः' (सीधे कर्मों वाला) विशेषण सापेक्ष है। अभिप्राय यह है कि सीधे और शुद्ध कर्मों के द्वारा मनुष्य वास्तविक आनन्द प्राप्त करता है। वह कर्म का आनन्द ही उत्कृष्ट आनन्द है। उसमें मनुष्य अतुल समृद्धि का अनुभव करता है मानो उसे गौओं के झुण्ड प्राप्त हो रहे हों। गौएँ समृद्धि के साथ साथ स्नेह का प्रतीक भी हैं। कर्म का आनन्द सर्वत्र स्नेह की सरिता प्रवाहित करता है। कर्म के फल में प्राप्त हुआ धन ही उत्तम धन है। इसीलिये ईश्वर से उस सभी धन का सम्यक् विभाजन कर पैना करने की प्रार्थना की गई है। पैना धन वही है जो संघर्ष से प्राप्त हुआ हो और जो प्राप्त करने वाले के जीवन में गहरा प्रवेश करके उसे वास्तविक सुख प्रदान करे। जो धन आलस्य को काट सके, वही पैना धन है। जो धन निर्दोष, निष्कलङ्क हो, वही पैना धन है। जिस प्रकार घिसने से लोहा पैना होता है, उसी प्रकार दान से धन पैना होता है। इसीलिये जहाँ धन की कामना की गई है, वहाँ 'रायः' (√रा-दान करना-से निष्पन्न) शब्द का प्रयोग है।

मदेमदे—स्क०, वें०, गेल्ड०—सोम के प्रत्येक नशे में, उन्मत्तता प्राप्त करके, सा०—सोमपानेन हर्षे हर्षे सति, स्वा० द०—हर्षे हर्षे (आनन्द आनन्द में)। यह द्विरुक्त समास है। यद्यपि पाणिनि ने इसे स्पष्ट समास नहीं माना तथापि स्वरविवेचन के अवसर पर इसका स्वर समास स्वर के समान बताया है। इसके अतिरिक्त पदपाठ में इसके दोनों पदों को अवग्रह के द्वारा पृथक् किया गया है (दे० वै० व्या० भा० १, पृ० ४३०-३१)।

दुदिः—दाता, √दा (दाने)+कि प्रत्यय (आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च, पा० ३।२।१७१), लिट्वत् होने के कारण धातु को द्वित्व।

ऋजुक्रतुः—सभी भारतीय भाष्यकार—ऋजुकर्मा (सीधे कर्मों वाला), स्क० और स्वा०द० ऋजुप्रज्ञः (सीधी बुद्धि वाला) भी। ग्रास०, गेल्ड०—ठीक बुद्धि वाला (रेश्तगेज़िन्त)। इस पद में बहुव्रीहि समास है, और तदनुसार सामान्यरूप से पूर्वपद में उदात्तत्व होना चाहिए (बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्—पा० ६।२।१)। किन्तु व्यत्ययवश यहाँ उत्तरपद आद्युदात्त है। (दे० पा० ६।२।१९९ पर वार्तिक—परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते। पूर्वादयश्च दृश्यन्ते व्यत्ययो बहुलं ततः॥)

सं गृभाय—सम्यक् गृहाण, संगृहाण (अच्छी प्रकार ग्रहण करो, संग्रह करो)। ग्रास०, गेल्ड०—संग्रह करो (राफ़ फ़ॅ)। √ग्रह् (पाश्चात्य विद्वान्—√ग्रभ्)[1] से लोट् म० पु० एक० में श्ना विकरण के स्थान पर वेद में शायच् (आय) भी (पा० ३।१।८४—छन्दसि शायजपि)।

उभयाहस्त्या—उभाभ्यां हस्ताभ्याम्—दोनों हाथों से। स्वा० द०—समन्तादुभयत्र हस्तो येषु कर्मसु तानि तेषु साधूनि (वसु—वसूनि का विशेषण)। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) के अनुसार पूर्वपद 'उभय' के अन्त में दीर्घत्व, 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र के द्वारा उत्तर पद के अन्त में 'ड्या' आदेश। समस्तपद होने पर भी पदपाठ में अवग्रह द्वारा इसके पृथक्करण का अभाव ध्यान देने योग्य है। (दे० अ० प्रा० ४।५०—यस्य चोत्तरपदे दीर्घो व्यञ्जनादौ)[2]। छन्द को ध्यान में रखते हुए इसका और पूर्व शब्द 'शता' का पाठ सन्धिविच्छेद करके और इसका 'उभयाहस्तिआ' किया जाना चाहिये।

वसु—स्क०—वसूनां धनानां (शतानि), षष्ठ्यर्थे प्रथमैषा। शेष सभी भाष्यकार—वसूनि, धनानि (सुपां सुलुक् इत्यादि से विभक्तिलोप)।

शिशीहि—स्क०—श्यतिः संस्कारार्थः संस्कुरु, दानयोग्यानि (धनानि शतानि) कुर्वित्यर्थः। वें०—धनेन चास्मान् तीक्ष्णीकुरु, सा०—अस्मान् तीक्ष्णीकुरु, निशितबुद्धियुक्तान् कुर्वित्यर्थः, स्वा० द०—शिनु (अत्र बहुलं छन्दसीति श्लुरन्येषामपीति दीर्घश्च—द्रव्यों का प्रबन्ध कीजिये)। गेल्ड०—हमें उत्तेजित कीजिये (श्पॉर्न ऊन्स् आन)। नि० ५।२३ में यास्क ने √शि को दानार्थक माना है (शिशीतिर्दानकर्मा)। यद्यपि धातुपाठ में 'शिञ् निशाने' है

---

१. पा. पर वार्तिक—हृग्रहोर्भश्छन्दसि।

२. पूर्वपद का अन्त दीर्घ होने पर अवग्रह द्वारा पृथक्करण नहीं होता, दे. वै. व्या. खं. १, पृ. १९७।

तथापि यास्क का अनुसरण करते हुए मुकुन्द बख्शी झा ने टिप्पणी की है—'निशानमिह दानं न तु तीक्ष्णीकरणम्'। उस प्रसङ्ग में सा० ने मूल अर्थ 'तीक्ष्णीकुरु' देकर उसे उपलक्षण मानकर व्याख्या की है—प्रदानेनास्मान् प्रसिद्धान् कुर्वित्यर्थः। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यहाँ या तो √शो (तनूकरणे) हो सकता है या √शिञ् (निशाने)। सा० ने √शो से व्युत्पत्ति की है। तदनुसार 'बहुलं छन्दसि' से विकरण का 'श्लु', फिर अभ्यास आदि होकर लोट् म० पु० एक० का रूप बनता है। पाश्चात्य विद्वान् इसमें √शा (पैना करना) जुहोत्यादि०, मानते हैं। धातु के इस मूल अर्थ से विकसित होकर 'उद्यमी होना, पैना होना; त्वरा करना आदि' अर्थ होते हैं।[1]

आ, भर—धनानि आहर देहि, प्रयच्छ अस्मभ्यम्। स्वा०द०-विद्यासुवर्णादिधनसमूहान् समन्तात् धेहि। इनके अनुसार इस मन्त्र का कर्ता 'विद्वान्' है। उसको सम्बोधित करके कहा गया है कि तू इन्द्रियों और पशुओं के समूहों को चारों ओर से धारण कर। √हृ (पाश्चात्य विद्वान्—√भृ) लोट् म० पु० एक०।

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे।
विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव ॥८॥

मादयस्व। सुते। सचा। शवसे। शूर। राधसे। विद्म। हि। त्वा।
पुरुऽवसुम्। उप। कामान्। ससृज्महे। अथ। नः। अविता। भव ॥

प्रमुदित करो रससृष्टि में, साथ ही
बलके लिये हे वीर! (हमें) धन (—प्राप्ति) के लिये।
जानते ही हम तुम्हें विपुलधन,
निकट (तुम्हारे) इच्छाओं को प्रकट कर रहे,
अब हमारे रक्षक हो जाओ (ऐश्वर्य के लिये)॥

ईश्वर और मन से प्रार्थना है कि वे ऐसी शक्ति प्रदान करें जिससे रससृष्टि अर्थात् स्थायी आनन्द की प्राप्ति के लिये चेष्टा करते हुए हम प्रसन्न रहें। किन्तु स्थायी आनन्द के प्रयत्न का यह अर्थ नहीं कि हम शारीरिक बल को और भौतिक समृद्धि को पूर्णतया त्याग दें। कारण यह कि यह धमसाधन के या मोक्ष के लिये अत्यन्त आवश्यक है (शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्)। ईश्वर से यह प्राथना इसलिये की गई है क्योंकि वह 'पुरुवसु' विपुल धन वाला

1. वै. व्या. (पृ. ५१६) में डॉ. राम गोपाल ने एक स्थल पर इसके मूल में √शी दी है।

है। यहाँ धन के लिये 'राधस्' (√राध् संसिद्धौ) और 'वसु' (√वस् आच्छादने) शब्दों का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। हमें राधस् चाहिये क्योंकि वह विभिन्न पदार्थों को प्राप्त कराने वाला है (राध्नोति अनेन), और ईश्वर के पास बहुत अधिक वसु है अर्थात् बहुत विशाल शरण है। ऐसी विशाल शरण वाले के सम्मुख ही इच्छाएं प्रकट करनी चाहियें क्योंकि उसी में सब कुछ देने और सबकी रक्षा करने का सामर्थ्य है—किसी दूसरे में नहीं।

मादयस्व—स्क०, सा०—तृप्यस्व, तृप्तो भव (सोमेन), गेल्ड०—अपने आपको उन्मत्त करो (बॅराओशॅ दिश), वें०—अस्मान् मादयस्व, स्वा० द०—अस्मान् आनन्द प्रापय (हे सेनापति, शूर, हमें आनन्द कराया कर)। वाक्य के आरम्भ में होने के कारण तिङन्त पद में उदात्तत्व।

सु॒ते—सोमेऽभिषुते (सोम का अभिषवण होने पर); स्वा० द०—उत्पन्नेऽस्मिन् जगति (इस उत्पन्न जगत् में)। सोम का अभिषवण रससृष्टि का प्रतीक है। जैसे पत्थर पर रगड़ कर सोम का रस निकलता है, उसी प्रकार संघर्ष से जीवन में रस या आनन्द की सृष्टि होती है।

सचा—साथ, सह, स्क०-सर्वैर्ऋत्विग्भिरभिषुतेऽस्मिन् सोमे। अथवा सचेत्येतन् मादयस्वेत्येतेन सम्बध्यते, सह तृप्यस्व, केन, सामर्थ्यात् स्वसखैर्मरुद्भिः। वें०—सहायभूतः, सा०—अस्माकं सखा सन्। स्वा० द०—सुखसमवेतेन युक्ताय (बलाय)। ग्रास०, गेल्ड०—सोमाभिषवण के साथ साथ (बाइ दॅम आउस्गॅप्रेश्तॅन सोम)।

पु॒रू॒ऽवसु॑म्—बहुत धन वाले को, स्वा० द०—बहुषु धनेषु वासयितारम् (बहुत धनों में बसाने वाले), पुरु शब्द का अन्तिम स्वर संहितापाठ में दीर्घ है। बहुव्रीहि समास होने पर भी उत्तरपद के आदि में उदात्त के लिये दे० मं० ७ में 'ऋ॒जुक्र॑तुः' तथा वै० व्या० भाग २, पृ० ८६५।

उप॑, स॒सृ॒ज्महे॑—स्क०, वें.—उपसृजामः, त्वयि निक्षिपामः। सा०—अस्मदीयान् कामान् मात्रा गवा वत्सानिव त्वया खल्वेकीकुर्मः। स्वा० द०—उप सामीप्ये निष्पादयेम (आपका आश्रय करके हम अपनी कामनाओं को सिद्ध करें।) गेल्ड०—हमने अपनी कामनाओं को आप पर डाल दिया है (वीअर हाबॅन दीअर उन्सॅरॅ व्युन्शॅ आउस्गेश्युत्तॅत)। सा०—√सृज् विसर्गे लट् उ० पु० बहु० 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः, पाश्चात्य विद्वान्—सृज् लिट् उ० पु० बहु०। प्रत्यय का आदिस्वर उदात्त। 'हि च' (पा० ८।१।३४) के अनुसार 'हि' शब्द के साथ संयोग होने पर तिङन्त पद भी सर्वानुदात्त नहीं है।[1]

---

१. छन्द की दृष्टि से अन्तिम पाद का उच्चारण ऐसे करना चाहिये—भवा नो अविता भव॥

एते तं इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् ।
अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥९॥

एते । ते । इन्द्र । जन्तवः । विश्वम् । पुष्यन्ति । वार्यम् । अन्तः । हि ।
ख्यः । जनानाम् । अर्यः । वेदः । अदाशुषाम् । तेषाम् । नः । वेदः । आ । भर ॥

ये तुम्हारे हे इन्द्र ! प्राणी (सब)
सभी को पुष्ट करते हैं वरणीय वस्तुओं को ।
भीतर किन्तु देखते तुम जनों के,
स्वामी धन को दानरहितों के (सङ्ग्रहभूत जो),
उनका हमको धन ला दो (सम करो जन्तुओं को) ॥९॥

प्रकृति का नियम है कि सभी प्राणी अपने अभीष्ट पदार्थों का संग्रह करते हैं, उनको सुरक्षित रखते हैं। मनुष्य उन पदार्थों का संवर्धन-पोषण भी करता है। इस शाश्वत नियम के साथ जुड़े हुए एक दोष की ओर संकेत किया गया है। वह दोष यह है कि संग्रह करते हुए प्राणी अन्य प्राणियों की आवश्यकताओं को भूल जाते हैं। उससे संसार का सन्तुलन बिगड़ सकता है परन्तु ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वान्तिर्यामी होने के कारण सब को देखता रहता है और अनुचित संग्रह करने वाले को अन्य प्राणियों की आवश्यकताओं के प्रति सचेत करता रहता है। इसीलिये उससे संसार में समविभाजन द्वारा सन्तुलन बनाये रखने की प्रार्थना की गई है।[1]

जन्तवः—स्क०, वें०—तव स्वभूता मनुष्याः, सा०—तव स्वभूता यजमानलक्षणा जनाः, स्वा० द०—जीवाः, ग्रास०-अपने आदमी, सेवक (आनगेह्योरिगॅ, दीनर), गेल्ड०—लोग (लोय्तॅ)—इसने इस शब्द का सम्बन्ध 'ते' (तुम्हारे) से नहीं माना है। तदनुसार 'ते' (चतुर्थी) का अर्थ 'तुम्हारे लिये' है (फ़्यूर दिश)। अन्यत्र (ऋ० ७।२१।५ में) सायण ने भी जन्तु का अर्थ प्राणी किया है।

वार्यम्—स्क० वारि इत्युदकनाम, तत्र भवम्, यावत् किञ्चिदुदकभवं तत्सर्वं त्वत्प्रभवया वृष्ट्या पुष्णन्तीत्यर्थः; वें०—धनम्, सा०—सर्वैर्भजनीयं हविः, स्वा० द०—स्वीकर्तुमर्हं विश्वं जगत् पुष्यन्ति आनन्दयन्ति (स्वीकार के योग्य जगत् को पुष्ट करते हैं)। ग्रास०—बहुमूल्य खजाना, गेल्ड०—अभीष्ट सम्पत्ति (वॅगेरॅन्ज्वेर्तन, बॅज़ित्स)। यास्क (नि० ५।१) ने इस शब्द का निर्वचन

१. यह मन्त्र वैदिक साम्यवाद की भावना का सुन्दर उदाहरण है।

यह दिया है—वार्यं वृणोतेरथापि वरतमम्—वरणीय पदार्थ, सबसे श्रेष्ठ। छन्द को ध्यान में रखते हुए इस पद का उच्चारण 'वारिग्रम्' किया जाना चाहिये।

अन्तः, ख्यः—स्क०—अत्यन्तभक्तं मनः अन्तस्थं पश्यसि, भक्ततां जानासीत्यर्थः, वें०—अन्तःपूर्वः ख्यातिस्तिरोधानार्थः, सा०—मध्ये विद्यमानं (धनं) पश्यसि, स्वा० द०—मध्ये (जनानाम्) प्रकथयसि (मनुष्य आदि प्राणियों के मध्य उपदेश करता है)। गेल्ड०—तुम अन्तर्दृष्टि रखते हो। वाक्य में 'हि' होने के कारण तिङन्त पद ख्यः उदात्त है। √ख्या प्रकथने (अयं दर्शनार्थोऽपि), वर्तमाने छान्दसो लुङ्—म० पु० एक०, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' के अनुसार अट् का अभाव।

जनानाम्—अदाशुषां जनानाम् (दानादि भावना से हीन जनों के), छन्द के अनुसार इसका उच्चारण 'जनानग्रम्' होना चाहिये (दे० ग्रास०)।

वेदः—धनम्, √विद् लाभे+असुन् (उणादि०—४।१८८-२२०), गेल्ड० अपनी वस्तुएं—सम्पत्ति। स्वा० द०-विदन्ति सुखानि येन तद्धनम्।

नः, आ, भर—उन दानहीन जनों का धन हमें ला दो। सा०—अयजमानेषु विद्यमानं धनं यागानुपयुक्तत्वात् व्यर्थमेव भवेत्। अतस्तस्य धनस्य सार्थकत्वाय तदीयं धनमपहृत्य यजमानेभ्यः प्रयच्छेति तात्पर्यार्थः।

उषाः

उषःसम्बन्धी सूक्त ऋग्वेद के उत्कृष्ट काव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस देवी की स्तुति लगभग २० सूक्तों में हुई है। द्युस्थानीय यह देवी अपने पूर्ण प्राकृतिक रूप में वर्णित हुई है। इसमें जगद्धर्त्री मातृशक्ति का अस्पष्ट रूप दिखाई देता है। इसीलिये यह उदार (मघोनी) अपने उपासकों को विपुल सम्पत्ति प्रदान करती है—**सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती** (ऋ० १।४८।१)। उदार व्यक्तियों को यह वीर-सन्तति से युक्त यश देती है—**एषु धा वीरवद् यश उषो मघोनि सूरिषु** (ऋ० ५।७९।६)। सभी जीवों को यह गति के निमित्त जगाती है—**विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती** (ऋ० १।९२।९)। किन्तु इसका आह्वान नास्तिक और आलसी व्यक्तियों को सोता हुआ छोड़कर केवल भक्तों और उदार व्यक्तियों को जगाने के लिये किया गया है—**प्र बोधयोषः पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु** (ऋ० १।१२४।१०)। जिस प्रकार माता शिशु के लिये प्राणसम होती है, उसी प्रकार उषाः को भी सब का प्राण और जीवन बताया गया है—**विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे** (ऋ० १।४८।१०)। यह प्राणियों को नित्य नवीन आशा का सन्देश देती है—**चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व** (ऋ० ३।६१।३)। चक्र के द्वारा उषाः की यह उपमा बरबस ही कालिदास की **'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'** सूक्ति का स्मरण करा देती है।

प्राणिमात्र के लिये प्रत्येक नये दिन की सूचना देने वाली उषाः पुरातन होती हुई भी नित्य-नूतन है—युवति है। प्रतिदिन यह निश्चित समय पर और निश्चित स्थान पर प्रकट होकर प्रकृति के नियमों का उल्लङ्घन नहीं करती—**ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती** (ऋ०१।१२३।९)। प्रकाश के आवरण में पूर्व में प्रकट होती हुई उषाः की तुलना दिव्य वस्त्रों में आवृत नर्तकी से की गई है—**अधि पेशांसि वपते नृतूरिव** (ऋ० १।९२।४)। अन्यत्र (ऋ० १।१२४।३ में) कहा गया है कि प्रकाश का परिधान पहने हुए यह कन्या पूर्व दिशा में प्रकट होकर अपने मोहिनी-रूप को अनावृत करती है—**एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्**। सम्भवतया इसके इस कन्या रूप के आधार पर ही स्वामी दयानन्द ने इसे प्रभातवेला मानते हुए

भी इसके वर्णनों को औपमिक रूप में कन्या के या अभिजात स्त्री के वर्णन माना है।[1] बहुत काव्यात्मक ढंग से यह बताया गया है कि किस प्रकार उषाः के उदय होने के साथ साथ आयु क्षीण होती जाती है—**पुनः पुनर्जायमाना पुराणी...मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः** (ऋ० १।९२।१०)। जैसे कोई युवती स्नान करके प्रकट होती हुई और अधिक सुन्दर रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार यह शुभ्रा उषाः अन्धकार को दूर करती हुई प्रकाश के साथ हमारी दृष्टि के सम्मुख प्रकट होती है—

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥

(ऋ० ५।८०।५)

यह नवजीवन का सञ्चार करने वाली देवी है। जब यह प्रकाशित होती है तो पक्षी अपने नीड़ों से उड़ जाते हैं और मनुष्य पोषण प्राप्त करते हैं—**उत्ते वयश्चिद् वसतेरपप्तन् नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ** (ऋ० १।१२४।१२)। जिन अरुष् (लाल) अश्वों के द्वारा इसके रथ के खींचे जाने का वर्णन है, वे प्रातः काल की रक्ताभ किरणें ही हैं (ऋ० ७।७५।६)।

उषाः का सूर्य से गहरा सम्बन्ध है। उसने सूर्य के मार्ग प्रशस्त किये हैं—**आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय** (ऋ० १।११३।१६)। सुन्दर उज्ज्वल श्वेत अश्व पर नेतृत्व करती हुई यह देवताओं के नेत्र (सूर्य) को लाती है—**देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्** (ऋ० ७।७७।३)। वह अपने प्रिय सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होती है। जैसे कोई युवक किसी युवती का पीछा करता है, उसी प्रकार सूर्य उषाः का अनुसरण करता है। उषःकाल के पश्चात् सूर्योदय के वर्णन के लिये इससे सुन्दर कोई दूसरी उपमा नहीं हो सकती थी—**सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्** (ऋ० १।११५।२)। कदाचित् इसी कारण उसे सूर्य की पत्नी (**सूर्यस्य योषा**—७।७५।५) कहा गया है। किन्तु सूर्य से पहले रहने के कारण प्रायः उसे सूर्य की जननी बताया गया है। इसी आधार पर उसके दीप्तिमान् बछड़े के साथ आने का वर्णन है—**रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात्** (ऋ० १।११३।२)। उषाः और रात्रि दोनों बहिनें हैं—दोनों एक दूसरे का अनुसरण करती हैं—दोनों का नाम एक साथ **उषासानक्ता** या **नक्तोषासा** (ऋ० १।११३।३) रूप में आता है। उषाः का जन्म आकाश में होता है, अतः इसे प्रायः आकाश की पुत्री (**दिवो दुहिता** ऋ० १।३०।२२) कहा गया है। यज्ञाग्नि के प्रभातवेला में प्रज्वलित होने के कारण अग्नि को उषाः का जार बताया गया है—**उषो न जारः** (ऋ०

१. दे. ऋ. ३।६१ की भूमिका—अथ प्रातर्वेलोपमया स्त्रीगुणानाह।

१।६९।१)। अग्नि के विषय में कहा गया है 'हे अग्नि, तुम प्रकाशित होकर आती हुई उषाः के पास सुन्दर धन की याचना करते हुए जाते हो'— **आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः** (ऋ० ३।६१।६)। अश्विनों के साथ भी उषाः का सम्बन्ध बताया गया गया है (ऋ० १।८३।२)।

मैक्डॉनल के मतानुसार उषाः नाम चमकना अर्थ वाली वस् धातु से व्युत्पन्न है। उसके अनुसार यह अरोरा और होस (यूनानी) का सजातीय है। यास्क ने इसका निर्वचन √ उच्छ् (विवासे) से माना है—**उच्छतीति सत्याः** (नि० २।१८)। उच्छ् का अर्थ है समाप्ति अथवा नाश—जो अन्धकार को नष्ट कर देती है। √ उष् दाहे से भी औणादिक 'का' प्रत्यय द्वारा इसे सिद्ध किया जाता है—जो मानो प्रकाश से जलती है तथा सूर्य की किरणों की उष्णता से मानो सभी पदार्थों को सुखाकर जलाती है। अरविन्द के मतानुसार उषाः मनुष्य के भौतिक चैतन्य के प्रति दिव्य दीप्तियों के अभिनव द्वार का प्रतीक है।[1]

ऋ० ३।६१

ऋषिः— विश्वामित्रः। छन्दः— त्रिष्टुप्। देवता – उषाः।

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ॥१॥

उषः। वाजेन। वाजिनि। प्रऽचेताः। स्तोमम्। जुषस्व। गृणतः। मघोनि। पुराणी। देवि। युवतिः। पुरम्ऽधिः। अनु। व्रतम्। चरसि। विश्वऽवारे॥

हे उषाः, गति से गतिमती हे, प्रकृष्ट ज्ञानवती तुम,
स्तुति (मेरी) स्वीकार करो, स्तुतिकर्ता की हे उदार !
पुरातन (हो तुम) देवि, युवति (हो फिर भी) बहुप्रज्ञा
नित्य नियम का पालन करती हो सबकी वरणीय (अपार)॥

उषाः गति का प्रतीक है क्योंकि यह स्थिर नहीं रहती। प्रातः काल सब वस्तुओं को अन्धकार से निकाल कर प्रकट करने के कारण यह ज्ञानवती है। निश्चित समय और स्थान पर प्रकट होकर प्रकृति के नियम का पालन करती है, और इसीलिये सबके द्वारा वरणीय अथवा पूजनीय है। स्वामी दयानन्द ने इस समस्त सूक्त में उषाः की उपमा से गुणवती स्त्री का वर्णन माना है।

१. ओरोबिन्दोज वैदिक ग्लॉस्सरी, पृ. २७।

वाजे॑न वाजिनि—सा०-अन्नेन अन्नवति, स्वा० द०—विज्ञानेन विज्ञानवती, सायण के अनुसार 'वाजेन' का अन्वय 'स्तोमं जुषस्व' के साथ भी हो सकता है—**हविर्लक्षणेनान्नेन सह स्तोमं जुषस्व।** पीटर्सन– आशीर्वाद में समृद्ध (रिच इन ब्लैस्सिग)। मक्स०—सम्पत्ति से समृद्ध (वेल्दी बाइ वैल्थ)। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका सम्बन्ध 'वेजिओ, विजिओ, विजिल' प्रभृति शब्दों से माना है। इनका अर्थ 'वेग, बल, दौड़ इत्यादि है। दौड़ आदि जैसी प्रतिस्पर्धाओं से उनमें प्राप्त पुरस्कार या धन की व्युत्पत्ति मानी जा सकती है।[1]

पुर॑न्धिः—सा०-पुरु बहु धीः स्तोत्रलक्षणं कर्म यस्याः सा। बहुस्तोत्रवती। स्वा० द०—या बहून् शुभगुणान् धरति। पीटर्सन—बहुतों का पोषण करने वाली (सस्टेनर ऑफ़ मैनी)—पुरं बहून् धारयति इति। अथवा पुरु—पुरं (पृषोदरादित्वात्) दधाति इति—सब कुछ देने वाली।[2]

वि॒श्वव॑ारे –सा०-सर्वैर्वरणीये, स्वा० द०—सर्वतो वरणीये, सायण ने ऋ० ५।१६।२ में 'वारम्' का अर्थ 'वरणीयं धनम्' किया है। तदनुसार अर्थ होगा 'सब धन है जिसका'। पीटर्सन-अपने साथ सब शुभ वस्तुएँ लाती हो (ब्रिंगेस्ट विद दी ऑल गुड थिंग्ज)। वेल०—सब प्रकार के स्पृहणीय उपहारों से सम्पन्न।

अनु॑ व्र॒तं च॑रसि—सा०—यज्ञकर्माभिलक्ष्य यष्टव्यतया वर्तसे, स्वा० द०—अनुकूलतया कर्म करोषि, पीटर्सन—नियत समय पर आती हो (दाउ कमेस्ट इन् ड्यू टाइम)। वेल०—अपने नियमों के अनुसार ही (इस संसार में) भ्रमण करती हो।

उषो॑ दे॒व्यम॑र्त्या वि भा॑हि च॒न्द्रर॑था सू॒नृता॑ ई॒रय॑न्ती।
आ त्वा॑ वहन्तु सु॒यमा॑सो॒ अश्वा॑ हिर॑ण्यवर्णां पृथु॒पाज॑सो॒ ये ॥२॥

उष॑ः। दे॒वि॒। अम॑र्त्या। वि। भा॒हि॒। च॒न्द्रऽर॑था। सू॒नृता॑ः। ई॒रय॑न्ती। आ। त्वा॒। व॒ह॒न्तु॒। सु॒ऽयमा॑सः। अश्वा॑ः। हिर॑ण्यऽवर्णाम्। पृ॒थु॒ऽपाज॑सः। ये ॥

हे उषाः देवि! (तुम) अमर प्रदीप्त होओ (प्रतिवासर)
चन्द्र रथ वाली शोभन वाणी को प्रेरित करती।
इधर तुम्हें ले आयें सुनियन्त्रित घोड़े (सत्वर)
सुवर्ण-वर्ण वाली को बहुबलशाली जो (किरणें हैं)॥

उषाः शाश्वत है, अमरणधर्मा है। बहुत काव्यात्मक रूप में चन्द्रमा को

---

१. अतिरिक्त टिप्पणी के लिये दे. ऋ. १।८१।१।
२. अतिरिक्त टिप्पणी के लिये दे. वा. सं. २२।२२।

उसका रथ बताया गया है—मानो रात भर चन्द्रमा पर यात्रा करती हुई वह रात्रि के अन्त में पूर्व दिशा में पहुँच कर प्रकट हो जाती है। उषाः शोभन वाणी को प्रेरित करती हुई उदय होती है। प्रभात के उल्लास में सभी प्राणी मधुर वाणी से मानो उषाः का स्वागत करते हैं। प्रभातवेला इतनी स्फूर्तिप्रद है कि सब का उस समय गाने को मन करता है। उषाः अभितप्त सुवर्ण की भाँति वर्ण धारण करती है। उसकी किरणों को ही यहाँ घोड़े माना है। महान् उषाः को निश्चित समय और स्थान पर पहुँचाने वाले ये घोड़े वस्तुतः सुनियन्त्रित और बलशाली ही होने चाहियें।

चन्द्ररथा—सा०—सुवर्णमयरथोपेता, स्वा० द०—चन्द्र इव रथो यस्याः, वेल०—रमणीय रथ से (आकर), पीटर्सन—अपने सुवर्णमय रथ पर (ऑन् दाइ गोल्डन कार)।

सूनृता ईरयन्ती—सा०—प्रियसत्यरूपा वाच उच्चारयन्ती, ऋ० १।११३।१२ में—सूनृताः, वाङ्नामैतत्, पशुपक्षिमृगादीनां वचांसि प्रेरयन्ती उत्पादयन्ती। स्वा०द०—सुष्ठु सत्याः क्रियाः प्रेरयन्ती, पीटर्सन-पक्षियों के मधुर स्वर जगाती हो (अवेकन द स्वीट नोट्स ऑफ़ द बर्ड्स)। औफ्रेख्त प्रभृति विद्वानों ने इसे सु-सहित √नृत् (गतिशील होना) से व्युत्पन्न माना है—गतिशील—त्वरित, सावधान। स्त्री० बहु० में 'गिर्' का अध्याहार करने पर इसका अर्थ सजीव वाणी' होगा अन्यथा 'क्रियाशीलता' होगा। वेल०—सद्भावनाओं को जागृत करते करते।

सुयमासः—सा०, वेल०—सुष्ठु नियन्तुं शक्याः, स्वा० द०-सुष्ठुनियामकाः, पीटर्सन—सुव्यवस्थित (वैल-मैनेज्ड)। 'आज्जसेरसुक्' से सुयमास्+अस्।

अश्वाः—सा० और पीटर्सन—घोड़े, स्वा० द०—व्याप्ताः किरणाः।

पृथुपाजसः—सा०-प्रभूतबलयुक्ता अरुणवर्णाः. स्वा० द०—बहुबलाः, पीटर्सन, वेल०—सर्वव्यापी तेज वाले (हूज स्प्लेंडर स्प्रैड्स ऑल-राउंड)। निघं० (२।९) में पाजः शब्द बल के पर्यायों में पठित है। नि०(६।१२) में (पाजः पालनात्) इसका निर्वचन √पा (रक्षा) से बताया गया है क्योंकि बल से रक्षा होती है। उणादि० (४।२०२) के अनुसार इससे असुन् प्रत्यय लगा है और जुट् आगम हुआ है—पातेर्बले जुट् च। मुकुन्द बख्शी झा की व्याख्या में (नि० ६।१२) इसका अर्थ 'तेजः संघ' दिया गया है। सायण ने भी ऋ० १।५८।५ में 'पाजसा' की व्याख्या 'तेजोबलेन' की है। इसी प्रकार ऋ० ३।२।११ में भी 'पृथुपाजाः' की 'पृथुतेजाः अथवा पृथुवेगः' व्याख्या की है। पूर्वपद में द्व्यच् उकारान्त विशेषण होने के कारण बहुव्रीहि में उत्तरपद पर उदात्त है।[1]

---

१. वै. व्या. भा. २, पृ. ८६५।

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥२॥

उषः। प्रतीची। भुवनानि। विश्वा। ऊर्ध्वा। तिष्ठसि। अमृतस्य। केतुः।
समानम्। अर्थम्। चरणीयमाना। चक्रम्ऽइव। नव्यसि। आ। ववृत्स्व॥

हे उषाः! प्राप्त होने वाली हो लोकों को, सबको,
उन्नत होकर तुम ठहरी हो अमरत्व की ज्ञापक।
समान मार्ग पर चलती हुई (नित्य उदयवेला में)
चक्र की भाँति हे नूतन तुम फिर फिर आ जाओ॥

उषाः अपने प्रकाश के द्वारा सभी लोकों को व्याप्त कर लेती है। उन्नत आकाश में विद्यमान यह मानो चिर नूतनता के द्वारा संसार को अमरत्व का सन्देश दे रही है। प्रकाश—यश का या ज्ञान का—ही अमरत्व है। उषाः प्रतिदिन समान मार्ग पर आती है और जाती है। इस प्रकार चक्र की भाँति यह अवनति के बाद उन्नति की आशा लेकर आती है। दे० महाभारत—चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥

प्रतीची—सा०—सर्वाणि भुवनानि प्रति आभिमुख्येन अञ्चति प्राप्नोति इति, स्वा० द०—लोकजातानि प्रत्यञ्चति प्राप्नोति, पीटर्सन—सब लोकों से पूर्व उठने वाली (बिफ़ोर ऑल द वर्ल्ड्स दाउ राइज़ेस्ट अप)।

अमृतस्य केतुः—सा०—मरणधर्मरहितस्य सूर्यस्य प्रज्ञापयित्री (केतुः—चायृ पूजानिशामनयोरित्यस्माच्चायः की चेति तुः, पा० ६।१।३५ उणादि—७६)। की इत्यादेशः। आर्धधातुकलक्षणो गुणः। स्वा० द०—अमृतात्मकस्य रसस्य प्रज्ञापिका, पीटर्सन—अमृतत्व की ध्वजा (द बैनर ऑफ़ इम्मॉर्टलिटी)।

अर्थम्—सा०—अर्यते गम्यतेऽस्मिन्निति अर्थो मार्गः (√ ऋ+स्थन्), वेल०—गन्तव्य स्थान। स्वा० द०—वस्तु, पीटर्सन—लक्ष्य (गोल),

चरणीयमाना—सा०-चरितुमिच्छन्ती, स्वा० द०—प्राप्नुवती, पीटर्सन (पी०)—चलती हुई (मूविंग)।

आ ववृत्स्व—सा०—पुनस्तस्मिन् मार्गे आवृत्ता भव, √वृत्—वर्तने से 'बहुलं छन्दसि' के द्वारा विकरण शप् का श्लु—लोप और अभ्यास। स्वा० द० —आवर्तस्व, पी०—घूमती आओ (रॉल् फ़ॉर्वर्ड)।

अव॒ स्यूमे॑व चिन्व॒ती म॒घोन्यु॒षा या॑ति॒ स्वस॑रस्य॒ पत्नी॑ ।
स्व॒ 1 र्जन॑न्ती सु॒भगा॑ सु॒दंसा॒ आन्ता॑द् दि॒वः प॑प्रथ॒ आ पृ॑थि॒व्याः ॥४॥

अव॑ । स्यूम॑ऽइव । चि॒न्व॒ती । म॒घोनी॑ । उ॒षाः । या॒ति॒ । स्वस॑रस्य । पत्नी॑ । स्वः॑ । जन॑न्ती । सु॒ऽभगा॑ । सु॒ऽदंसाः॑ । आ । अन्ता॑त् । दि॒वः । प॒प्र॒थे॒ । आ । पृ॒थि॒व्याः ॥

परे वस्त्र को मानो हटा रही (यह) विभवमयी (निज)
उषाः जा रही है सूर्य की पत्नी (देखो मुदिता) ।
तेज उत्पन्न करती सौभाग्यवती शुभकर्मवती
छोर तक नभ के फैली है, छोर तक पृथ्वी के (प्रथिता) ॥

इस काव्यात्मक मन्त्र में उषाः द्वारा रात्रि के अन्धकार को दूर करने की क्रिया को वस्त्र हटाने के रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है । उषाः को सूर्य की पत्नी बताना दोनों के नैकट्य और परस्पर सम्बन्ध को द्योतित करता है । यह नित्य सौभाग्यवती है क्योंकि इसका पति सूर्य अजर अमर है । उषाः के प्रकट होते ही संसार के सारे कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं, इसीलिये इसे शुभकर्मवती कहा गया है ।

अव॒ स्यूमे॑व चिन्व॒ती—सा०-वस्त्रमिव विस्तृतं तमः अपक्षयं प्रापयन्ती, स्वा० द०—तन्तुवद्व्याप्ता चयनं कुर्वती, पी०-मानो अपने ऊपर से अपने वस्त्र उतारती हुई (कास्ट्स, एज़ इट् वर्, हर गार्मेंट फ्रॉम हर), ग्रास०-मेखला खोलती हुई (अनलूज़िंग हर गर्डल), परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि उषाः का मानो केवल मुख ही दिखता है, निचला भाग नहीं । कुछ विद्वानों के मतानुसार स्यूम का अर्थ घोड़े की लगाम है क्योंकि ऋ० १। १२२।१५ में स्यूमगभस्ति शब्द मित्र और वरुण के रथ के लिये प्रयुक्त हुआ है । इसी प्रकार ऋ० ६।३६।२ के अन्तर्गत 'स्यूमगृभे' समास का अर्थ रोथ और ग्रास० ने 'लगामों को पकड़ने वाला' किया है । सायण की व्याख्या इस प्रकार है—स्यूमनः स्यूतान् अविच्छेदेन वर्तमानान् शत्रून् गृह्णते । इसी आधार पर लुड्विग ने यहाँ पर 'लगामें उतार फेंकती हुई' (शेकिंग डाउन द रेन्ज़) अर्थ किया है । भाव यह है कि उषाः रथ से उतरने के लिये किरणों के रूप में अपनी लगामें नीचे डाल रही है या घोड़ों को हाँकने लिये घोड़ों की लगामें हिलाती हुई । वेल०—किसी बुने हुए (कृष्णवर्ण) पट की तरह (अन्धकार को) दूर हटाते हुए ।[1]

---

१. ऋक्सूक्त वैजयन्ती, पृ. १३६—तमस् वह वस्त्र है जो रातरूपी जुलहिन द्वारा बुना गया है (ऋ. १।११५।४; २।३८।४) और उषाः एक परदे की तरह उसे हटाकर अवतीर्ण होती है ।

स्वसंरस्य—सा०-सुष्ठु अस्यति क्षिपति तमः इति स्वसरः तस्य सूर्यस्य, स्वा० द०-दिनस्य, पी०—संसार की (ऑफ़ द वर्ल्ड)। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ 'स्थान' भी किया है। सायण ने भी ऋ० २।३४।५ के अन्तर्गत 'स्वसराणि' की व्याख्या 'स्वकीयानि निवासस्थानानि' की है। निघं० १।९ में स्वसर को 'अहन्' (दिन) का पर्याय बताया गया है। नि० ५।४ में यास्क ने यही अर्थ स्वीकार करते हुए दो निर्वचन दिये हैं—(१) स्वयं सारीणि—दिन अपने आप एक के पश्चात् एक क्रम से चलते रहते हैं, (२) अपि वा स्वरादित्यो भवति स एतानि सारयति—या फिर स्वर् आदित्य है, वह इन्हें सरकाता या चलाता है; सूर्य से ही दिन रात बनते हैं। वेल०-संसार की महाराज्ञी।

स्वः—सा०-स्वकीयं तेजः जनयन्ती (√जन् से णिच्, 'छन्दस्युभयथा' पा० ३।४।११७ के आधार पर शप् के आर्धधातुकत्व से णि का लोप),-स्वा० द०-सूर्यं सुखं वा, पी०-स्वर्ग को जीवन प्रदान करती हुई (ब्रिंग्ज़ हैवन टु लाइफ़ अगेन)। इस शब्द पर जो जात्य स्वरित दिखाई दे रहा है, वह 'सुअः' अथवा 'सुवः' उच्चारण करने से नियमित हो जाता है। ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार का उच्चारण छन्दःपूर्ति में भी सहायक है। वेल०—सूर्य को।

सुदंसाः—सा०-शोभनाग्निहोत्रकर्मा, स्वा० द०-शोभनानि दंसांसि यस्यां सा, पी०—अद्भुत (वंडरफुल)। नि० ४।२५ में दंसि के बहु० दंसयः का अर्थ 'कर्माणि' बताते हुए यास्क ने इसका निर्वचन 'दंसयन्त एतानि' दिया है। √दसि का अर्थ 'देखना' है—वे कर्म जिन्हें कार्य करने वाले देखते हैं; या (दस् उपक्षये) धातु भी हो सकती है- -कर्म, जो उपक्षीण करते हैं, कार्य करने वालों को श्रान्त करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर यहाँ √दंस् (अध्यापन) धातु मानते हैं क्योंकि अवेस्ता में भी वह इसी अर्थ में प्रयुक्त है। इस धातु का प्रारम्भिक अर्थ, उनके मतानुसार, 'दिखाना' या 'प्रदर्शन करना' है। उसी आधार पर सुदंसाः का अर्थ 'शोभन दर्शन वाली' होगा। वेल०-आश्चर्यजनक कर्म करने वाली।

विशेष—मन्त्र के पूर्वार्ध में छन्दःपूर्ति के लिये मघोन्युषाः का सन्धिविच्छेद करके 'मघोनी उषाः' तथा स्वसरस्य का 'सुअसरस्य' उच्चारण करना चाहिये।

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम्।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत् प्र रोचना रुरुचे रण्वसन्दृक् ॥५॥

अच्छ । वः । देवीम् । उषसम् । विऽभातीम् । प्र । वः । भरध्वम् । नमसा । सुऽवृक्तिम् ।
ऊर्ध्वम् । मधुऽधा । दिवि । पाजः । अश्रेत् । प्र । रोचना । रुरुचे । रण्वऽसन्दृक् ॥

ओर तुम्हारी (जनो !) देवी को उषाः दीप्तिमती को,
अपनी करो समर्पित प्रणति से शोभन स्तुति को (सत्वर)।
ऊपर मधु की धर्त्री नभ में तेज का लेती आश्रय
प्रभावती हो रही प्रभासित रमणीयदर्शना (गत्वर)॥

उस महती उषाः के प्रति सभी को सम्बोधित किया गया है कि जो उषाः देवी तुम्हारी ओर को चमक रही है, उसे अपने प्रणाम से युक्त शोभन स्तुति अर्पित करो। उषाः को मधुधा अर्थात् मधु या माधुर्य या आनन्द की धारण-कर्त्री बताया गया है। अन्यथा भी प्रभात वेला प्रमोद का समय है। सब ओर प्रकाशमयी, रमणीयदर्शना यह प्रभासित हो रही है।

नमसा—सा०—नमस्कारेण सह, स्वा० द०—वज्रेण विद्युता सह, पी०—उसे प्रणाम करो (बो डाउन बिफोर हर)। नमः शब्द वेद में सुबन्त के रूप में भी प्रयुक्त होता है।

सुवृक्तिम्—सा०, वेल०-शोभनां स्तुतिम्, स्वा० द०-सुष्ठु वर्तमानाम्, उन्होंने इसे उषसम् का विशेषण माना है—तुम लोग उत्तम प्रकार से वर्तमान प्रभात वेला को वज्र अर्थात् बिजली के साथ उत्तम प्रकार पुष्ट करो, पी०-आहुति (ऑफ़रिंग)। मक्स० ने[1] स्वीकार किया है कि इस शब्द का प्रायिक अर्थ 'स्तुति' यहाँ भी उचित ही है। किन्तु फिर भी निर्वचन के आधार पर सुवृक्ति का अर्थ उस कुशा घास को काटना तथा साफ़ करना है जिस पर वेदी में आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं। (तु० ऋ० १।३८।१—वृक्तबर्हिः)। इसी के विस्तार के रूप में सुवृक्ति का लाक्षणिक अर्थ 'सुघटित शुद्ध स्तुति' होगा। नि० २।२४ के अन्तर्गत उद्धृत मन्त्र ऋ० ६।६१।२ में भी सुवृक्तिभिः शब्द धीतिभिः (स्तुतिभिः) का विशेषण है। वहाँ यास्क ने इसकी 'सुप्रवृत्ताभिः' व्याख्या की है।

मधुधा—सा०-मधुराणि स्तुतिलक्षणानि वाक्यानि दधातीति, मधु सोमः तं धारयतीति वा। यद्वा मधुधा आदित्यधात्री। यद्वा अवग्रहाभावादव्युत्पन्नावयवमखण्डमिदमुषोनाम। स्वा० द०—या मधूनि दधाति, पी०-शुभवस्तुएँ देने वाली (गिवर ऑफ़ गुड थिंग्स)। यह ध्यान देने योग्य बात है कि मधुधा शब्द को पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् करके नहीं दिखाया गया। इसकी तुलना विष्णुसूक्त (ऋ० १।१५४।५) के इस मन्त्रांश से की जा सकती है—विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः। वेल०—मधु उपहारों की प्रदात्री।

---

१. वैदिक हिम्ज, भा. १, पृ. १०६।

पाजः अश्रेत्—सा०-तेजः श्रयति, स्वा० द०—बलं श्रयति, पी०-प्रकाश फैलाती है (स्प्रैड्स हर लाइट)।—श्रिञ् सेवायाम्, लङि 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक्। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति लडर्थे प्रयोगः।

रोचना—सा०—रोचनशीला प्र रुरुचे प्रकर्षेण दीप्यते, यद्वा रोचना लोकान् प्रकर्षेण स्वतेजसा दीपयति, स्वा० द०—रुचिकरी रोचते (अच्छी लगती है), पी०—आकाश के प्रकाशस्थानों को प्रकाशित किया है (हैज़ लिट् अप् द लाइट प्लेसज़ ऑफ़ स्काई)। वेल०-तेजस्विनी।

रण्वसंन्दृक्—सा०-रमणीयदर्शना √ रव् (इ)—गत्यर्थक + अच्; सम् √दृश् + क्विन्, बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः, स्वा० द०-या रण्वान् रमणीयान् पदार्थान् सन्दर्शयति सा, पी०-लावण्यमयी देवी (ब्यूटीयस गॉडेस)। वेल० -रमणीयमुखी।

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः॥६॥

ऋतऽव॑री। दिवः। अर्कैः। अबोधि। आ। रेवती। रोदसी इति। चित्रम्। अस्थात्।
आऽयतीम्। अग्ने। उषसम्। विऽभातीम्। वामम्। एषि। द्रविणम्। भिक्षमाणः॥

सत्य-नियम-युक्त गगन से तेजों से जानी जाती,
विभवशालिनी पृथ्वी-नभ में विविध रूप में है ठहरी।
आती हुई के हे अग्नि उषाः के प्रभासिता के प्रति
काम्य को आते हो धन की करते हुए याचना (गहरी)।।

दूर से नभ में प्रकाशित अपने तेजःपुञ्ज के द्वारा ही सत्य-नियम से युक्त यह उषाः पहचानी जाती है। इसका विभव इतना है कि एक साथ विविध-रूपों में यह पृथ्वी और आकाश पर व्याप्त होकर स्थिर रहती है। और जब अग्नि उस समय प्रातराहुति के लिये प्रज्वलित किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कमनीय धन की प्रबल कामना करता हुआ उषाः के पास पहुँच रहा है। यदि अग्नि को प्राणाग्नि माना जाये तो मानो वह प्रातः काल नवजीवन की स्फूर्ति प्राप्त करने के लिये उषाः से संयोग प्राप्त करता है।

ऋतावरी—पदपाठ में ऋत (ह्रस्वान्त) ध्यान देने योग्य है। सा०, स्वा० द०-सत्यवती, पी०-पवित्र (होली)। वेल०-ऋत का पालन करने वाली—दिवः ऋतावरी के आगे दुहिता पद का अध्याहार करना चाहिये।[1]

---

१. ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. १३७।

अर्कैर्बोधि—सा०-तेजोभिः सर्वैर्ज्ञायते, स्वा० द०-दिवः प्रकाशात् (जाता) सूर्यैः बुध्यते, पी०-आकाश के गीतों से जगाई गई है (हैज़ बीन अवेकन्ड बाइ द साँग्ज़ ऑफ़ द स्काई), वेल०-(हमारे) स्तोत्रों से जागृत हुई है।

चित्रम्—सा०-नानाविधैरुपयुक्तं यथा भवति तथा, स्वा० द०-अद्भुतम्, 'वामं द्रविणम्' का विशेषण—अग्ने का अर्थ—हे विद्वन्—उषसं प्राप्य (समाधिना जगदीश्वरं) भिक्षमाणस्त्वं चित्रं द्रविणं प्राप्नोषि। पी०-कान्ति (ग्लोरी), वेल०-सुन्दर रीति से।

एषि—सा०—वामं वननीयं द्रविणमग्निहोत्रादिलक्षणं धनं प्राप्नोषि, पी., वेल०-तुम उससे मिलने जाओ और हमारे लिये अभीष्ट सम्पत्ति की याचना करो (गो फ़ॉर्थ टू मीट हर, एंड आस्क फ़ॉर अस द वैल्थ वी डिज़ायर)।

ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा ॥७॥

ऋतस्य। बुध्ने। उषसाम्। इषण्यन्। वृषा। मही इति। रोदसी इति। आ। विवेश। मही। मित्रस्य। वरुणस्य। माया। चन्द्राऽइव। भानुम्। वि। दधे। पुरुऽत्रा॥

सत्य-नियम की जड़ में उषाओं को प्रेरित करता
वर्षक महा गगन-पृथ्वी में सब ओर प्रविष्ट हुआ है।
महती उषाः मित्र-वरुण की माया (प्रभामयी वह)
स्वर्णाभूषण-सम प्रकाश को फैलाती है सब ओर॥

सूर्य प्रजननार्थ वीर्य की वृष्टि करने वाले वृषभ के समान प्रजननसमर्थ है। वही वृष्टि-अन्नादि कामनाओं का वर्षक है। उषाः के साथ ही साथ वह अतिविशाल पृथ्वी और गगन में व्याप्त हो जाता है। सूर्य को मित्र, वरुण, अग्नि का नेत्र बताया गया है (ऋ० १।११५।१)। उसी प्रकार उषा भी मित्र और वरुण की माया अर्थात् उनका प्रतीक है। उसका सब ओर फैला प्रकाश सुन्दर आभूषणों की द्युति जैसा है।

ऋतस्य बुध्ने[1]—सा०—अग्निहोत्रादिकर्मकरणे सत्यभूतस्य अह्नः मूले, स्वा० द०—हे मनुष्याः, यो विद्युद्रूपोऽग्निः बुध्ने अन्तरिक्षे, उषसां प्रभातवेलानाम् ऋतस्य सत्यस्य इषण्यन् आत्मनः प्रेरणम् इच्छन्निव वृषा वृष्टिहेतुः महत्यौ द्यावापृथिव्यावाविवेश...तं विज्ञाय कार्याणि साध्नुत। वेल०—क्षितिज के ऊपर (क्योंकि वहीं से मानो उषाः उत्पन्न होती है)। किन्तु प्रतिदिन निश्चत समय

१. पीटर्सन ने इस मन्त्र का अनुवाद नहीं दिया है।

और स्थान पर उदय होना ही मानो सत्य-नियम की जड़ है। पीटर्सन ने सायण की व्याख्या को बनावटी बताया है। मक्स०—आकाश की गहराई में उषाओं की अभिलाषा करता हुआ वीर महान् आकाश और पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ है। ग्रास०—पवित्र भूमि पर, लुड्विग—पवित्र कर्म की भूमि पर।[1] सायण ने अन्यत्र अनेक स्थलों (ऋ० ३।६२।१३,१८ आदि) पर 'ऋतस्य योनिम्' की व्याख्या 'यज्ञस्य स्थानं हविर्धानाख्यम्' की है।

उषसा॑म् इष्ण्यन्—सा० उषसां प्रेरणं कुर्वन् (सम्भवतया द्वितीयार्थे षष्ठी) यद्वा वृषा वर्षिता इषण्यन् सर्वतो गच्छन् उषसां (सम्बन्धी रश्मिसमूहः)। वेल०—उषाओं का प्रियतम (वृषा—सूर्य) उन्हें (आगे बढ़ने की) प्रेरणा देते हुए।

माया—सा०—प्रभारूपा सती, स्वा० द०—मित्रस्य सुहृदः वरुणस्य श्रेष्ठस्य माया प्रज्ञा, वेल०—(सूर्यरूप) विशाल माया शक्ति ने।

चन्द्रेव भानुम्—सा०—सुवर्णानीव स्वप्रभाम्, स्वा०द०-सुवर्णानीव सूर्यम्, वेल०—रमणी की तरह अपना तेज।

पुरुत्रा—सा०—बहुषु देशेषु विदधाति सर्वत्र प्रसारयति, स्वा० द०—पुरुरूपं विदधाति, वेल०—अनेक स्थलों पर फैला रखा है।

1. हिम्ज़ फ्रॉम द ऋग्वेद, पृ. १४६।

मरुतः

मरुद्देवता वेद के महत्त्वपूर्ण देवताओं में से हैं। अकेले इनकी स्तुति ऋग्वेद के ३३ सूक्तों में हुई है। अन्य देवों में से इन्द्र के साथ इनकी स्तुति अधिक हुई है। ये इन्द्र के प्रमुख सहायक माने जाते हैं।[१] ये बहुवचन में ही अभिष्टुत होते हैं। प्रायः इनके गण का उल्लेख हुआ है। संहिताओं में प्रायः सर्वत्र गण शब्द से मरुतों का गण अभिप्रेत है।[२] इनकी संख्या १८० अथवा २१ बताई गई है। किन्तु यजुर्वेदीय संहिताओं तथा श्रौत ग्रन्थों में यह संख्या ४९ भी है। रुद्र को इनका पिता बताया गया है। अनेक बार इनके रुद्रपुत्र, रुद्रसूनु विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ तक कि पिता के नाम से ही इनका आह्वान 'रुद्रगण' के रूप में किया गया है। पृश्नि इनकी माता है (ऋ० १।८५।२)।[३] गौ को भी इनकी माता बताया गया है (गोमातरः—ऋ० १।८५।३)। मैक्डॉनल के मतानुसार 'यह गौ सम्भवतः शबलीकृत झंझावात मेघों का प्रतिनिधित्व करती है।' **इन्धन्वभिर्धेनुभी रप्शदूधभिरध्वस्मभिः पथिभिः भ्राजदृष्टयः आ... गन्तन... मरुतः** (ऋ० २।३४।५) में 'दीर्घ जल स्रोतों वाली जो उमड़ती गायें आती हैं, वे वर्षा और विद्युत् से परिपूर्ण मेघों के अतिरिक्त कदाचित् ही कुछ और हो सकती हैं।'[४] यास्क के मतानुसार गौ पृथ्वी और आदित्य दोनों है। सायण ने इसका अर्थ केवल भूमि माना है। अरविन्द के अनुसार यह प्रकाश है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने गौ को मातृत्व का; ब्रह्माण्ड में वर्तमान सृष्टि-शक्ति का प्रतीक माना है।

इनका इतना महत्त्व है कि इन्हें आकाश-पुरुष (**दिवो नरः**—ऋ० ५।५४।१०, **दिवो मर्याः**—ऋ० ३।५४।१३) ही नहीं कहा गया अपितु इन्हें स्वयम् उत्पन्न माना गया है—**प्र ये जाता महिना ये च नु स्वयम्** (ऋ० ५।८७।२)। अपने महत्त्व के कारण ही ये तीन आकाशों में निवास करते हैं

---

१. दे. इन्द्र पर टि. पृ. २९।

२. जर्नल ऑफ़ दि डिपार्टमेंट ऑफ़ संस्कृत, युनिवर्सिटी ऑफ़ दिल्ली, वर्ष १, अंक १, कृष्णलाल—संहिताओं में गण शब्द, पृ. ९६-१०३।

३. पृश्नि की व्याख्या के लिये दे. ५।५७।२ (आगे)।

४. वैदिक माइथॉलोजी, पृ. १४७।

—यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद्वावमे सुभगासो दिविष्ठ (ऋ० ५।६०।६)। ये अग्नि के समान दीप्तिमान हैं—अग्नयो न शोशुचन् (ऋ० ६।६६।२)। एक स्थान पर तो उन्हें अग्नि ही बता दिया गया है—प्र यन्तु वाजास्तविषीभिरग्नयः ...बृहदुक्षो मरुतो विश्वकृष्टयः (ऋ० ३।२६।४)।

सम्भवतया मरुतों का अग्नि से यह सम्बन्ध वैद्युताग्नि से उनके सम्बन्ध को ही द्योतित करता है क्योंकि विद्युत् से उनका सम्बन्ध अधिक प्रख्यात है। उदाहरणार्थ उन्हें विद्युत् के कारण महान् मनुष्य बताया गया है—विद्युन्महसो नरः (ऋ० ५।५४।३)। इसी सूक्त के एक मन्त्र में तो उन्हें अग्नि की आभा वाली विद्युत् ही कहा गया है—अग्निभ्राजसो विद्युतः (ऋ० ५।५४।११)। पं० भगवद्दत्त ने भी इन्हें आपः-कणों की विद्युद्-युक्त रश्मियाँ माना है। इसीलिये उन्हें सूर्यस्येव रश्मयः (ऋ० ५।५५।३) कहा गया है। ताण्ड्य महाब्राह्मण (१४।१२।९) में भी उन्हें रश्मियाँ कहा है—मरुतो रश्मयः। किन्तु पं० भगवद्दत्त यह स्पष्ट करते हैं कि यह सामान्य मेघों की विद्युत् नहीं, यह स्थायी विद्युत् है, क्योंकि इनके विषय में कहा गया है कि ये अग्नि के हृदय का आछिन्दन करते हैं।[1] मरुत् सृष्टिजल में व्याप्त रश्मियाँ हैं—अप्सु वै मरुतः श्रिताः (कौ० ब्रा० ५।४)। ऐ० ब्रा० ६।३० में सृष्टिजल को मरुतः कहा गया है—आपो वै मरुतः।

विविध रूपों में जो विद्युत् प्रकट होती है, सम्भवतया उन रूपों के आधार पर ही मरुतों की ऋष्टियों (भालों), सोने की वाशियों (कुठारों), धनुष्, बाण आदि आयुधों का तथा खादि, रुक्म, अञ्जि इत्यादि आभूषणों का उल्लेख हुआ है। और यदि सातवलेकर प्रभृति विद्वानों के मतानुसार इन्हें सैनिक माना जाये तो ये उनके भौतिक आयुध और आभूषण हो सकते हैं। निस्सन्देह मरुतों के वर्णन शान से तीव्र गति से चलती हुई, चमकते हुए आयुधों और अलङ्करणों वाली सेना से मेल खाते हैं। उस सेना के लिये पृथ्वी और पर्वतों को कंपाना तथा (रक्त की) वर्षा करना सङ्गत ही है।

इनके विद्युत्-समान रथों का वर्णन है–विद्युद्रथा मरुतः (ऋ० ३।५४।१३)। ये अश्वों के रूप में वायु को जोतते हैं—वातान् ह्यश्वान् धुर्यायुयुज्रे (ऋ० ५।५८।७)। वेग से चलते हुए ये वायु के समान प्रतीत होते हैं—वातासो न ये धुनयो जिगत्नवः (ऋ० १०।७८।३)। जब ये वायु के साथ अर्थात् वायु के वेग से जाते हैं तो पर्वतों को हिला देते हैं—प्रवेपयन्ति पर्वतान् यद् यामं यान्ति वायुभिः (ऋ० ८।७।४)। सम्भवतया इनके सैनिकों जैसे वर्णन को और वायु

1. तै. ब्रा. १।१।३।१२—मरुतोऽद्भिरग्निमतमयन्। तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिन्दन्। सा अशनिरभवत्।—वेदविद्यानिदर्शन, पृ. १४२-६।

के साथ सम्बन्ध को देखकर ही स्वामी दयानन्द ने इन्हें मनुष्य अथवा वायु माना है। मनुष्य अर्थ में मरुत् शब्द √मृ से व्युत्पन्न माना गया है—मरण-धर्मा मनुष्य। वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी इनकी ओजस्विता और वायु की प्राणदायिनी शक्ति के आधार पर इन्हें प्राण माना है।[1]

ये महान् हैं और सर्वत्र द्युलोक के समान व्याप्त हैं—**महिना द्यौरिवोरवः** (ऋ० ५।५७।४)। ये युवा हैं और अजर हैं—**युवानो रुद्रा अजराः** (ऋ० १।६४।३)।

वृष्टि के साथ इनका सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है। इनको वर्षा करने वाला कहा गया है—**वृष्टिं ये विश्वे मरुतो जुनन्ति** (ऋ० ५।५८।३)। जहाँ इनके स्वेद को ही वर्षा बताया गया है (**वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः**—ऋ० ५।५८।७) वहाँ इनका वर्णन बलपूर्वक बढ़ती हुई सेना से बहुत सङ्गत है। अथर्व० ४।२७।४) में तो इनके माध्यम से वृष्टि की प्रक्रिया भी समझाई गई है। यहाँ कहा गया है कि ये समुद्र से जल को आकाश में उठाकर वृष्टि करते हैं—**अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति। ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति॥** इसकी तुलना तै० सं० २।४।१० से की जा सकती है—**अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति। मरुतः सृष्टां नयन्ति। यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्तते॥** सम्भवतया इसी कारण इन्द्र द्वारा वर्षारूप में प्रवाहित जल को 'मरुत्वतीः' कहा गया है—**सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपः** (ऋ० १।८०।४)। मरुतों को अनेक स्थलों पर गायक (ऋक्वन्) कहा गया है। सम्भवतया यहाँ उनके गायन से जीवन की सुषमा में निरन्तर प्रवर्तमान प्राणों का सङ्गीत या सेना के साथ बजने वाला या सैनिकों के कदम मिलाकर चलने से उत्पन्न होने वाला सङ्गीत अभिप्रेत है। मैक्डॉनल के अनुसार उनके गायकत्व से वायु की ध्वनि अभिप्रेत है।

क्योंकि मरुत् रुद्र के पुत्र हैं अतः उनके समान ही इनके क्रोध का वर्णन होना स्वाभाविक ही है—अहिमन्यवः (ऋ० १।६४।८)। किन्तु रुद्र के समान ही इनकी उपशामक जलरूप ओषधी का भी उल्लेख हुआ है—**वृष्ट्वी शं योराप उस्रि भेषजम्** (ऋ० ५।५३।१४)।

निष्कर्षरूप में मैक्डॉनल ने मरुतों को झंझावात के देवता माना है। कुह्न, बेनफ़े, मेयर, श्रॉडर प्रभृति ने इन्हें (√मृ—मरना से) प्रेतात्माओं का मानवी-

---

१. "अन्तरिक्ष में जो मरुत् हैं वे इन्द्र के सामन्त या सहचारी प्राण हैं। वे ही विद्युत् शक्ति या प्राणशक्ति के रूप हैं। एक दूसरे से अधिक सूक्ष्म हैं। यही उनका तारतम्य है।"—वेदविद्या, भूमिका, पृ, ६।

करण बताया है। मॅक्डॉनल ने इसकी व्युत्पत्ति √मर् (मरना, कुचलना, प्रकाशित होना) से मानी है। √मर् के इन अर्थों में से उसके अनुसार अन्तिम अर्थ ही मरुतों के वर्णन से सङ्गत है। तु. सं. मरीचि, यू. मर्माइ रेन (चमकना)।

योगी अरविन्द के अनुसार मरुत् वे जीवनी शक्तियाँ और प्रज्ञाशक्तियाँ हैं जो हमारी सभी क्रियाओं के लिये सत्य के प्रकाश का अन्वेषण करती हैं। ये हमारी सत्ता की स्नायविक या जीवनी शक्तियां है जो बुद्धि में चेतन अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होती हैं।[1]

यास्क ने निरुक्त (११।१३) में मध्यमस्थानीय देवताओं का वर्णन मरुतों से ही प्रारम्भ किया है। इस प्रसङ्ग में दुर्ग ने टिप्पणी की है कि वायु ही मरुत् है—वायुरेव हि भेदेनापेक्ष्यमाणो मरुदभिधानो बहुवचनभाग् भवति। यास्क ने इसके जो निर्वचन दिये हैं उनसे इनका वर्षा से अधिक सम्बन्ध द्योतित होता है—**मरुतो मितराविणो मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा।** अर्थात् मरुत् वे हैं जो सुश्लिष्ट होकर साथ साथ शब्द करते हैं अथवा सुश्लिष्ट होकर प्रकाशित होते हैं। इन दोनों निर्वचनों में सन्धि मानकर **अमितराविणः** तथा **अमितरोचिनः** पाठ भी मानते हैं। तदनुसार अर्थ है 'बहुत प्रकार से शब्द करने वाले या चमकने वाले'। अन्तिम निर्वचन का अर्थ है—जो बहुत अधिक द्रवित होते या बरसते हैं।

ऋ० ५।५७

ऋषिः—श्यावाश्वः, दवता—मरुतः, छन्दः—जगती, ७, ८—त्रिष्टुप्।

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन।
इयं वो अस्मत् प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥१॥

आ। रुद्रासः। इन्द्रऽवन्तः। सऽजोषसः। हिरण्यऽरथाः। सुविताय। गन्तन। इयम्। वः। अस्मत्। प्रति। हर्यते। मतिः। तृष्णऽजे। न। दिवः। उत्साः। उदन्यवे॥

इधर हे रुद्रो, इन्द्रसहित (तुम सभी) प्रीति से युक्त
स्वर्णिम रथ वाले, शोभन-गमन-निमित्त चले आओ।
यह तुम्हें हमारी ओर से चाहती है स्तुति (मन की)
तृषित को जैसे नभ से झरने (चाहें) जल-कामी को॥

जिस प्रकार पिता-पुत्र का अभेद माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ रुद्र

---

१. ओरोबिन्दोज़ वेदिक ग्लॉस्सरी, पृ. ७०।

और मरुतों में अभेद मान कर मरुतों को रुद्र सम्बोधन किया गया है। स्वर्णिम रथ से उत्तम यान का अभिप्राय है जिससे मरुतों (प्राणों या ब्रह्माण्ड-किरणों) की गति शोभन, नियमित बनी रहे। ऋषि के मन में यह भावना है कि जिसकी हम देवता मानकर अर्चना करते हैं, वह हमारी अर्चना या स्तुति के लिये लालायित रहता है। इसलिये वह इष्ट-देव को विश्वास दिला देना चाहता है कि हमारी स्तुति आपके प्रति ही प्रेरित है—ठीक उसी प्रकार जैसे आकाश से बरसने वाला जल प्यासे संसार के लिये ही प्रेरित होता है।

आ, गन्तन—आगच्छत (आओ), स्वा० द०-आगच्छथ। उपसर्ग और क्रिया में व्यवधान द्रष्टव्य है। वैदिक भाषा में यह प्रायः होता है। दे० 'व्यवहिताश्च' (पा० १।४।८२)। 'तिङ्ङतिङः' से क्रियापद सर्वानुदात्त है।

रुद्रासः—या०-रुद्राः, स्क०, वें०, सा०, गेल्ड०—रुद्रपुत्राः, स्वा० द०—(हे मनुष्याः) दुष्टानां रोदयितारः (दुष्टों को रुलाने वाले—प्रथमा० एक०, किन्तु स्वर, सर्वानुदात्त, के अनुसार सम्बोधन), 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८।१।१९) के अनुसार सर्वानुदात्त। वेद में अवर्णान्त प्रातिपदिक के जस् विभक्ति वाले (प्रथमा, सम्बोधन, बहु०) रूप के आगे अस् (असुक्) आगम होकर भी रूप बनता है, यथा रुद्राः और रुद्रासः (पा० ७।१।५०—आज्जसेरसुक्)। दे० स्वा० द० का अन्वय—हे मनुष्या यथा हिरण्यरथाः...रुद्रासः सुवितायाऽगन्तन यूयमागच्छथ।

इन्द्रवन्तः—इन्द्र के साथ, इन्द्र से युक्त, स्वा० द० बह्विन्द्र ऐश्वर्यं विद्यते येषान्ते (बहुत ऐश्वर्य रखने वाले)। पदपाठ में नामपद के साथ जुड़े हुए मतुप्, वतुप् तद्धित प्रत्ययों को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है। (दे० वै० व्या०, पृ० १९९-२००)। मरुतों को प्रायः इन्द्र का सेवक या सहायक बताया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी मन और प्राण की सङ्गति ध्यान देने योग्य है।

सजोषसः—स्क०-सम्प्रीयमाणा इन्द्रेण सहैव परस्परतो वा, सा०-परस्परं समानप्रीतयः, स्वा० द०—समानप्रीतिसेविनः, गेल्ड०—समरस (आइन्त्रेश्तिग), ग्रास०—परस्पर संयुक्त (फेर्आइन्त)। समानं जोषः येषां ते (बहु०), किन्तु उत्तरपद के आदि में उदात्तत्व के लिये दे० वार्तिक—"परादिश्च परान्तश्च" इत्यादि।

हिरण्यरथाः—हिरण्मया रथा येषां ते, स्वा० द०-हिरण्यं सुवर्णं रथेषु येषां ते, यद्वा हिरण्यं तेज इव रथा येषां ते। बहुव्रीहि समास होने के कारण पूर्वपद में प्रकृतिस्वर (पा० ६।२।१—बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्)।

सु वितायं—या०-सुविताय कर्मणे, स्क०—यज्ञकर्मणे यज्ञसमाप्त्यर्थमित्यर्थः इण्) गतौ, अधिकरणे क्तः प्रत्ययः—शोभनं गम्यते यस्मिन् तत् सुवितं यज्ञकर्म।

छान्दसत्वादुपसर्गस्यापि सोरुवङादेशः) । वें-सुप्रसूताय कर्मणे, सा०-सुगमनाय तत्साधनाय सुष्ठु सर्वैर्गन्तव्याय यज्ञाय तदर्थम्, स्वा० द०—ऐश्वर्याय, गेल्ड०—शोभन गति के लिये (त्सु गुतॅर फ़ाह्र्त), ग्रास०—सातत्य, कल्याण, प्रसन्नता (फ़ोर्नगांग, वोह्लफाह्र्त, ग्ल्युक्) । मै०—कल्याण, सुगति—दुरित (दुर्गति) का विपरीत, मक्स०-कल्याण, आशीर्वाद (वेल्फ़ेअर, ब्लैसिंग) । शोभन-गति(सु √इ क्त) इसका सीधा और स्पष्ट अर्थ है। (दे० ७।१००।२) ।

अस्मत्—स्क०, वें०, सा०—अस्माकम्, अस्मदीया (व्यत्ययेनात्र षष्ठी), स्वा० द०, गेल्ड०—अस्माकं सकाशात् (हमारे पास से, हमारी ओर से)—यह अधिक ठीक प्रतीत होता है क्योंकि इससे किसी व्यत्यय की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

तृष्णजे'—तृषिताय, (पिपासु के लिये)[1],—तृष्णक् (ज्)पुं० चतुर्थी एक०, या० तृष्णक् तृष्यतेः (√तृष् पिपासायाम् से 'स्वपितृषोर्नजिङ्'—पा० ३।२। १७२ से नजिङ् (नज्) प्रत्यय) । ऋ० में केवल एक और स्थान (१।८५।११) पर यह शब्द आया है, और वहाँ इसके विशेष्य 'गोतमाय' से इसका चतुर्थ्यन्त होना निश्चित है ।[2] किन्तु स्क० और दुर्गाचार्य ने इसे सप्तम्यन्त माना है (तृष्णा पिपासा सा जायते यस्मिन्, तां वा यो जनयति स तृष्णजः कालो ग्रीष्मान्तः तस्मिन् वृष्टिकाले) ।

उदन्यवे'—यह शब्द समस्त ऋ० में केवल यहीं है। उदकम् इच्छते, उदकेच्छवे (जल के इच्छुक के लिये)—उदन्यु पुं० चतुर्थी एक०, या० उदन्युरुदन्यतेः (उदक+क्यच् से 'क्याच्छन्दसि'—पा० ३।२।७० से उ प्रत्यय । किन्तु स्क० ने एक पक्ष में यहाँ प्रथमार्थे चतुर्थी मानी है ।

अन्तिम पाद— में दी गई उपमा का सम्बन्ध दो प्रकार से जोड़ा जा सकता है । एक तो ऋचा के पूर्वार्ध में मरुतों के आगमन से, और दूसरे तृतीय पाद में मरुतों के प्रति स्तुति की कामना से । निस्सन्देह इनमें से प्रथम सम्बन्ध दूराकृष्ट है । द्वितीय सम्बन्ध स्वाभाविक भी है और अधिक काव्यात्मक भी । स्क० ने दोनों सम्बन्धों की दृष्टि से यह व्याख्या दी है:—इयं युष्माकम् अस्माकं स्तुतिः कामयते, किमिव । उच्यते । ग्रीष्मान्ते काले यथा दिवः द्युलोकस्य सम्बन्धिन उत्साः । द्वितीयार्थे प्रथमैषा । उत्सान् मेघान् उदन्यवे इयमपि प्रथमार्थे चतुर्थी । उदन्युः उदककामो लोकः कामयते, तद्वत् । अथवा उत्सा उदन्यवे इति स्वार्थ एव प्रथमाचतुर्थ्यौ । व्यवहितस्य आ गन्तनेत्यस्येयमुपमा न प्रतिहर्यत इत्यस्य । यथा

---

१. दे. अमर. लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक् ।

२. सा. ने सम्भवतया उसी के अनुकरण पर यहाँ भी 'तृष्णजे गोतमाय' दिया है ।

ग्रीष्मान्ते दिवः सम्बन्धिन उत्सा मेघाः उदन्यवे उदककामस्य लोकस्यार्थाय गच्छन्ति तद्वदागच्छत ॥ वेंकट की प्रथमसम्बन्धानुसारिणी व्याख्या यह है—यथा तृष्णजे तृष्णा जाता यस्य तस्मै उदकमिच्छते दिवः मेघा आगच्छन्ति तद्वदागच्छतेति ॥ इसी प्रकार सायण—तस्मादागच्छत । उदन्यवे उदकेच्छवे तृष्णजे गोतमाय दिवः द्युलोकसकाशात् उत्सा उदकनिष्यन्दा यथा युष्माभिः प्रेरितास्तद्वदस्मदर्थमप्यागत्याभिमतं ददतेत्यर्थः । न पूरणः ॥ किन्तु गेल्ड० ने द्वितीय सम्बन्ध माना है—(हमारी स्तुति आपका स्वागत उसी प्रकार करती है) जैसे जल की इच्छा करने वाले पिपासु व्यक्ति के लिये आकाश के झरने करते हैं (वी देम दुर्स्तिगेन, देग्रर नाख वास्सर फ़ेग्ररलांग्त, दी क्वेल्लॅन देस हिम्मॅल्स) । स्वा द० ने इस उपमा का सम्बन्ध जोड़ने के लिये स्वतः कल्पना की है—तृष्णज उदन्यव उत्सा न ये दिवः कामयन्ते तेऽस्माभिः सततं सत्कर्त्तव्याः (तृष्णायुक्त, जल की इच्छा करने वाले के लिये कूप जैसे, वैसे जो कामनाओं की कामना करते हैं वे हम लोगों से निरन्तर सत्कार करने योग्य हैं) । सातवलेकर ने तो दिवः को सम्बोधन मानकर जो अर्थ किया है, उसमें व्याकरण की पूर्ण अवहेलना कर दी गई है क्योंकि स्वर की दृष्टि से सर्वानुदात्त न होने पर यह शब्द सम्बोधन कदापि नहीं हो सकता । सातवलेकर ने भी भाव पूर्ण करने के लिये अपनी ओर से कुछ जोड़ा है :—हे (दिवः) तेजस्वी वीरो । जिस प्रकार प्यासे और जल को चाहने वाले के लिये जलकुंड रखे जाते हैं, उसी प्रकार हमारे लिये तुम हो ।

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः ।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥२॥

वाशीऽमन्तः । ऋष्टिऽमन्तः । मनीषिणः । सुऽधन्वानः । इषुऽमन्तः । निषङ्गिणः । सुऽअश्वाः । स्थ । सुऽरथाः । पृश्निऽमातरः । सुऽआयुधाः । मरुतः । याथन । शुभम् ॥

वाणी से युक्त, (त्वरित) गमन से युक्त मनीषी, (तुम)
शोभन प्रेरक, गति से युक्त, निषङ्गी (संग्रहकर्ता) ।
शोभन अश्वों वाले हो सुरथ, हे पृश्निमातृक (जन) !
शुभ युद्धशक्तियुत, मरुतो हे, जाते हो तुम शुभ को ॥

श्वास-निश्वास क्रम में प्राण विशेष स्वर उत्पन्न करते हैं, वही मानो उनकी वाणी है । जैसे मनीषी के सभी कार्य नियमित होते हैं उसी प्रकार प्राण भी नियमित रहते हैं, इसीलिये इन्हें मनीषी कहा गया है । निषङ्ग तरकैस को कहते हैं । जिस प्रकार तरकस वाणों के संग्रह के लिये प्रयुक्त होता है

उसी प्रकार ये प्राण भी जीव के लिये शक्ति का संग्रह करते रहते हैं। उसी शक्ति को संकेतित करने के लिये इन्हें शोभन अश्वों वाला कहा गया है। अश्व (अश्नुतेऽध्वानम्) उस शक्ति का प्रतीक है जो किसी को कहीं ले जाने में सहायक होती है। प्राणों की माता अन्तरिक्ष (पृश्नि) है। सकल विश्व में व्याप्त वायु का आधार होने के कारण ही अन्तरिक्ष को माता कहा जाता है। इसीलिये वायु का एक नाम 'मातरिश्वा' है। इस मन्त्र में आये मरुतों के विशेषण जिस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणों के लिये सङ्गत हैं, उसी प्रकार आधिभौतिक दृष्टि से वीर पुरुषों और आधिदैविक दृष्टि से वायुदेव या वृष्टिदेव के लिये भी सङ्गत हो सकते हैं।

वाशीमन्तः—स्क०-वाशी प्रसिद्धः शस्त्रविशेषो लोके तद्वन्तः, वें०-वास्यायुधयुक्ताः, सा०-तक्षणसाधनमायुधं वाशी, तद्वन्तः, ग्रास०, गेल्ड०, मै०, सात०-कुठार से युक्त (मित एक्स्तेन), मक्स०-छुरे (डैगर) से युक्त। किन्तु स्वा० द०-प्रशस्ता वाग् विद्यते येषां ते (उत्तम वाणी है जिनकी), इसकी पुष्टि या० (४।१६) की निरुक्ति से होती है—वाशीति वाङ्नाम वाशत इति सत्याः—√वाश् (शब्द करना) से। ग्रास० के अनुसार वाशी शब्द (व्राशी का रूपान्तर) √व्रश्=व्रश्च् से निष्पन्न है। किन्तु √वाश् (शब्दे) दिवादि० आ० से इसका निर्वचन सीधा है।

ऋष्टिमन्तः—स्क०-ऋष्टयः शक्तयः तद्वन्तः, वें०-शक्तिमन्तः, सा०-क्षुरिकावन्तः, स्वा० द०-ज्ञानवन्तः (ज्ञान वाले), ग्रास०, गेल्ड०, मै०, सात०-भाले धारण करने वाले। मै० के अनुसार ऋष्टि शब्द √ऋष् (घोंपना) से निष्पन्न है। आश्चर्य की बात है कि स्वयं मै० की धातुसूची में √ऋष् का अर्थ दौड़ना (रश्) दिया है। अतः √ऋष्-गतौ से व्युत्पत्ति मानकर इसका अर्थ 'गति से युक्त' करना उचित प्रतीत होता है। ऋष्टि शब्द से मतुप् प्रत्यय लगकर यह शब्द बना है, अतः 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० ३।१।४) के अनुसार पित् प्रत्यय मतुप् अनुदात्त होना चाहिये था। परन्तु ऋष्टि शब्द ह्रस्वान्त और अन्तोदात्त होने के कारण 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' (पा० ६।१।१७६) से यहाँ मतुप् प्रत्यय उदात्त है।

सुधन्वानः—शोभन धनुषों को धारण करने वाले (शोभनं धनुर्येषां ते)। यहाँ धनुष् शब्द प्रेरणा का प्रतीक है क्योंकि यहीं से बाणों को लक्ष्य पर पहुँचने की प्रेरणा और बल मिलते हैं। (दे० या० ९।१६—धनुर्धन्वतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा। धन्वन्त्यस्मादिषवः। √धवि गतौ भ्वा० प०) बहुव्रीहि समास होने पर भी पूर्वपद सु होने के कारण उदात्त नहीं है (पा० ६।२।१७२—नञ्सुभ्याम्)।

इषुमन्तः—बाणों से युक्त (बाणवन्तः)। यहाँ भी इषु शब्द गति का

प्रतीक है। इसके मूल में √ईष् गतौ धातु है। (दे० या० ६।१८-इषुरीषते गतिकर्मणो वधकर्मणो वा।) इषु शब्द ह्रस्वान्त होने पर भी अन्तोदात्त न होने के कारण यहाँ सामान्य नियम (अनुदात्तौ सुप्पितौ) के अनुसार मतुप् प्रत्यय अनुदात्त ही है। यदि मरुतों को वृष्टिदेव माना जाये तो धनुष् बिजली और बाण जल की धाराएँ होंगे।

स्वश्वाः—शोभन अश्वों वाले (शोभना अश्वा येषां ते)। सुधन्वानः के समान यहाँ भी सु उदात्त नहीं है (दे० पदपाठ)। यदि मरुतों को वृष्टिदेव मानें तो ये घोड़े सम्भवतया वायु होगी जो उनका वाहन बनती है। उन्हें वीर योद्धा मानने पर तो उपर्युक्त सभी विशेषण अभिधार्थ में ही लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार सुरथाः की व्याख्या होगी—रथ और अश्व में विशेष भेद नहीं है।

पृश्निमातरः—हे पृश्निरूपी माता वाले या पृश्नि जिनकी माता है। वाक्य के मध्य में सम्बोधनपद होने के कारण सर्वानुदात्त है। स्क० ने पृश्नि को द्यौः माना है (श्निर्द्यौः सा माता येषां ते), और वें० ने इसे गौ माना है (गोमातरः), स्वा० द०-पृश्निरन्तरिक्षं मातेव येषां ते (अन्तरिक्ष है माता के सदृश जिनकी), मात०-हे भूमि को माता मानने वाले वीर मरुतो, ग्रास०-चितकबरी गौ (लाक्षणिक दृष्टि से मेघ) रूपी माता वाले। या० (२।१४) ने पृश्नि का अर्थ आदित्य बताते हुए उसके ये निर्वचन दिये हैं—पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा॥ सा०-अन्यत्र (ऋ० १।८५।२ में)—नानारूपाया भूमेः पुत्राः (प्राश्नुते सर्वाणि रूपाणीति पृश्निः भूमिः)। अर०-पृश्नि का प्रयोग ऋषभरूप परम पुरुष तथा गोरूपा स्त्री-शक्ति दोनों के लिये होता है। अतः पृश्निमातरः मरुतः उस स्त्रीशक्ति से उत्पन्न जीवनशक्तियाँ और विचारशक्तियाँ हैं। वा० श० के अनुसार पृश्नि चित्रवर्णा शबला सत्त्वं रजस्तम इति त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।५) में उसे ही रक्त, श्वेत और कृष्ण वर्ण की बताया गया है—अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्। यह व्याख्या मरुतों की ब्रह्माण्डकिरणों के रूप में कल्पना से पूर्ण मेल खाती है क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में उन किरणों की उत्पत्ति प्रकृति से ही हुई। (दे० वे० वि० नि०, पृ० १५६-१६५), पृश्नि से तु० यू०-पेक्स्नॉस्।

स्वायुधाः—शोभन शस्त्रास्त्रों वाले (शोभनानि आयुधानि येषां ते)। यहाँ भी प्राणों के सम्बन्ध में आयुधों को प्रतिरोध शक्ति का प्रतीक मानना होगा। प्राण निरन्तर अनिष्ट विजातीय द्रव्यों का प्रतिरोध करते रहते हैं। वृष्टिदेवों के प्रसङ्ग में ये आयुध विविधाकार की विद्युत् ही हो सकती है।

यातन—जाओ। 'संहितायाम्' (पा० ६।३।११४) के अनुसार संहितापाठ

में यह पद दीर्घान्त है। √या लोट् म० पु० बहु० में त प्रत्यय के स्थान पर 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० ७।१।४५) के अनुसार 'थन' प्रत्यय है। व्याख्याकारों में से केवल स्क० (गच्छत) ने इसे लोट् लकार में माना है। अन्य सभी भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् इसे लट् म० पु० बहु० का रूप मानकर व्याख्या करते हैं। (दे० वै० व्या०, भा० २, पृ० ६८६, टि० १६)।

अन्तिम दोनों पादों में—एक-एक अक्षर कम होने से इस मन्त्र के छन्द को विराड् जगती की सञ्ज्ञा दी जा सकती है। अथवा व्यूह के द्वारा 'सुअश्वा' और 'सुआयुधाः' उच्चारण से जगती छन्द की पूर्ति की जा सकती है।

धूनुथ द्यां पर्वतान् दाशुषे वसु नि वो वना जिहते यामनो भिया।
कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥३॥

धूनुथ। द्याम्। पर्वतान्। दाशुषे। वसु। नि। वः। वना। जिहते। यामनः। भिया।
कोपयथ। पृथिवीम्। पृश्निऽमातरः। शुभे। यत्। उग्राः। पृषतीः। अयुग्ध्वम् ॥

कँपाते नभ को, शैलों को, दाता के हित धन को,
अत्यधिक तुम्हारे वन थर्राते गमन की भीति से।
करते हो कुपित धरा को, हे अन्तरिक्षमातृको!
शुभार्थ जब उग्रो! धब्बे वालों को जोता तुमने ॥

यहाँ मरुतों का आध्यात्मिक प्राणरूप बहुत स्पष्ट नहीं है। वीरयोद्धाओं का रूप अत्यन्त स्पष्ट है। इस प्रसङ्ग में केवल पृश्निमातरः का अर्थ भूमिपुत्र करना पड़ेगा। वृष्टिदेव के रूप में पृषतीः से अभिप्राय विविधरूपों वाले या सेचन समर्थ मेघ होगा। किन्तु फिर भी आध्यात्मिक दृष्टि से नभ मस्तिष्क है, पर्वत विविध अंगों के जोड़ हैं, वन सम्भवतया सारे शरीर में व्याप्त रोम हैं। प्राणों की गति से ही समस्त शरीर और उसके अवयवों में कम्पन अर्थात् क्रियाशीलता आती है। धरा को कुपित करना भी शरीर को सञ्चालित करने की प्रतीकात्मक उक्ति है। पृषतीः का अर्थ सेचनसमर्थ रक्तवाहिनी नाड़ियाँ हो सकता है क्योंकि रक्तसञ्चार प्राणों का प्रमुख कार्य है। रक्तसञ्चार के बिना प्राण निरर्थक हो जाते हैं।[1]

प्रथम पाद—स्क०-चिकीर्षितमजानतीं कम्पयथ द्यां दिवं पर्वतान् च। दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय। यजमानायेति सम्प्रदानचतुर्थीश्रुतेः दत्तेति वाक्यशेषः। (अभीष्ट कार्य से अपरिचित आकाश को और पर्वतों को कँपाते

---

१. दे. वं. वि. द., भा. २, पृ. ४५२—"मरुत् पृषत् या प्राणरूप अश्व में रहते हैं।"

हो, आहुति करने वाले यजमान का वर्षा का जलरूप घन—धनं वृष्ट्युदक-लक्षणम्—दे दो) वें०-कम्पयथ दिवं मेघांश्च यजमानाय धनम्। सा० द्याम् में द्वितीया कोसप्तम्यर्थक मानकर धूनुथ का अन्वय वें० के समान ही करता है—द्यां दिवीत्यर्थः पर्वतान् मेघान् दाशुषे हविर्दात्रे यजमानाय वसु धनानि च धूनुथ प्रापयथ। स्वा० द० ने यत् का अन्वय इसी पाद के साथ किया है—यत् ये यूयम् वायव इव द्यां विद्युतं पर्वतान् मेघान् च धूनुथ कम्पयथ, तत् ते दाशुषे दात्रे वसु द्रव्यं धूनुथ कम्पयथ (जो आप लोग बिजुली और मेघों को कँपाइये वह दाताजन के लिये द्रव्य को कम्पित कीजिये)। सात०-दानी को धन देने के लिये जब तुम चढ़ाई करते हो, तब द्युलोक को और पहाड़ों को भी तुम हिला देते हो। गेल्ड०-तुम यजमान के लिये आकाश और पर्वतों से धन का धूनन करते हो (ईअर श्युत्तॅल्त फोम हिम्मॅल, फ़ोन दॅन बॅर्गेन दास गूत फ़्यूर दॅन ऑप्फ़रश्पेंडर)। यहाँ √धू को द्विकर्मक धातु मानकर अर्थ किया गया है—तदनुसार अपादानकारक से विवक्षित द्यौः और पर्वत शब्दों की भी कर्म संज्ञा होने से ये शब्द द्वितीया में माने गये हैं।[1] परन्तु √धू का अन्वय वसु के साथ लाक्षणिक अर्थ में किया जा ही सकता है। "धन को कँपा देते अर्थात् बरसा देते हो।" प्राण मानो दानी व्यक्ति में प्रफुल्लता का और निर्भयता का सञ्चार करते हैं।

वर्ना—जङ्गल, वृक्षादि, केवल स्क०—वनानि उदकानि वृष्टिलक्षणानि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' से शि का लोप।

नि, जिहते—स्क०-नीचैर्गच्छन्ति, वें०-नीचीनं गच्छन्ति, सा०-नितरां कम्पन्ते, अवनता भृशं शंसन्तीत्यर्थः। स्वा० द०-गच्छन्ति (जो आप लोगों को जंगल प्राप्त होते हैं, उनको जाने वाले आप लोग नि कोपयथ—निरन्तर कँपाइये) यहाँ नि का सम्बन्ध जिहीते से न मानकर कोपयथ से माना गया है। सात०-बहुत ही काँपने लगते हैं। गेल्ड०-अपने आप को झुकाते हैं (दूकॅन जिश दी वेल्दर)। √हा (ओहाङ् गतौ) जुहोत्यादि० लट्, प्र० पु० बहु०।

यामनः—स्क०-यानं याम गमनम् तस्मात् भयेन युष्मद्गमनभयेन। गमनाय प्रवृत्तेष्वेव युष्मासु मेघेन मुक्तान्युदकानि पतन्तीत्यर्थः। वें०—युष्माकं गमनात् भयेन, सा०—युष्माकं गमनस्य भीत्या, स्वा० द०—ये यान्ति ते (जाने वाले आप लोग), सा०-हमले के डर से।

कोपयथ—वें., सा०,-क्रुद्ध करते हो (कोपयथ), किन्तु स्क०-आकुलीकुरुथ

---

१. दे. वै. व्या., भा. २, पृ. ८२२, यह स्मरणीय है कि पा. १।४।५१ पर कारिका (दुह्याच् इत्यादि) में √धू धातु नहीं गिनाई गई।

समस्तां पृथिवीम्, स्वा० द०-निरन्तर कँपाइये (लकार व्यत्यय, लट् के स्थान पर लोट्), सात०, गेल्ड०, ग्रास०—क्षुब्ध कर डालते हो (ईग्रर ब्रिंग्त दी एर्दे इन ग्रौफ़्हर)। वैदिक प्रयोग से √कुप् का मूल अर्थ स्थूल, भौतिक 'काँपना, हिलना, क्षुब्ध होना' प्रतीत होता है। धीरे-धीरे इस धातु का क्षेत्र भौतिक से मानसिक हो गया। अतः परवर्ती भाषा में √ कुप् क्रोधे। और क्रोध में भी काँपना, हिलना जैसी मूल क्रियाएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं।[1]

शुभे—जल के लिये (उदकार्थम्)—शुभमित्युदकनाम (निघं० १।२), पाश्चात्य विद्वान्-शोभा के लिये (शुभ्-स्त्री० चतुर्थी एक०)।

पृषतीः—अश्वाः (घोड़ियों को), पश्चात्य विद्वान्-धब्बे वाली (घोड़ियों) को, सात०-धब्बे वाली हिरणियाँ, स्वा० द०-सेचनकर्त्रीरुदकधाराः (सेचन करने वाली जल की धाराओं को), वेलणकर-भूरे रंग की घोड़ियाँ। पृषतियाँ मरुतों का वाहन हैं (निघं० १।१५।६-पृषत्यो मरुताम्)। ये धब्बे वाली घोड़ियाँ सम्भवतया वृष्टिदेव मरुतों के सहायक विविधवर्ण वाले मेघ हैं। धातुमूलक अर्थ के अनुसार पृषतीः (√पृष्-भ्वा० सेचने) सेचनशील मेघरूपी घोड़ियाँ हैं। 'धब्बे' अर्थ के मूल में भी सेचन या बिन्दुओं का भाव विद्यमान है। प्राणों के सन्दर्भ में ये घोड़ियाँ सेचनशील रक्तवाहिनी नाड़ियाँ भी हो सकती हैं।

अयुग्ध्वम्—जोतते हो (योजयथ), गेल्ड०-जब तुमने जोत लिया है, स्वा० द०-युक्त कीजिये (व्यत्यय से लङ् के स्थान पर लोट् माना गया है), तिङन्त पद होते हुए भी वाक्य मे यत् शब्द होने के कारण अट् उदात्त है।

वात॑त्विषो म॒रुतो॑ व॒र्षनि॑र्णिजो य॒मा इ॑व सु॒सदृ॑शः सु॒पेश॑सः।
पि॒शङ्गा॑श्वा अरु॒णाश्वा॑ अरे॒पसः॒ प्रत्व॑क्षसो महि॒ना द्यौरि॑वो॒रवः॑ ॥४॥

वात॑ऽत्विषः। म॒रुतः॑। व॒र्षऽनि॑र्निजः। य॒माःऽइ॑व। सु॒ऽसं॑दृशः। सु॒ऽपेश॑सः। पि॒शङ्ग॑ऽअश्वाः। अ॒रु॒णऽअ॑श्वाः। अ॒रे॒पसः॑। प्रऽत्व॑क्षसः। म॒हि॒ना। द्यौःऽइ॑व। उ॒रवः॑ ॥

वायुसम तेजस्वी (ये) मरुत् वृष्टि रूप के धारक,
यमजों के सम शुभ सदृशरूप शोभन (तेज से युक्त)।
भूरे अश्वों, लाल अश्वों वाले पापरहित (वे),
प्रकृष्ट कार्य करने वाले, महत्त्व से नभ सम विशाल ॥

इस मन्त्र में वृष्टि के साथ मरुतों का सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट है। मरुतों

---

१. दे. पीटर्सन, हिम्ज फ़ाम दि ऋग्वेद, पृ. ११५, ऋ. २।१२।२ पर टि. २, मै. ने आश्चर्यजनक रूप से वै. ग्रा. स्टू. के धातुकोश में कुप् का अर्थ 'क्रुद्ध होना' दिया है—बी एंग्री।

को ब्रह्माण्ड किरणें मानने पर भी अर्थ में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु इन्हें मनुष्य, सैनिक या प्राण मानने पर प्रथम पाद में स्पष्टता नहीं रहती, विशेष रूप से 'वर्षनिर्णिजः' शब्द में। फिर भी इस प्रसङ्ग में 'वातत्विषः' से अभिप्राय 'वायु के समान प्रवाहमय तेज वाले' या 'वायु के समान सतत प्रवाह ही जिनका तेज है' हो सकता है। प्राण निरन्तर प्रवाहमय रहते हैं, और वही प्रवाह उनका तेज है। इसी प्रकार सैनिकों की गति ही उनका तेज है। 'वर्ष निर्णिजः' का भाव इस प्रसङ्ग में यह हो सकता है कि जिस प्रकार वर्षा में जल बिन्दुओं का ताँता बंधा रहता है उसी प्रकार इनका (प्राणों या सैनिकों का) भी क्रम निरन्तर चलता है। जैसे जुड़वाँ सन्तान एक दूसरे से अभिन्न होती है उसी प्रकार प्राणों में भेद नहीं किया जा सकता—सब एक समान होते हैं। प्राणों के प्रसङ्ग में भूरे और लाल अश्व क्रमशः शिराएँ और धमनियाँ हो सकती हैं क्योंकि उनमें क्रमशः मटमैले और लाल रंग का रक्त प्रवाहित होता है। उन्हें प्राणों का अश्व कहना सर्वथा उचित है। दे० चरक०-तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा। युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥[1] अपने महत्त्वपूर्ण कार्य के कारण प्राण नभ के समान विशाल अर्थात् महान् हैं।

वातत्विषः—यह शब्द ऋ० में केवल एक और मन्त्र (५।५४।३) में आया है और वहाँ भी यह मरुतों का ही विशेषण है।—वातस्य इव त्विट् येषां ते (बहु०)। इस प्रसङ्ग में स्क०, वें० और सा०-तीनों ने वात का यौगिक अर्थ (√वा गतिगन्धनयोः से निष्पन्न) लेकर व्याख्या की है। स्क०-वाता गता प्राप्ता त्विट् दीप्तिर्यैस्ते, वें०-निर्गच्छद्दीप्तयः (जिनमें से दीप्ति प्रकट हो रही है), सा०-सर्वत्र प्राप्तदीप्तयः (जिनका प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है)। त्विट् शब्द √त्विष् दीप्तौ (चमकना) से क्विप् प्रत्यय द्वारा बनता है। स्वा० द० और मक्स० ने वात का रूढार्थ 'वायु' लेकर क्रमशः यह व्याख्या की है—वातस्य त्विट् कान्तिर्येषां ते, ब्लेज़िंग विद् द विंड (वायु से देदीप्यमान)। परन्तु मक्स० की व्याख्या में स्वरविषयक आपत्ति आ जाती है क्योंकि तदनुसार यह उपपद समास होगा और उक्त समास के कृत्प्रत्ययान्त पद का प्रकृतिस्वर होता है (दे० पा० ६।२।१३९—गतिकारकोपपदात् कृत्), परन्तु यहाँ बहुव्रीहि का पूर्वपदप्रकृतिस्वर है। मै० प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार √ त्विष् का अर्थ क्षुब्ध होना (बी स्टर्ड) है। तदनुसार उन्होंने 'वायु के समान क्षुब्ध' अर्थ किया है (दे० गेल्ड०-हेफ़्तिग वी देअर विंड)।

---

१. सुश्रुत संहिता शारीरस्थान (जयदेव विद्यालङ्कार—१९३२, लाहौर) पृ० १५७ में से उद्धृत।

सात०-प्रखर तेज से युक्त। वायु में तेज की कल्पना ऋ० १०।१६८।१ की वात-सम्बन्धी इस उक्ति से भी स्पष्ट होती है—दि॒वि॒स्पृग् या॑त्यरु॒णानि॑ कृ॒ण्वन् (अरुणिमाएँ उत्पन्न करता हुआ वात आकाश का स्पर्श करता हुआ जा रहा है)।

व॒र्षनि॑र्णिजः—वर्षः इव निर्णिक् येषां ते (बहु०)—वर्षा जैसा रूप है जिनका। स्क०—निर्णिक् (निघं० ३।७) इति रूपनाम। वृष्टिरूपाश्च। वृष्टि-कर्मप्राचुर्याद्धि मरुतस्तद्रूपा इव लक्ष्यन्ते। अथवा निर्णिक् इति णिजिर् शौचपोषणयोरित्यस्य रूपम्। सर्वप्राणिनां वृष्ट्या निश्चयेन पोषयितारः (वर्षा से सब प्राणियों के पोषक)। वें०-वर्षरूपाः, सा०-वृष्टेः शोधयितारः (वृष्टि के शोधक), अथवा निर्णिगिति रूपनाम। वर्षमेव रूपं येषां ते तादृशाः, वृष्टिप्रदा इत्यर्थः। स्वा० द०-ये वर्षं निर्नेनिजन्ति ते। यह व्याख्या सा० की प्रथम व्याख्या के समान है। किन्तु इसमें और स्क० की दूसरी व्याख्या में स्वर सम्बन्धी आपत्ति होती है, क्योंकि इसके अनुसार यह उपपद समास बनता है, परन्तु स्वर बहु० का है (दे० ऊपर वातत्विषः पर टि०)। पाश्चात्य विद्वानों ने निर्णिज् का अर्थ 'वस्त्र' मानकर व्याख्या की है—'वर्षारूपी वस्त्र वाले' या 'वर्षा में लिपटे हुए' (क्लोद्ड इन रेन)। सा० ने निर्णिज् का अर्थ तो वस्त्र माना है, परन्तु वर्ष का अर्थ स्वदेश किया है—स्वदेशी कपड़ा पहनने वाले।

य॒मा इ॑व—पदपाठ में दोनों पदों के मध्य अवग्रह होने से पता चलता है कि यह समास है। इव सर्वानुदात्त है।

सु॒सं॑दृशः—सुष्ठु सदृशः (शुभ रूप में समान)। यह प्रादिसमास है। 'सु' निपात प्रादि के अन्तर्गत होने के कारण यहाँ पा० ६।२।२ और उस पर वार्तिक 'अव्यये नञ्कुनिपातानाम्' के अनुसार पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर है।

सु॒पेश॑सः—शोभनं पेशः (रूपम्) येषां ते (बहु०)—सुन्दर रूप वाले। बहु० में 'सु' पूर्वपद होने के कारण 'सोर्मनसी अलोमोषसी' (पा० ६।२।११७) के अनुसार उत्तरपद के आदि अक्षर 'पे' पर उदात्त है। पेशस् की निरुक्ति-नि० ८।११—पेश इति रूपनाम, पिंशतेर्विपिशितं भवति। (√ पिश् अवयवे +असुन्)।

अ॒रे॒प्सः—पापरहिताः, अविद्यमानं रेपः येषां ते (बहु०), आदि में नञ् होने के कारण उत्तरपद में उदात्त है (दे० वै० व्या० भा० २, पृ० ८६५ (क) १)। यह ध्यान देने योग्य है कि पदपाठ में इस समास के पदों को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं किया गया। नञ् समास तथा देवता द्वन्द्व में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता (दे० वै० व्या० भा० १, पृ० १९७)। दे० वा० प्रा० ५।२४—प्रतिषेधे नावग्रहः। नि. १२।४ में मुकुन्द बख्शी झा ने यह निर्वचन दिया

है :—रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु (तुदादि० परस्मै०) ततोऽसनि फस्य पः पृषोदरादित्वात्। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसमें √रिप् लिपटाना (√लिप्) मानते हैं। तदनुसार भाव होगा निर्लेप, निर्दोष। इस प्रसङ्ग में यह अवधेय है कि अकेला रेपस् शब्द ऋ० में केवल एक बार (४।६।६ में) आया है। √रिप् > √लिप् से तु० यू० लिपोस्, ला. लिप्पुस्, गोथिक-बिलाइबन।

प्रत्वक्षसः—प्रकर्षेण त्वक्षसः—प्रादि समास होने के कारण पूर्वपद उदात्त (दे० पा० ६।२।२)। यह शब्द √त्वक्ष् से निष्पन्न है। पाणिनीय धातुपाठ में दिये गये इसके अर्थ (तनूकरणे—पतला करना, क्षीण करना) के अनुसार भारतीय भाष्यकारों ने 'प्रकर्षेण शत्रूणां तनूकर्तारः' (शत्रुओं का पूर्ण विनाश करने वाले) अर्थ किया है। मै० ने तो त्वक्ष् धातु अपनी धातु सूची में दी ही नहीं है। ग्रास० के अनुसार इसका अर्थ 'बलिष्ठ होना' है। तदनुसार पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द का अर्थ 'अत्यन्त बलवान्, ओजस्वी' (ग्रास० तातक्षेप्तिग) किया है। यास्क ने एक स्थान पर √त्वक्ष् का अर्थ 'कार्य करना' दिया है (दे० नि० ८।१३—त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः)। तदनुसार अर्थ होगा —प्रकृष्ट कार्य करने वाले।

म॒हि॒ना—'महिमन्' से तृतीया एक० में उपधालोप के साथ साथ उपधा से पूर्ववर्ती म् का भी लोप। यह रूप ऋ० में अधिक प्रचलित है। (दे० वै० व्या०, पृ० २७४ (३))।

द्यौरिव—स्क०, वें—द्युलोक इव, सा०-अन्तरिक्षमिव, स्वा० द०-सूर्य इव। पदपाठ में दोनों पदों के मध्य अवग्रह से समास। यह नित्य समास है—दे० वार्तिक-इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च।

पु॒रु॒द्र॒प्सा अ॑ञ्जि॒मन्तः॑ सु॒दान॑वस्त्वे॒षसं॑दृशो अनव॒भ्ररा॑धसः।

सु॒जा॒तासो॑ ज॒नुषा॑ रु॒क्मव॑क्षसो दि॒वो अ॒र्का अ॒मृतं॒ नाम॑ भेजिरे ॥५॥

पु॒रु॒ऽद्र॒प्साः। अ॒ञ्जि॒ऽमन्तः॑। सु॒ऽदान॑वः। त्वे॒षऽसं॑दृशः। अन॒व॒भ्रऽरा॑धसः। सु॒ऽजा॒तासः॑। ज॒नुषा॑। रु॒क्मऽव॑क्षसः। दि॒वः। अ॒र्काः। अ॒मृत॑म्। नाम॑। भे॒जि॒रे॒॥

अतिप्रवाहयुत (सकल शरीर में) लिप्त, सुदाता (देव),
महाबलरूपी अच्युत (उत्साह शक्ति)–धन वाले हैं।
भले हुए उत्पन्न जन्म से द्युतियुत उर वाले हैं,
नभ से (उतर) पूज्य (इन्होंने) अमृत नाम पाया है॥

ये प्राण निरन्तर प्रवाहमय हैं। ये लिप्त हैं, शरीर से एकाकार हैं। ये जीवनदान देने वाले हैं, ये ही बलरूप हैं। ये अच्युत धन वाले हैं। और हम

जानते हैं कि अच्युत धन केवल स्वास्थ्य ही है। मनुष्य के जन्म के साथ ही साथ ये उत्पन्न होते हैं और इनसे ही मनुष्य का वक्षःस्थल तेजस्वी रहता है। वायु मानो प्राणरूप में आकाश से उतर कर भू लोक में आता है (यों तो वायु सर्वत्र व्याप्त है ही) और जब तक प्राण होते हैं तब तक मनुष्य की मृत्यु नहीं होती। इसलिये इन्हें अमृत भी कहा जाता है। यदि मरुतों को वृष्टिदेव माना जाये तो अच्युत धन जल होगा, द्युतियुत उर से विद्युत् का अभिप्राय होगा। इसी प्रकार यदि मरुतों को योद्धा माना जाये तो द्युतियुत उर से तात्पर्य वक्षः-स्थल पर 'माला जैसा आभूषण पहनने वाले' होगा। नभ से उतर कर अमृत नाम पाने का अभिप्राय है कि मानो ये दिव्य शक्ति लेकर आते हैं और अपने वीरता के कार्यों से इस संसार में यश द्वारा अमर हो जाते हैं।

पुरुऽद्रप्साः—स्क०-पुरुः द्रप्सो रसः पयोघृतादिर्येषां ते, वें०—अनेकोदक-विन्दवः, सा०-प्रभूतोदकाः। स्वा० द०—बहुमोहाः (सम्भवतया √दृप् (घमण्ड करना) से)। सात०-यथेष्ट जल समीप रखने वाले। मक्स०-बहुत अधिक वर्षा की बूंदों वाले (रिच इन रेनड्रॉप्स)। ग्रास०, गेल्ड०-बूंदों में समृद्ध (त्रॉप्फ़न-राइश)। यह शब्द ऋ० में केवल एक बार इसी स्थान पर आया है। इसके अर्थ का मुख्य आधार द्रप्स शब्द है। यास्क (नि० ५।१४) ने इस शब्द की निम्न-लिखित निरुक्ति दी है—द्रप्सः सम्भृतः प्सानीयो भवति। दुर्गाचार्य के अनुसार सम्भृतः का अर्थ स्त्री द्वारा धारण किया गया 'पुरुष-रेतस् या शुक्र' है और प्सानीय का अर्थ भक्षणयोग्य द्रव 'दही' है। द्रप्स का 'शुक्र' अर्थ मानते हुए ही इसका निर्वचन अन्य विद्वानों द्वारा √दृप् (हर्षादौ) से भी किया गया है—दृप्यन्त्यनेनेति (जिससे लोग घमण्ड करते हैं)। किन्तु इन निर्वचनों से पूर्ण व्याख्या नहीं होती। यदि 'द्रवति च प्सानीयश्च भवति' निर्वचन किया जाये तो पूर्ण व्याख्या हो जाती है—(जल की) बूंद या धारा या प्रवाह जो बहता भी है और भक्षण योग्य या पीने योग्य भी होता है। ग्रास० ने √द्रु को आधार मानकर इसके मूलरूप 'द्रव्स' की कल्पना की है। इससे तु० जर्मन—त्रॉप्फ़न, अं-ड्रॉप् (स)। बहुव्रीहि समास होते हुए भी यह अन्तोदात्त है (दे० वा० परादिश्च परान्तश्च इत्यादि, और वै० व्या० भा० २, पृ० ८६५, ३)।

अञ्जिमन्तः—पदपाठ के लिये दे० प्रथम मन्त्र में 'इन्द्रवन्तः' पर टि०। अधिकांश भाष्यकार-आभरणवन्तः (आभूषणों से युक्त, आभूषण धारण किये हुए)। ग्रास०—'अनुलिप्त' भी (गेसाल्बत)। स्वा० द०-प्रकृष्टा अञ्जयः कामना विद्यन्ते येषां ते। अञ्जि शब्द √अञ्ज् (व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु) से निष्पन्न है। इसका प्रमुख अर्थ 'लेप करना' है।

सुदानवः—शोभन दान वाले, केवल ग्रास०-अत्यधिक वृष्टि-बिन्दु वाले

(दे० वोर्तरबुख त्सुम ऋग्वेद)। बहुव्रीहि समास होते हुए भी 'आद्युदात्तं द्वय-च्छन्दसि' (पा० ६।२।११९) के अनुसार सु के पश्चात् दो स्वर वाले आद्युदात्त उत्तर पद दानु का आदि अक्षर उदात्त है।

त्वेषसंदृशः—दीप्तदर्शनाः-दीप्तियुक्त रूप वाले (√त्विष् दीप्तौ—चमकना), स्वा० द०-ये त्वेषं सम्पश्यन्ति (जो प्रकाशरूप को देखते हैं या दीप्तिपूर्वक देखते हैं)। सात०-तेजस्वी दीख पड़ने वाले। पाश्चात्य विद्वान्—अभिभूत करने वाला रूप है जिनका, भयानक रूप वाले (ऑफ़ टेरिबल आस्पेक्ट—मै०, गेल्ड०-फ़ॉन युव्रवेंल्तिगॅन्दॅम आन्ब्लिक्)। यास्क ने (नि० १०।२१) 'त्वेषप्रतीका' के निम्नलिखित चार अर्थ दिये हैं—भयप्रतीका, बलप्रतीका, महाप्रतीका, दीप्तप्रतीका वा। तदनुसार 'त्वेष' के 'भय, बल, महा और दीप्त' अर्थ हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार √त्विष् का अर्थ 'तीव्र, भयानक गति में होना, क्षुब्ध होना' है।

अनवभ्रराधसः—यह शब्द ऋ० में केवल मरुतों के लिये प्रयुक्त हुआ है। स्क०—अवभ्रमिति बिभर्तेर्धारणार्थस्य रूपम्, अव अधः भ्रियते, धारितं दृश्यते यत्तद्, अवभ्रराधो धनं येषां ते अवभ्रराधसो निकृष्टधनाः, न अवभ्रराधसः अनवभ्रराधसः-उत्कृष्टधनाः (उत्तम धन वाले), वें०-अनपभ्रंशितयजमानधनाः (यजमान के धन को नष्ट न करने वाले), सा०-अनवभ्रष्टधनाः, स्वा० द०-न विद्यतेऽवभ्रो धननाशो येषां ते, मक्स०-असमाप्य सम्पत्ति वाले (ऑफ़ इन्-एग्ज़ॉस्टिबल वैल्थ), ग्रास०—अनश्वर पुरस्कार देने वाले, गेल्ड०, सात०-जिनका धन (उपहार) कोई छीन नहीं सकता (दी ज़िश दी गाबॅ निश्त एन्त्रा-इस्सन लास्सन)।

सुजातासः—शोभन जन्म वाले, सुष्ठु शोभनं वा जाताः—सुजात शब्द में उत्तरपद जात, 'सूपमानात् क्तः' (पा० ६।२।१४५) के अनुसार अन्तोदात्त है। 'आज्जसेरसुक्' से जस् विभक्ति के आगे असुक् भी।

रुक्मवक्षसः—रुक्माः वक्षस्सु येषां ते (बहु० पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर)। स्वर्णाभूषणों से युक्त वक्षःस्थल वाले। स्क० ने 'रोचिष्णूरस्काः' (तेजस्वी वक्ष वाले) अर्थ भी किया है (रुक्माणि वक्षांसि येषां ते)। रुक्म शब्द √रुच् (चमकना) से मक् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है (दे० उणादि० युजिरु-चितिजां कुश्च)।

अर्काः—पूज्याः, पूजनीयाः (इन पूज्यों ने), पाश्चात्य विद्वान्—गीत (√अर्च्-गाना), किन्तु मक्स०-गायक (सिंगर्ज़)। अर०-प्रकाश के गीत (साँग्ज़ ऑफ़ इल्ल्यूमिनेशन)। या० (नि० ६।२३) ने भी इसका अर्थ 'अर्चनीयैः स्तोमैः' (पूज्य स्तुतियाँ) किया है। नि० ५।५ में इसके देव, मन्त्र, अन्न, वृक्ष' अर्थ भी

दिये हैं, किन्तु अन्तिम अर्थ को छोड़कर इन सब के मूल में √अर्च् (पूजायाम्-पूजा करना) है। अतः 'पूजनीय' अर्थ सर्वथा संगत प्रतीत होता है।

नाम—स्क०, वें०, सा०—अमरणसाधनम् वृष्टिलक्षणम् उदकम् (अमरत्व प्रदान करने वाला वृष्टिरूप जल)—निघं० (१।१२)-उदकनाम। शेष सभी विद्वान्—नाम, अमर यश।

ऋष्टयो॑ वो मरुतो॒ अंस॑यो॒रधि॒ सह॒ ओजो॑ बा॒ह्वोर्वो॒ बलं॑ हि॒तम्।
नृ॒म्णा शी॒र्षस्वायु॑धा॒ रथे॑षु वो॒ विश्वा॑ वः॒ श्रीरधि॑ त॒नूषु॑ पिपिशे ॥६॥

ऋ॒ष्टयः॑। वः॒। म॒रु॒तः॒। अंस॑योः। अधि॑। सहः॑। ओजः॑। बा॒ह्वोः। वः॒। बल॑म्। हि॒तम्। नृ॒म्णा। शी॒र्षऽसु॑। आयु॑धा। रथे॑षु। वः॒। विश्वा॑। वः॒। श्रीः। अधि॑। त॒नूषु॑। पि॒पि॒शे॒॥

गतियाँ तुम्हारे हे मरुतों, कन्धों पर आश्रित हैं!
सहनशक्ति, ओज, भुजाओं में तुम्हारी बल धृत है।
नराभिमत बल शीर्षों पर, आयुध रथों पर तुम्हारे,
सभी तुम्हारे शोभा आश्रित देहों पर भूषित है॥

प्रथम दृष्टि में यह युद्ध के लिये तत्पर, गणवेषधारी सैनिकों का मनोहर वर्णन है। उनके कन्धों पर भाले रखे हैं, भुजाओं में बल और ओज है, उन्नत मस्तक से पुरुषोचित बल प्रकट हो रहा है, रथों पर अन्यान्य प्रकार के शस्त्रास्त्र सुसज्जित हैं, और इन सबके परिणामस्वरूप मानो वे लक्ष्मी द्वारा आभूषित हैं। वृष्टिदेव के रूप में मरुतों के भाले बिजली की लेखा के प्रतिरूप हैं, अन्य शब्दों द्वारा उनके वेग को प्रकट किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणों के कन्धों पर गतियाँ रखी हैं अर्थात् प्राण ही सब प्रकार की गतियों का मूलाधार हैं। सहनशक्ति, बल, पौरुष—सब प्राणों पर आधृत हैं। शरीर प्राणों के रथ हैं, और उन रथों पर मानो प्राणों द्वारा सञ्चालित विविध शक्तियाँ रखी हैं जिनसे सारी शोभा शरीर पर अलङ्कृत होती है।

ऋ॒ष्टयः—ऋष्टि शब्द पर टिप्पणी के लिये दे० मं० २. ऋष्टिमन्तः पर टि०। स्वा० द० ने इसे 'मरुतः' का विशेषण और तदनुसार सम्बोधन मानते हुए इसका अर्थ 'हे ज्ञानवन्तः मनुष्याः' किया है। किन्तु स्वर की दृष्टि से यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि सम्बोधन-पद पाद के आरम्भ में आने पर वह आद्युदात्त होता है (दे० पा० ६।१।१९८—आमन्त्रितस्य च)।

वः॒—युष्मद् और अस्मद् शब्दों की द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों में जो त्वा, मा आदि ह्रस्वरूप बनते हैं, उन्हें इन शब्दों के निपातादेश कहा

जाता है। इसका अभिप्राय है कि ये रूप सर्वानुदात्त होते हैं (दे० पा० ८।१।१८, २०-२३)।

मरुतो अंसयोः—हे मरुतो तुम्हारे कन्धों पर। 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० ६।१।११५) के अनुसार यह एक पाद के मध्य परवर्ती अ के पश्चात् वकार या यकार न रहने पर पूर्ववर्ती एकार और ओकार से होने वाली पूर्व-रूप (अभिनिहित) सन्धि का अपवाद है, और इसीलिये यहाँ प्रकृतिभाव है। (दे० वै० व्या० भाग० १, पृ० ८८-८९)।

सहः—अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ 'बल' किया है और पर्याय प्रतीत होने वाले तीन शब्दों के एक साथ आ जाने से उन्हें कुछ कठिनाई भी हुई है। स्क०-मत्वर्थेऽयं सहःशब्दः, सहस्वत् बलवत् ओजः, बलं सेनालक्षणम्, वें.-सह ओजः बलम् इति त्रीणि—तेषामल्पो भेदः। सा०, ग्रास०, सात०-शत्रूणामभिभावुकम् ओजः (युबरगेवेल्तिगेन्द माख्त—शत्रु को पराभूत करने वाला बल), मक्स० और गेल्ड० ने क्रमशः अंग्रेज़ी और जर्मन के तीन पर्याय देकर सन्तोष किया है, 'स्ट्रेंथ, पॉवर, माइट (माख्त, ष्टेर्के, क्राफ़्त)'। स्वा० द० के अर्थ 'सहनम्' (सहनशक्ति), से समस्या सरलतापूवक सुलझ जाती है।

नृम्णा—स्क०-नृम्णमिति बलनाम अन्तर्णीतमत्वर्थं चात्र द्रष्टव्यम्। बलवन्ति (आयुधानि), वें०—नृम्णमिति धननाम, शीर्षसु हिरण्मयशिप्रा हिता इत्यर्थः, सा०, सात०-(शिरस्सु) हिरण्यमयानि उष्णीषादीनि निहितानि। स्वा० द०-नरो रमन्ते येषु तानि (शस्त्रास्त्राणि), मक्स०-पौरुषमय विचार (मैनली थॉट्स)। गेल्ड०-उत्साह, ग्रास०-पुरुषोचित बल (मानस्क्राफ़्त)। यास्क नृम्णं बलं नॄन् नतम् (नि०११।९); सायण ने उस प्रसंग में (ऋ०१०।५०।१) नृम्ण का अर्थ 'धन' भी दिया है। इसकी एक निरुक्ति नृ + √मन् या √म्ना से भी सम्भव है नृणां मतम्' या 'नृभिर्म्नातम्' (नरों को अभिमत, नरों द्वारा अभ्यस्त-बल)।

पिपिशे—स्क०-रूप्यते दृश्यत इत्यर्थः, वें०-आश्लिष्टा, सा०-आश्रिता, स्वा० द०-आश्रीयते, मक्स०-स्थापित की गई है (हैज़ बीन लेड), ग्रास०, गेल्ड०-(आभूषण के रूप में) धारण की गई है (इस्त आउफगेत्रागन), सात०-शोभा बढ़ा रहा है।—√पिश् अवयवे, अयं दीपनायामपि—कर्म० लिट्, प्र० पु० एक०।

छन्द—द्वितीय तथा तृतीय पादों में एक-एक अक्षर कम होने के कारण बिराड् जगती। किन्तु इन दोनों पादों में क्रमशः 'बाह्वोः' का 'बाहुवोः' और 'शीर्षस्वायुधा' का 'शीर्षसु आयुधा' उच्चारण करने से पूर्ण जगती छन्द प्राप्त होता है।

गोम॑द॒श्वाव॑द्र॒थव॑त्सु॒वीरं॑ च॒न्द्रव॒द्राधो॑ मरुतो ददा नः ।
प्रश॑स्तिं नः कृणुत रुद्रियासो भक्षी॒य वोऽव॑सो॒ दैव्य॑स्य ॥७॥

गोऽम॑त् । अश्व॑ऽवत् । रथ॑ऽवत् । सु॒ऽवीर॑म् । च॒न्द्रऽव॑त् । राध॑: । म॒रु॒तः॒ । द॒द । नः॒ ।
प्रऽश॑स्तिम् । नः॒ । कृ॒णु॒त॒ । रु॒द्रि॒या॒सः॒ । भ॒क्षी॒य । वः॒ । अव॑सः । दैव्य॑स्य ॥

गोयुक्त अश्वयुक्त रथयुक्त शोभन वीर सहित (भी),
चन्द्र (कान्ति) युक्त धन मरुतो दे दो तुम (सब) हमको ।
कीर्ति हमारी करो (प्रसारित) हे रुद्रसदृश (बलशाली),
भागी हों हम तुम्हारी रक्षा और दिव्यता के भी ॥

प्रकटरूप में यह मन्त्र सैनिकों को सम्बोधित प्रतीत होता है। वे शत्रु पर विजय प्राप्त करके तथा रक्षा के अन्य उपायों द्वारा मानो देश को समृद्ध करते हैं जिससे लोग सब प्रकार की धन सम्पत्ति प्राप्त ही नहीं करते, अपितु वह सुरक्षित भी रहती है। उधर वृष्टि सम्बन्धी देव के रूप में भी मरुत् वृष्टि द्वारा अन्न सुलभ करके सबको समृद्ध बनाते हैं, वे ही दुःख-दारिद्रय से रक्षा करते हैं। वे ही मानो अन्न से पुष्ट करके हमें कीर्ति योग्य बनाते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्राणरूप मरुत् समस्त जीवन का आधार हैं। उन्हीं के आधार पर मनुष्य धनसम्पत्ति प्राप्त करता है। बिना स्वास्थ्य के सब कुछ दुर्लभ है। वही कीर्ति का साधन है। प्राणसार से युक्त शरीर ही सब विपत्तियों से सुरक्षित रहता है और उसमें दिव्य तेज भी उत्पन्न होता है। सम्भवतया इस प्रसङ्ग में गौओं का अर्थ 'इन्द्रियां' अश्वों का अर्थ 'गति', रथों का अर्थ 'शरीर की सुघड़ता', वीर का 'वीरता' और चन्द्र का 'सौम्य तेज' हो सकता है।

सुवीरम्—शोभना वीरा यस्मिन् तत (बहु०)—शोभन वीरसहित। बहुव्रीहि होने पर भी 'वीरवीर्यौ च' (पा० ६।२।१२०) के अनुसार उत्तरपद 'वीर' आद्युदात्त है।

च॒न्द्रव॑त्—अधिकांश विद्वान्-हिरण्ययुक्तम् (सोने से युक्त)। स्वा० द०-सुवर्णादियुक्तमानन्दादिप्रदं वा। अर०-मनुष्य में अवतरित होने वाले अमृतत्व के आह्लाद का स्वामी, तेजस्वी तथा आनन्दमय। यास्क ने चन्द्र की ये निरुक्तियाँ दी हैं (नि० ११।५)—चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः। चारु द्रमति चिरं द्रमति। चमेर्वा पूर्वम् (चन्द्र शब्द 'चाहना' अर्थ वाली √चद् धातु से निष्पन्न है। यह (चारु + √द्रम्—)सुन्दर रूप में चलता है; यह चिरकाल तक चलता है; या पूर्वपद में √चम् का रूप हो सकता है—देवों के द्वारा भक्षण किया जाता हुआ यह चलता है।

दद[1]—√दा लिट् म० पु० बहु० , पाश्चात्य विद्वानों ने इसके लकार के अनुरूप ही भूतकालिक अर्थ किया है—'तुमने दिया है'। किन्तु सभी भारतीय भाष्यकार सम्भवतया 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।३।६) के आधार पर इसका लोट् लकार जैसा अर्थ करते हैं—'तुम दे दो'। अन्यत्र भी (ऋ० ४।३६।६ में) इस क्रियापद के प्रसङ्ग से लोट्लकारार्थ की पुष्टि होती है।

प्रशंस्तिम्—स्क; स्वा० द०-प्रशंसाम्, वें०-प्रशस्तिम्, सा०, सात०-समृद्धिम्, (वैभवशालिता)। मक्स०-अत्यधिक प्रशंसा (ग्रेट प्रेज़)। ग्रास०-प्रशंसनीय कार्य (रयुम्लिशें थात), गेल्ड०-मान्यता (आन्केन्नुंग)। पदपाठ में प्र और शस्तिम् को अवग्रह द्वारा पृथक् किया गया है (दे० वै० व्या० भाग १, पृ० १९६, ख)।

रुद्रियासः—हे रुद्र पुत्रो। 'रुद्र के पुत्र' कहने का अभिप्राय 'रुद्र के समान बलशाली' बताना है। स्वा० द०-साधनकर्तृषु भवाः (साधन बनाने वालों में उत्पन्न हुए) मरुतः-मनुष्याः। सात०-वीरो। अर०-प्रेरक बल में स्थित, भयानक।

भक्षीय—मैं भागी होऊँ, सेवन करूँ (भजेय)। वाक्य के आरम्भ में होने के कारण तिङन्त पद में उदात्तत्व। एकवचन में होने पर भी प्रसङ्गवश बहुवचन का भाव ग्रहण किया गया।

दैव्यस्य—दिव्य (रक्षण) का। परन्तु इसका अर्थ 'दिव्यता' (देवस्य भावः) भी हो सकता है, और फिर यह 'अवसः' का विशेषण नहीं रहेगा—रक्षण का (और) दिव्यता का। अन्तिम पाद में त्रिष्टुप् के दो अक्षरों की कमी उसका निम्नलिखित उच्चारण करके पूरी की जा सकती है—भक्षीय वो अवसो दैविअस्य॥ अन्यथा इस मन्त्र का छन्द विराट् त्रिष्टुप् होगा।

हये नरो मरुतो मूळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः।

सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः॥८॥

हये। नरः। मरुतः। मृळत। नः। तुविऽमघासः। अमृताः। ऋतऽज्ञाः। सत्यऽश्रुतः। कवयः। युवानः। बृहत्ऽगिरयः। बृहत्। उक्षमाणाः॥

हे नेतृरूप मरुतो सुखी करो तुम हमको (सदैव),
अतिशय (दान-) धन वालो हे अमरो, हे ऋत के ज्ञाता!
सत्य कीर्ति वालो, क्रान्तदर्शियो, हे युवको (अभिनव)!
महती स्तुतियों वालो! विशाल का सिञ्चन करते॥

प्राण नेतृरूप हैं—वही शरीर की विविध क्रियाओं का नेतृत्व करते हैं। वे ही मानो शरीर को सर्वस्व दान करते हैं। वे शाश्वत जीवन-नियम के ज्ञाता

१. द्व्यचोऽतस्तिङः (पा. ६।३।१३५) से संहिता में दीर्घ।

हैं। उनका यश सच्चा है। क्रान्तदर्शियों के समान इनका कार्य सुव्यवस्थित होता है। नित्य नये प्राणों का क्रम चलते रहने से इन्हें 'युवक' कहा गया है। ये मानो विशाल शरीर (और इसी कारण विश्व) को अपने प्रवाह से सिञ्चित करते रहते हैं।

ह॒ये—हे। यह निपात सम्बोधन के सदृश है, जिससे कि आगे आने वाले सम्बोधन पदों (नरः आदि) के लिये यह न होने के समान माना जाता है और वे सब वाक्य के आदि के समान उदात्तत्व ग्रहण करते हैं। स्क०-अस्मादव्यतिरिक्तप्रातिपदिकार्थप्रथमान्तात् 'सम्बोधने च' (पा० २।३।४७) इति प्रथमा। आमन्त्रितत्वाच्च 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' (पा० ८।१।७२) इत्यविद्यमानवद्भावः। अतो नर इत्यादीनामामन्त्रितानामनिघातः। वें०-निपातोऽयमामन्त्रितवत्पर सम्बोधयति अविद्यमानवच्च भवति।

न॑रः—स्क०-मनुष्याकारा मरुतः। शेष भारतीय भाष्यकार-नेतारः। मक्स०, ग्रास०-नेताओ, गेल्ड०-मनुष्यो।

मृ॒ळत॑—तुम (हमें) सुखी करो, √मृड् लोट् म० पु० बहु०। पाश्चात्य विद्वान्-दयालु हो जाओ। यह रूप प्रायः संहिता में दीर्घान्त होता है (दे० पा० ६।३।१३३-ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्)।

तुवी॑मघासः—प्रभूतधनाः, गेल्ड०-बहुत दान देने वाले (फ़ील शेन्केन्दन)। यह अर्थ यास्क (नि० १।७) की निरुक्ति के बहुत अनुकूल है—मघमिति धननामधेयम्। मंहतेर्दानकर्मणः। पदपाठ में तुवि का ह्रस्व इकार द्रष्टव्य है (दे० पा० ६।३।१३७—अन्येषामपि दृश्यते)।

ऋत॑ज्ञाः—विस्तृत टि० के लिये दे० ऋ० १।१।८ में 'ऋतस्य' पर टि०। स्क०-ऋतं सत्यमुदकं यज्ञो वा, तस्य ज्ञातारः, वें०-सत्यप्रज्ञाः, सा०-यज्ञस्य ज्ञातारः, मक्स०—धार्मिक (राइटिअस), अन्य पाश्चात्य विद्वान्—पवित्र नियमों के ज्ञाता (दी हाइलिगॅ गेज़ेत्स केनेंद)।

स॒त्य॑श्रुतः—सत्यं शृण्वन्ति इति (उपपद०), मक्स०-सचमुच हमारी बात सुनने वाले (ट्रूली लिसनिंग टु अस—सत्यं यथा स्यात्तथा शृण्वन्ति नः), सात०-सत्य कीर्ति से युक्त—श्रूयते इति श्रुत—कीर्तिः। इसके अतिरिक्त प्राण सत्य को सुनने या जानने वाले हैं—सत्य, जो वास्तव में होता है, शरीर में जो कुछ भी परिवर्तनादि होता है, उसको प्राण सुनते हैं, जानते हैं, उससे प्रभावित होते हैं—तभी शरीर समय-समय पर रोगग्रस्त या स्वस्थ, युवा या वृद्ध होता है। छन्द में एक अक्षर की कमी को 'सतिअश्रुतः' उच्चारण करके पूर्ण किया जा सकता है (दे० ग्रास० वोर्तरबुख त्सुम् ऋग्वेद)। अन्यथा इसे विराट्-त्रिष्टुप् माना जायेगा।

बृहद्‌गिरयः—यह शब्द ऋ० में एक बार (केवल इसी मन्त्र में) आया है। स्क०, वें०, और सभी पाश्चात्य विद्वान्—महान्तः गिरयः पर्वताः येषां ते—बड़े पर्वतों वाले (मक्स०-ड्वैलिंग ऑन माइटी माउंटेन्स); स्क०, वें०-महामेघाः-महतां मेघानां हन्तारः (जिनके विनाश के योग्य बड़े मेघ हैं)। किन्तु सा०-प्रभूतस्तुतयः-अतिशय स्तुतियुक्त। इसी के समान स्वा० द० और सात०-बहुप्रशंसाः (अत्यन्त सराहनीय)। स्पष्ट ही यहाँ 'गिरि' का अर्थ 'स्तुतिवचन' लिया गया है, सम्भवतया √ गॄ शब्दे (क्र्यादि०) से निष्पन्न। यास्क (नि० १।२०) का निर्वचन—गिरिः पर्वतः, समुद्‌गीर्णो भवति।

बृहदुक्षमाणाः—स्क०-बृहत् सुष्ठिवत्यर्थः, उक्षमाणाः सिञ्चन्तः अस्मान्। वृष्ट्या वर्षन्त इत्यर्थः। वें०-अत्यन्तं सिञ्चन्तः (उक्ष् सेचने), सा०-अत्यधिकं हविर्भिः सेविताः सन्तोऽस्मान् मृळत। स्वा० द०-महत् सेवमानाः। पाश्चात्य विद्वान् और सात०-अत्यधिक अभिवृद्ध (मक्स०-ग्रोन माइटी, गेल्ड०-हॉख धाक्सॅन्द), प्रचण्ड बल से युक्त।

वरुण:

वरुण का नाम वैदिक देवसमूह में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । √वृ (आवृत करना) से निष्पन्न इसका शाब्दिक अर्थ 'आवृत करने वाला' है । प्रारम्भिक वैदिक काल में यह परमोपासना का विषय था । यह परम देवता माना जाता है, इसीलिये इसे देवों और मनुष्यों दोनों का राजा कहा गया है । इसे सारे विश्व का राजा भी कहा गया है—**विश्वस्य भुवनस्य राजा** (ऋ० ५।८५।३) । इसके लिये प्राय: 'सम्राट्' शब्द का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार क्षत्र और असुर उपाधियों के प्रयोग अधिकतर इसके लिये हुए हैं । ये विशेषतायें अन्य किसी देवता के विषय में वर्णित नहीं हैं । यह ऋत अथवा शाश्वत सत्य और नियम से विशेषतया सम्बद्ध है—**ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वाम्** (ऋ० ५।६२।१) । वरुण के विधानों द्वारा ही उज्ज्वल प्रकाश से युक्त होकर चन्द्रमा रात्रि में भ्रमण करता है, और इसी से उन्नत स्थान में स्थित तारे रात्रि में तो दिखाई पड़ते हैं किन्तु दिन के समय दृष्टि से ओझल हो जाते हैं :—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृभ्रे कुह चिद् दिवेयु: ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥

वरुण ऋतुओं का भी नियमन करता है । वह बारह मासों से परिचित है—**वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावत:** (ऋ० १।२५।८) । उसी के नियम (ऋत) का अनुसरण करती हुई नदियाँ प्रवाहित होती हैं—**ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति** (ऋ० २।२८।४) । वरुण के ये नियम प्रकृति की व्यवस्था तक ही सीमित नहीं हैं । वह मनुष्य के मन से सम्वद्ध नैतिक नियमों का भी पालक है । इसी लिये उससे प्रार्थना की गई है कि 'हे वरुण मुझसे अपराध का बन्धन मुक्त कर दीजिये, हम आपके ऋत के स्थान में वृद्धि को प्राप्त हों'—**वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य** (ऋ० २।२८।५) । वरुण की एक उपाधि 'धृतव्रत' है । स्वयं देवगण भी वरुण के विधानों का अनुसरण करते हैं—**वरुणस्य पुरो गये विश्वे देवा अनु व्रतम्** (ऋ० ८।४१।७) । इसे नियमों का रक्षक (ऋतस्य गोपा) भी कहा गया है ।

नियमों की रक्षा के लिये वरुण सतत-जागरूक रहता है, सब कुछ देखता रहता है । अथर्व० ४।१६।२ में कहा गया है कि जो (आलस्य में) स्थिर

रहता है, जो चलता (कार्य करता) है, जो कपट करता है, जो छिप कर या आतङ्कपूर्वक कुछ करता है, और जो दो छिपकर साथ बैठकर कोई षड्यन्त्र करते हैं, राजा वरुण तीसरा होकर वह सब जान लेता है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥

इसी कारण विधानों का उल्लङ्घन करने वाले का ज्ञान वरुण को तत्काल हो जाता है । इस प्रसङ्ग में वरुण के गुप्तचरों (स्पशः) का बहुधा उल्लेख हुआ है । इसे सहस्रचक्षाः और उरुचक्षाः भी कहा गया है । विधानों का उल्लङ्घन होते ही कुशल राजा के समान वरुण अपराधियों को कठोर दण्ड देता है। वरुण द्वारा अपने पाशों में पापियों को बाँधे जाने का बहुधा उल्लेख हुआ है। अनेक मन्त्रों में वरुण के पाशों से मुक्ति की प्रार्थना की गई है—**उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत । अवाधमानि जीवसे** (ऋ० १।२५।२१) । यह पाश रस्सियों का बन्धन नहीं (ऋ० ७।८४।२), अपितु नियमानुसार कर्मफलरूपी बन्धन प्रतीत होता है । दण्ड देने के साथ साथ वरुण क्षमाशील भी है क्योंकि दण्ड केवल दण्ड देने के उद्देश्य से नहीं दिया जाता, अपितु व्यक्ति को सुधारने के लिये दिया जाता है—**यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः** (ऋ० ७।८७।७)।

सूर्य को अनेक स्थलों (ऋ० १।११५।१ इत्यादि) पर मित्र के साथ साथ वरुण का नेत्र बताया गया है । वरुण के चमकीले परिधान का अनेक बार उल्लेख हुआ है (**बिभ्रद् द्रापिम्**) । यह परिधान कदाचित् सूर्य का प्रकाश ही है । वरुण का रथ सूर्य के समान द्युतिमान है—**रथो वां मित्रावरुणा······ सूरो नाद्यौत्** (ऋ. १।१२२।१५) । इससे वरुण का सूर्य से सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट लक्षित होता है । वरुण को 'सुपाणि' कहने में भी सम्भवतया सूर्य की किरणें संकेतित हैं। इसी प्रकार अपने द्युतिमान पाँवों से कपट को दलित करने का भी उल्लेख है—**स माया अर्चिना पदाऽस्तृणात्** (ऋ० ८।४१।८)। यहाँ भी 'द्युतिमान पाँव' सूर्य की किरणें ही प्रतीत होती हैं ।

मित्र और वरुण बहुधा साथ साथ समस्त रूप में वर्णित हुए हैं, और दोनों ही 'आदित्यों' में परिगणित होने के कारण सूर्य से सम्बद्ध हैं, तथापि मित्र सूर्य के प्रातः कालिक रूप का और वरुण रात्रि-कालिक रूप का (अर्थात् जिस रूप में वह हमारी दृष्टि से परे भूमण्डल के अन्य स्थानों को प्रकाशित करता है, उस रूप का) प्रतीक है । इसीलिये तै० स० ६।४।८।३ में कथन है कि मित्र ने दिन बनाया और वरुण ने रात्रि । सात वैदिक आदित्यों की अवेस्ता के सात

'अमेषस्पेन्तस्' से तुलना करते हुए ओल्डनबर्ग ने मित्र और वरुण को क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा तथा अवशिष्ट पाँच आदित्यों को पांच ग्रह माना है। किन्तु ऋग्वेद के वरुण-सम्बन्धी वर्णन में इस कल्पना का कोई आधार दिखाई नहीं देता। वरुण की प्रमुखता देखकर इसकी तुलना अवेस्ता के प्रमुख देव 'अहुर-मज्द' से भी की गई है। इन दोनों में नामगत समानता न होते हुए भी चरित्र-गत समानता बहुत है।[1] यूनानी 'यूरेनस' की तुलना भी वरुण के नाम से की जा सकती है।[2]

वरुण का समुद्र से सम्बन्ध भी बहुत ध्यान देने योग्य है। इसके विषय में कहा गया है कि यह सागर में ऐसे ही उतरता है जैसे द्यौः—**अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थात्** (ऋ० ७।८७।६)। यह भी उल्लेख है कि एक गुप्त समुद्र के रूप में वरुण ऊपर द्युलोक को जाता है—**स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति** (ऋ० ८।४१।८)। उपर्युक्त उद्धरणों में द्युलोक से सम्बन्ध होने के कारण "ऐसा प्रतीत होता है कि वरुण को साधारणतया अन्तरिक्षीय जल से सम्बद्ध किया गया है।"[3] अनेक स्थलों पर इसे वर्षा का स्रष्टा वर्णित किया गया है। एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० ५।६३) में इसकी वर्षा करने की शक्ति की चर्चा है। अथर्व० ४।१५।१२ में उल्लेख है कि वरुण दिव्य पिता के रूप में जल का वर्षण कराता है—**अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः**। इसी प्रकार तै० सं० ५।५।४।१ में जल को वरुण की पत्नियाँ बताया गया है। सम्भवतः वर्षा से इस सम्बन्ध के कारण ही निघण्टु के पाँचवें अध्याय में इसकी गणना अन्त-रिक्षीय और द्युलोक-सम्बन्धी दोनों प्रकार के देवताओं में हुई है।

निस्सन्देह वरुण का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है और, जैसा कि पौराणिक काल में इसे केवल जल या समुद्र से सम्बद्ध कर दिया गया, किसी एक प्राकृ-तिक रूप में इसे बाँध देना बहुत असम्भव है। इसका एक कारण यह भी है कि इसका स्वरूप बहुत अमूर्त है। सम्भवतया इसी कारण स्वामी दयानन्द ने इसे जगदीश्वर अथवा वायु (ऋ० १।२४।८, ११), जल, वायु या चन्द्रमा (ऋ० १।१७।५), तथा उपदेशक माना है। इसका मूल भाव वे 'वर' या श्रेष्ठ मानते हैं—अर्थात् जो वरणीय है। मैक्डॉनल के मतानुसार "वरुण मूलतः किसी अन्य तत्त्व के ही प्रतिनिधि रहे होंगे और सामान्यतया स्वीकृत मत के अनुसार यह तत्त्व सर्वत्र व्याप्त 'आकाश' ही हो सकता है। आकाश के नेत्र के रूप में सूर्य की धारणा पर्याप्त रूप से स्पष्ट है।"[4]

---

१. वैदिक माइथोलॉजी, पृ. ५१।
२. वहीं, पृ. ५२।
३. वहीं, पृ. ४६।
४. वहीं, पृ. ४६।

वरुण-सूक्तों से वसिष्ठ ऋषि का विशेष सम्बन्ध है, और यह सम्बन्ध परवर्ती पौराणिक कथाओं में भी सुरक्षित है। परवर्ती साहित्यमें जो पश्चिम दिशा (वारुणी) वरुण के नाम से सम्बद्ध है, उसका भी आधार अनेक विद्वानों की दृष्टि में वैदिक वरुण का अस्तंगामी सूर्य का प्रतिरूप होना है।

यास्क ने (नि० १०।३) वरुण का निर्वचन √वृञ् वरणे से दिया है—**वरुणः वृणोतीति सतः।** यास्क द्वारा मध्यस्थानीय देवताओं के अन्तर्गत इसका निर्वचन दिये जाने के कारण दुर्गाचार्य ने आवृत करने की व्याख्या इस प्रकार की है—**आवृणोति ह्ययं मेघजालेन वियत्।**

अरविन्द के अनुसार वरुण सर्वोच्च आवरक आकाश है, आत्मा को घेरने वाला समुद्र, आकाशीय प्रभुत्व और अनन्त व्याप्ति है। विशालता का प्रतिनिधि है। वरुण सूर्य का क्रिया-कलाप है, विस्तार तथा विशालता की शुद्धता का स्वामी है।[1]

ऋ० ७।८६

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः, देवता वरुणः, छन्दः—त्रिष्टुप्।

धीरा त्व॑स्य महि॒ना ज॒नूंषि॒ वि यस्त॒स्तम्भ॒ रोद॑सी चिदु॒र्वी।
प्र नाक॑मृ॒ष्वं नु॑नुदे बृ॒हन्तं॑ द्वि॒ता नक्ष॑त्रं प॒प्रथ॑च्च॒ भूम॑ ॥१॥

धीरा॑। तु। अ॒स्य॒। म॒हि॒ना। ज॒नूंषि॑। वि। यः। त॒स्तम्भ॑। रोद॑सी॒ इति॑। चि॒त्। उ॒र्वी इति॑। प्र। नाक॑म्। ऋ॒ष्वम्। नु॒नु॒दे॒। बृ॒हन्त॑म्। द्वि॒ता। नक्ष॑त्रम्। प॒प्रथ॑त्। च॒। भूम॑॥

बुद्धिमान् शीघ्र इसकी महिमा से जन्म (वाले) होते,
पृथक् पृथक् जिसने थामा है गगन-धरा को विस्तृत।
ऊपर सूर्य को दर्शनीय को दिया उछाल बड़े को
दो भागों में नक्षत्र को, फैलाया और भूमि को॥

सर्व-व्यापी, सर्व-नियन्ता वरुण सबका अन्तर्यामी भी है। उसकी महिमा इतनी है कि सभी जन्म लेने वाले प्राणियों में जन्म के साथ तत्काल ही चैतन्य-बोध उत्पन्न हो जाता है। यहाँ 'जन्म के साथ' भाव को व्यक्त करने के लिये ही सम्भवतया प्राणियों के अर्थ में 'जनूंषि' (जन्म) शब्द का प्रयोग हुआ है। सूर्य जैसे दर्शनीय महान् तेजस्वी तत्त्व पर भी वरुण का पूर्ण अधिकार है। उसने ही उसे मानो सहज ही गेंद के समान ऊपर उछाल दिया है और

१. वैदिक ग्लास्सरी, पृ. ७६-८१।

उस महान् नक्षत्र को दिन और रात रूपी दो भागों में विभाजित किया है। यह स्मरणीय है कि दिन और रात दोनों का कारण सूर्य है।

धीरा—सा०—धैर्यवन्ति, लुड्विग—बुद्धिमान् (वाइज़) वेल०—चतुर। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' से धीराणि के स्थान पर धीरा रूप।

अस्य—सर्वानुदात्त, सा०—अस्य वरुणस्य जनूंषि महिना महिम्ना धीराणि सन्ति। किन्तु जनूंषि का अर्थ 'प्राणी' लेने पर अस्य का अन्वय महिना के साथ करना अधिक उचित होगा। पी. और वेल. ने यही अन्वय किया है। मक्स., रोथ. और ग्रास. ने जनूंषि का अर्थ 'कार्य' करते हुए सायणानुसारी अन्वय किया है। तु और अस्य का सन्धि विच्छेद करके पाठ करने से जात्य स्वरित और साथ ही छन्द की कठिनाई दूर हो जाती है।

प्र नाकम्—सा.-बृहन्तमादित्यं नक्षत्रं च ऋष्वं दर्शनीयं द्विता द्वैधं प्रेरयति स्म—अहनि सूर्यं दर्शनीयं प्रेरयति रात्रौ नक्षत्रं तथेति द्विप्रकारः, (तु. ऋ. १।२४।८-उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ)। मक्स.-ऊँचा उठाया (लिफ़्टड ऑन हाई), ग्रास., लुड्विग—चला दिया, वेल.-विशाल तथा उन्नत आकाश को ऊपर ढकेल कर उसने एक ओर से सूर्य को ऊपर भेज कर दूसरी ओर से...। पी.-जिसने विशाल तथा उन्नत आकाश को उसके सभी नक्षत्रों के साथ ढकेल दिया। किन्तु यास्क ने नाक को आदित्य भी बताया है। एकवचन में नक्षत्र का अर्थ 'सूर्य' ही संगत प्रतीत होता है।[1] ऋष्व-दर्शनीय (ऋषिर्दर्शनात्)। किन्तु √ऋष् (गतौ) से इसका अर्थ 'मार्ग' भी हो सकता है। तब यह अर्थ किया जा सकता है—नक्षत्र (सूर्य) को आकाश के ऊँचे और विस्तृत मार्ग पर चला दिया। द्विता-मक्स.-पृथक् पृथक्, ग्रास.-बलाघात अर्थ वाला अव्यय, जो ऐसे भाव में प्रयुक्त होता है जिसमें हम किसी कथन की पूर्ण निश्चितता द्योतित करने के लिये उसकी आवृत्ति करते हैं।[2]

पुप्रथत्—तिङन्त पद होते हुए भी नये वाक्य के आरम्भ में होने के कारण उदात्त।

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ॥२॥

उत। स्वया। तन्वा। सम्। वदे। तत्। कदा। नु। अन्तः। वरुणे। भुवानि। किम्। मे। हव्यम्। अहृणानः। जुषेत। कदा। मृळीकम्। सुमनाः। अभि। ख्यम् ॥

1. वेल., ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. २६०।
2. पीटर्सन, हिम्ज़ फ़ाम द ऋग्वेद, पृ. २३५ से उद्धृत।

इसी नाग की पुस्तक, भाग दो, पृ० ३५० पर पी० ने नक्षत्र का अर्थ सूर्य दिया है।

और अपने तन से समरूप होऊँ तो (फिर मैं भी)
कब (अरे) भीतर वरुण के होऊँ (उससे एकाकार) ?
क्या मेरी आहुति बिन क्रोध किये स्वीकार करेगा ?
कब (उस) सुखदायक को शोभनमन में देखूं (सुविचार) ?

उस सर्वव्यापी वरुण ने सब प्राणियों को बोध तो दिया है, किन्तु मानव होते हुए मैं इस कमी का अनुभव करता हूँ कि उसने ऐसा बोध क्यों नहीं दिया जिससे मैं उसका अन्तरंग होकर रहूँ। मैं जो वस्तुतः हूँ, उसे अपने तन से पृथक् क्यों समझता हूँ ? मुझे पता है कि वह मेरी प्रार्थना या आहुति तभी स्वीकार करेगा जब मैं पूर्णतया उससे समभाव प्राप्त करके एकचित्त होकर उसे अपने मन में देखता रहूँ—अनुभव करता रहूँ। यह एक ऐसे भक्त के उद्गार हैं जो स्व को परमात्मा में लीन कर देना चाहता है।

सं वदे—सा.-उतेति विचिकित्सायाम्, उत किम् आत्मीयेन शरीरेण सह-वदनं करोमि, अहोस्वित् तत् तेन वरुणेन सह संवदे—क्या मैं अपने शरीर से ही बोलूं या उस वरुण के साथ बोलूं ? पी.-और इस प्रकार मैं स्वयं अपने आप से प्रश्न करता हूँ। किन्तु सम्√वद्—समरूप होने, एकरूप होने के अर्थ में प्रयुक्त होती है विशेष रूप से तृतीया वि. के योग में।[1]

कदान्वन्तर्वरुणे—सा.-कदा खलु वरुणे देवेऽन्तर्भूतो भवानि, वरुणस्य चित्ते संलग्नो भवानीत्यर्थः। पी.-मैं वरुण के सम्मुख कब उपस्थित हूँगा ? मक्स.-मैं वरुण में कैसे प्रवेश कर सकता हूँ ? लुड्विग-मैं (मित्रता में) वरुण से कब सयुक्त हूँगा ? ग्रास. ने यही अर्थ देते हुए 'मित्रता में' शब्दों का अध्याहार नहीं किया है। वेल.-मैं वरुण के सामने कब जाकर खड़ा रहूँगा ? √भू विकरणलुग्लुङ् के अंग से लेट्, उत्तम पु. एक.।

कुदा मृळीकम्—सा०-शोभनमनस्कः सन्नहं कस्मिन् काले सुखयितारं वरुणम् अभिपश्येयम्, रोथ, ग्रास०—मैं कब उसकी कृपा देखूंगा ? पी.-मैं कब उसकी कृपा देखूंगा और आनन्दित हूँगा ? वेल०-सुप्रसन्न चित्त से उसकी कृपा कब सम्पादन करूँगा ?

विशेष—मन्त्र के पूर्वार्ध में जात्य-स्वरित को ध्यान में रखते हुए छन्दः-पूर्ति के लिये तुन्वा३ का पाठ तनुआ और न्व१न्तः का पाठ नु अन्तः (दे. पदपाठ) करना चाहिए।

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥३॥

---

१. अभिज्ञानशा., अंक—७, अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिः।

पृच्छे । तत् । एनः । वरुण । दिदृक्षु । उपो इति । एमि । चिकितुषः । विऽपृच्छम् । समानम् । इत् । मे । कवयः । चित् । आहुः । अयम् । ह । तुभ्यम् । वरुणः । हृणीते ॥

पूछता हूँ वह पाप वरुण ! (तेरे) दर्शन का इच्छुक
शरण में आता हूँ विद्वज्जन की (यही) पूछने हेतु ।
समान रूप से ही मुझको विद्वान् कहा करते हैं—
"यह ही तुझपर वरुण क्रुद्ध होता है (सृष्टि का सेतु)" ॥

वरुण-रूप परमात्मा का भक्त अपने आपको उसके सायुज्य में असमर्थ पाकर उसी से पूछता है कि मुझसे ऐसा कौन-सा पाप हो गया जिससे वरुण दर्शन नहीं दे रहे । अवश्य कोई न कोई अपराध हुआ है । वह अशान्त होकर यही बात पूछने के लिए विवेकशील विद्वान् पुरुषों की शरण में जाता है । और सभी विद्वान् एक स्वर से बताते हैं कि वरुण के क्रुद्ध होने के कारण ही वह अशान्त है । स्वाभाविक है कि सारी सृष्टि का आधार, सब दुःख बाधाओं से पार कराने वाला ही जब क्रुद्ध हो तो शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है । परन्तु भक्त उस क्रोध का कारण जानने के लिए चिन्तित है, जिससे वह अपना प्रमाद सुधार सके ।

दिदृक्षु—सा०-द्रष्टुम् इच्छन् √दृश् सन् उ । 'सुपां सुलुक्, इत्यादि सूत्र से सु का लोप । पाश्चात्य विद्वानों ने इसे वैदिक सन्धि का उदाहरण माना है जिसके अनुसार आगे उ आने पर दिदृक्षुः के विसर्ग का र् न होकर लोप हो गया है और पुनः सन्धि हो गई है । लुड्विग, वेल.—दिदृश् शब्द से सप्तमी बहु०-जानकार जनों में । तदनुसार रूपरचना और सन्धि दोनों ही नियमित हैं । पी.-मैं जानने को प्रयत्नशील हूँ (आइ ट्राइ टू फ़ाइंड इट आउट)।

उपो—प्रगृह्य अव्यय होने के कारण (सम्भवतया उप+उ) पदपाठ में आगे इति लगाया है । सा.-उपो एमि—उपागाम् ।

विपृच्छम्—सा.-विविधं प्रष्टुम्, सम् √प्रच्छ् कमुल् (अम्) प्रत्यय (पा. ३।४।१२—शकि णमुल्कमुलौ) ।[1] किन्तु पाश्चात्य विद्वान् उसे विपृच्छ् शब्द से द्वितीयामूलक तुमर्थक अम्-प्रत्ययान्त मानते हैं ।

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम् ।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ॥४॥

किम् । आगः । आस । वरुण । ज्येष्ठम् । यत् । स्तोतारम् । जिघांससि । सखायम् । प्र । तत् । मे । वोचः । दुःऽदभ । स्वधाऽवः । अव । त्वा । अनेनाः । नमसा । तुरः । इयाम् ॥

---

१. पाणिनि के नियमानुसार उपपद में √शक् के किसी रूप का प्रयोग होना चाहिए।

क्या अपराध था वरुण बड़ा (इतना मेरा अक्षम्य),
जो स्तोता को (भी) मारने को इच्छुक रहे सखा को ?
वह मुझको (अपराध) बताओ हे दुर्बाध तेजस्वी
पास तुम्हारे (जिससे) निष्पाप प्रणति से द्रुत आ जाऊँ ?

यहां इष्ट देव के प्रति भक्त का सख्य-भाव प्रकट हुआ है। सखा तो सखा की रक्षा करता है, और वह भी स्तुति करने वाले सखा की। इसलिए वह सोचता है कि अवश्य ही मेरा कोई असाधारण बड़ा अक्षम्य अपराध रहा होगा, जो अनजाने में हो गया और जिसका मुझे ज्ञान भी नहीं है। अन्यथा वरुण कभी अपने स्तोता सखा को संकट में डालने का इच्छुक न होता। तेजस्वी वरुण दुर्बाध है। कोई उसे किसी कार्य से रोक नहीं सकता। अतः स्तोता विनम्र भाव से वरुण से अपना अपराध पूछता है जिससे कि अपराध-शोधन करके पाप-रहित होकर वह प्रणामपूर्वक शीघ्र ही वरुण की शरण में आकर सुख का अनुभव करे।

आस—सा०-कोऽपराधो मया कृतो बभूव, पी०, वेल०-वह ऐसा कौन सा महान् अपराध है ? √अस् लुङ् प्र० पु० एक०।

ज्येष्ठम्—सा०-अधिकम्, लुड्विग ने[1] इसे आगः का विशेषण न मानकर 'स्तोतारम्' का विशेषण और 'जिघांससि' का कर्म मानना अधिक उचित समझा है। किन्तु भक्तिभाव और शब्द की स्थिति के अनुसार सायण तथा तदनुसारी अन्य विद्वानों द्वारा किया गया अन्वय ही समीचीन प्रतीत होता है।

प्र वो॑चः—सा०-प्रब्रूहि, प्र √ब्रू लुङ् म० पु० एक०-वेद में अट् का लोप मा का योग न होने पर भी (बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि, पा० ६।४।७५)। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार √वच् विधिमूलक (इंजंक्टिव) म० पु० एक०।

दूळभ—सा०-दुर्दभ, अन्यैर्बाधितुमशक्य, पी०-शक्तिशाली (माइटी), वेल०-जिसकी प्रतारणा असम्भव है। √दह् भस्मीकरणे, दुःखेम दह्यत इति दुर्दहम्। 'ईषद्दुःसुषु...(पा० ३।३।१२६) इत्यादिना दुर्युपपदे दग्धेः खल्। 'व्यत्ययो बहुलम्' इति उकारस्य ऊकारो रेफस्य लोपो दकारस्य डकारो हकारस्य च भकारः। यह व्याकरण सम्बन्धी व्याख्या पदपाठ के अनुसार की गई है। ड के के ळ के लिये दे० ऋ० १।१।

स्वधावः—सा०-तेजस्विन्, पी०-हे यशस्वी (ग्लोरिअस), वेल०-हे स्वतन्त्र-प्रज्ञ देव ! स्वधावत् शब्द से सम्बोधन में स्वधावस् (लौकिक-स्वधावन्; इसी प्रकार भगवः आदि रूप)—पा० मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि (८।३।१)।

१. हिम्ज़ फ्राम द ऋग्वेद, पृ. २३७।

स्वधा-तेज। निघं० १।१२ में यह शब्द उदक के नामों में और निघं० २।७ में अन्न के नामों में पठित है। किन्तु 'स्वस्मिन् अनया धीयते' व्युत्पत्ति से स्वधा का अर्थ स्वास्थ्य भी हो सकता है; अन्न भी स्वास्थ्य में सहायक ही है।

तुरः—सा०-अहं त्वरमाणः शीघ्रः त्वामुपगच्छेयम्, पी०-आइ शैल कम क्विक्ली टु दी, वेल०-तुम्हारे पास शीघ्र आ सकूंगा—तुम्हारे चरण चूम कर क्षमा माँगूंगा। सम्भवतया तुरग, तुरङ्ग, तुरङ्गम में यही शब्द अवशिष्ट है। कदाचित् √त्वर् से भी इसका सम्बन्ध होगा। तु० पंजाबी टुर, टुरना। छन्द में एक अक्षर के आधिक्य को सन्तुलित करने के लिये तुर इयाम् में पुनः सन्धि करके 'तुरेयाम्' उच्चारण करना चाहिये।[1] 'असल में त्रिष्टुप्चरण का दसवाँ अक्षर दीर्घ ही होता है। उसके स्थान पर यहाँ कवि ने दो लघु अक्षर प्रयुक्त किये हैं।'[2]

अव॑ द्रुग्धानि॑ पित्र्या॑ सृजा॒ नोऽव॒ या व॒यं च॑कृ॒मा त॒नूभि॑ः।
अव॑ राजन् पशु॒तृपं॒ न ता॒युं सृ॒जा व॒त्सं न दाम्नो॒ वसि॑ष्ठम् ॥५॥

अव॑। द्रुग्धानि॑। पित्र्या॑। सृ॒ज॒। न॒ः। अव॑। या। व॒यम्। च॒कृ॒म। त॒नूभि॑ः। अव॑। रा॒ज॒न्। प॒शु॒ऽतृप॑म्। न। ता॒युम्। सृ॒ज। व॒त्सम्। दाम्न॑ः। वसि॑ष्ठम्॥

पृथक् द्रोह पितरों से उत्पन्न कर दो दूर हमारे
पृथक् द्रोह जो हमने किये (कदाचित् निज) देहों से।
पृथक् हे राजन्! पशुओं के तर्पयिता को यथा चोर को
कर दो मुक्त बछड़े को जैसे रस्सी से वसिष्ठ को॥

भक्त को सन्देह है कि वरुण कहीं उसके पितरों द्वारा किये गये देव-द्रोह रूपी अपराध से रुष्ट न हो। इसलिये वह अपने इसी शरीर द्वारा किये गये अपराधों के साथ साथ पितृजन्य अपराधों से भी मुक्ति की प्रार्थना कर रहा है। जैसे स्तन्यपान को उत्सुक बछड़े को रस्सी से मुक्त करने पर उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती उसी प्रकार भक्त भी वरुण से मिलने की उत्कट अभिलाषा के कारण पाप-बन्धनों से मुक्त होना चाहता है। और फिर पशुओं को घासादि द्वारा तृप्त करने रूप प्रायश्चित्त के द्वारा तो चोर को भी क्षमा कर दिया जाता है[3], फिर इस वरुण-भक्त को अपराध का प्रायश्चित्त करने पर क्यों क्षमा नहीं किया जा सकता?

---

१. हिम्ज़ फ़्राम द ऋग्वेद, पृ. २३७।
२. ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. २६१—नीचे।
३. ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. २६२, तथा मनु. ११।१६६

पित्र्या—पित्र्याणि (शेश्छन्दसि बहुलम्) सा०-पितृतः प्राप्तानि, पी०, वेल०-पूर्वजों के द्वारा किये गये।

चकृम—सा०-वयं कृतवन्तः। संहिता में शब्द के अन्त में दीर्घत्व देखने योग्य है। यत् शब्द का रूप 'या' वाक्य में होने के कारण तिङन्त होते हुए भी यह सोदात्त है। पाणिनि के नियम (परोक्षे लिट्) के अनुसार उत्तम पुरुष में लिट् का प्रयोग उन्माद, स्वप्न अथवा मूर्छा की अवस्था में हो सकता है। तदनुसार यह भी ध्वनि निकलती है कि 'हमने जो अपराध अपने इस शरीर से किये हैं, वे अनजाने में अनिच्छा से हुए हैं, अतः वे सहज ही क्षम्य हैं।'

पशुतृपम्—सा०-स्तैन्यप्रायश्चित्तं कृत्वावसाने घासादिभिः पशूनां तर्पयितार स्तेनमिव, पी०-प्रायश्चित्त करने वाले चोर के समान, मक्स०-चुराये हुए पशुओं के भोजन से तृप्त होने वाले चोर को। पशुतृप् का भाव यह भी हो सकता है कि मैं केवल अनपढ़ चरवाहा हूँ, पशुपालक हूँ, अतः मुझ में अज्ञान अधिक है। अतः मेरे अपराध को बहुत गम्भीर नहीं समझना चाहिये। इसी प्रसंग में अज्ञानी अल्पबुद्धि बछड़े से उपमा भी महत्त्वपूर्ण है। कुछ विद्वान् तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर √तृप् का अर्थ 'चोरी करना' भी करते हैं। इस विषय में उनका आधार वैदिक शब्द तृप् (डाकू), यूनानी 'त्रेपो' और अवेस्ता '√त्रिफ़ (चुराना)' है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह अर्थ अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि यह अर्थ मान लिया जाये तो 'तायु' अनर्थक रह जाता है।

वसिष्ठम्—यद्यपि यह स्पष्ट ही नाम है किन्तु यहाँ किसी विशेष भाव को व्यक्त करने के लिये इसका प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। सम्भवतया वस (रहने वाला, निष्ठापूर्वक स्थिर रहने वाला) से इष्ठन् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न होने से भक्त की प्रगाढ़ निष्ठा की ओर यहाँ संकेत किया गया है। भक्त की प्रार्थना है कि ऐसे निष्ठावान् व्यक्ति को अवश्य ही क्षमा कर दिया जाना चाहिये। दे० ऋ० १।११२।६ के अन्तर्गत 'वसिष्ठम्' की स्वामी दयानन्द की व्याख्या—यो वसति धर्मादिकर्मसु सोऽतिशयितस्तम्।

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥६॥

न। सः। स्वः। दक्षः। वरुण। ध्रुतिः। सा। सुरा। मन्युः। विऽभीदकः। अचित्तिः। अस्ति। ज्यायान्। कनीयसः। उपऽआरे। स्वप्नः। चन। इत्। अनृतस्य। प्रऽयोता॥

नहीं वह अपनी इच्छा हे वरुण! नियति (है) वह (तो),
मदिरा, क्रोध, जुए के पांसे, (या) अविवेक (बड़ा भारी)।

होता है बड़ा (सदा) छोटे की सन्निधि में (प्रेरक)
और स्वप्न भी मिथ्या (पाप) का मिश्रक (विपदा सारी)॥

पिछले मन्त्र में जो अज्ञान में अपराध की भावना प्रकट की गई, उसी की पुष्टि प्रस्तुत मन्त्र में की जा रही है। बताया गया है कि किन परिस्थितियों में मनुष्य विवेक खो बैठता है। इसके अतिरिक्त एक कारण अपराध का यह भी है कि प्रायः व्यक्ति अपने से बड़े का अनुकरण करते हैं। यदि वह इस प्रकार के अपराध करता है तो सामान्य जन उसका अनुकरण करके वैसा अपराध करेंगे।[1] इसकी व्याख्या इस प्रकार भी हो सकती है कि बड़े व्यक्ति के पार्श्व में छोटा व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है। वह सोचता है कि यदि मैं इसकी सन्निधि में कोई अपराध करता हूँ, तो या तो वह मुझे उससे रोक देगा और या फिर वह मुझे क्षमा कर देगा। असत्य या नियमविरुद्ध कार्य तो मनुष्य से स्वप्न में भी नहीं छूटता, फिर जाग्रत अवस्था में तो अनजाने में मनुष्य वह कार्य करता ही रहता है। इसलिये अज्ञानवश या नासमझी की अवस्था में किये गये अपराध को अपराध न मानकर क्षमा कर देना चाहिये।

स्वः दक्षः—सा०-स्वरूपवद् बलं पापप्रवृत्तौ कारणं न भवति। पी०-मेरा अपना बल (माइ ओन स्ट्रेंथ), वेल०—अपनी बुद्धि। यह शब्द वृद्धि और शीघ्रता अर्थ वाले √दक्ष् से निष्पन्न है।

ध्रुतिः—सा०-स्थिरा उत्पत्तिसमय एव निर्मिता दैवगतिः[2] कारणम्। ध्रु गतिस्थैर्ययोरिति धातुः, पी०-भाग्य (फ़ेट), वेल०-वञ्चना—√ध्वृ (सताना) से—छलना, वञ्चना। रोथ—पाप के प्रति लोभ (टेम्प्टेशन इनटू सिन)। जुआ, क्रोध, मदिरा—ये सब दैवगति के अन्तर्भूत हैं।

विभीदकः—सभी विद्वान्—द्यूतसाधनोऽक्षः। स ह्न द्यूतेषु पुरुषं प्रेरयन्ननर्थहेतुर्भवति।

अस्ति ज्यायान्...सा०-अपि च कनीयसः अल्पस्य हीनस्य पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ उपारे उपागते समीपे नियन्तृत्वेन स्थितो ज्यायान् अधिकः ईश्वरोऽस्ति स एव तं पापे प्रवर्तयति। तथा चाम्नातम्—एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषतीति (कौषीतकि उपनिषद् ३।८)। पी०-यह एक असमाधेय ग्रन्थि है क्योंकि 'उपारे' अन्यत्र नहीं आता। मक्स० प्रभृति विद्वानों द्वारा किये गये इसके अर्थ का भाव यह है कि 'बड़ा व्यक्ति ही छोटे को पथभ्रष्ट

---

१. तु. गीता—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

२. तु० अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥ नैषध०

करता है।' ग्रास०-छोटे व्यक्ति का प्रमाद बड़े को ग्रभिभूत कर लेता है। वेल०-छोटे (बच्चे) के ग्रपराध में बड़े को हिस्सेदार मान्ा ही जाता है। 'उपारे' की व्युत्पत्ति सम्भवतः उप + √ ऋ (गतौ) से मानी जा सकती है— निकट जाने में, संयुक्त होने में। पाश्चात्य विद्वान् इसके मूल में हिंसार्थक √ग्रर् मानने के पक्ष में हैं। उनके मतानुसार √ग्रर् का यह ग्रर्थ √ मर्, ग्ररि, ग्रर्वन् ग्रादि में सुरक्षित है। प्रस्तुत वाक्य की निम्नलिखित व्याख्यायें भी सम्भव हैं :—

१. कनीयसः मनुष्यस्य उपारे ज्यायान् स्वप्नश्च इत् ग्रनृतस्य प्रयोता। कनीयान् ग्रल्पशक्तिः परन्तु स्वप्नः ज्यायान्। तु० यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति। यो जागार तमयं सोम ग्राह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ ऋ० ५।४४।१४

२. कनीयसः ग्रनृतस्य उपारे ज्यायान् स्वप्नः प्रकर्षेण प्रेरयिता (प्रयोता)।

३. कनीयसः मनुष्यस्योपारे न स स्वो दक्षो वर्तते येन पापानां निराकरणं स्यात्। परन्तु ध्रुतिः, सुरा, विभीदकः मन्युश्च सन्ति। ग्रस्मादप्यधिकमनृतस्य प्रयोता ज्यायान् स्वप्नः।

४. कनीयसः मनुष्यस्योपारे (वरुणेन सह मिलने) प्रयोता दूरीकर्ता च केवलं सुरादयः परन्तु ग्रनृतस्य स्वप्नमात्रमपि ज्यायानस्ति।

५. उपारे सम्मिलने कनीयसः ग्रनृतस्य स्वप्नोऽपि ज्यायान् प्रयोता दूरीकर्ता भवति।

६. कनीयसः मनुष्यस्योपारे समीपे ज्यायान् स्वप्नः ग्रनृतस्य प्रयोता—मनुष्य की भौतिक कामनायें (जो कि वस्तुतः स्वप्न ही हैं) ग्रनृत से मिलाने वाली या ऋत भंग करने वाली हैं, क्योंकि इन्हीं कामनाग्रों के वशीभूत होकर मनुष्य ग्रपराध कर बैठता है। यही ज्यायान् ग्रासुरी शक्ति कही जा सकती है। तु० गीता—

> ग्रथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
> ग्रनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

स्वप्नश्चन—सा०-स्वप्नोऽपि ग्रनृतस्य पापस्य प्रयोता प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति। ईदिति पूरकः। स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिर्बहूनि पापानि जायन्ते किमु वक्तव्यं जाग्रति कृतैः कर्मभिः पापान्युत्पद्यन्त इति। ग्रतो ममापराधो दैवागत इति हे वरुण त्वया क्षन्तव्य इति भावः। पी०-स्वप्न भी मुझे पाप में प्रवृत्त कराता है, पापों को दूर नहीं करता—च न प्रयोता (पृथक्कर्ता)। वेल०-निद्रा भी (मनुष्य को दुष्ट शत्रु के) मिथ्यात्व से दूर नहीं कर सकती। स्वप्न की

शक्ति के विषय में तु०-अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ।।
(नैषध०)

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ।।७।।

अरम् । दासः । न । मीळ्हुषे । कराणि । अहम् । देवाय । भूर्णये । अनागाः । अचेतयत् । अचितः । देवः । अर्यः । गृत्सम् । राये । कविऽतरः । जुनाति ।।

सेवा दास-सम (मैं) सुखदायक की करूँ (निरन्तर),
मैं देव की, महाबलिष्ठ की दोष-रहित हो (अब तो) ।
देता ज्ञान, ज्ञान-रहितों को देव (सभी का) स्वामी,
मेधावी को, धननिमित्त अधिक ज्ञानी प्रेरित करे ।।

जब सखा रूप में भी वरुण ने भक्त को दोष-मुक्त नहीं किया, तब वह प्रायश्चित्त के लिये दासरूप में भी उसकी सेवा करने को तत्पर है । वह देव अत्यन्त बलिष्ठ है, सर्वशक्तिमान् है । अतः किसी न किसी प्रकार से उसे प्रसन्न करके उसकी दृष्टि में पूर्णतया दोषरहित होना आवश्यक है । क्योंकि वह देव अज्ञानी जनों को ज्ञान देता है, अतः भक्त उससे प्रार्थना कर रहा है कि सबसे अधिक ज्ञानी होने के कारण मेधावी जन को भी (सच्चे) धन के प्रति प्रेरित कर दे । सच्चे धन का भाव 'राये' शब्द में विद्यमान √रा (दाने) धातु से स्पष्ट होता है—अर्थात् दान की भावना । वही त्याग है, वही मुक्ति का मार्ग है । तु० तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः (ईशोपनिषद्) ।

अरं कराणि—सा०--पर्याप्तं कराणि परिचरणं करवाणि, पी०—मैं पूजा रूप सेवा करूँगा (आइ विल वर्शिप—सर्व), वेल०-मैं सेवा करूँगा । कराणि—√कृ के विकरण-लुग्-लुङ् अङ्ग से लेट्, उत्तम० एक० (दे० वै० व्या० भा० २, पृ० ५७३) ।

भूर्णये—सा०-जगतो भर्त्रे, पी०-यशस्वी, बलिष्ठ (ग्लोरिअस्, माइटी), वेल०-सुलभ कोप वाले ।

अनागाः—सा०-वरुणप्रसादादपापः सन् । इस बहुव्रीहि समास का नियमित स्वर ('नञ्सुभ्याम्' के अनुसार अन्तोदात्त) ऋग्वेद में केवल एक स्थान (१०।१६५।२) में प्राप्त होता है। आद्युदात्त व्यत्यय से ही सिद्ध हो सकता है ।

अचेतयत्—सा०-चेतयतु, प्रज्ञापयतु, पी०-मेधावी बनाता है (मेक्स वाइज़), वेल०-ज्ञानपूर्ण करता है । मै०-विचारवान् बनाया । पाद के आदि में होने के कारण तिङन्त होते हुए भी सोदात्त है ।

अ॒र्यः—स्वामी। विस्तृत टिप्पणी के लिये दे० ऋ० १।८१।६।

गृत्सं॑म्—सा०-स्तोतारम्, पी०, वेल०-ज्ञानी पुरुष को। नि० ६।५-गृत्स इति मेधाविनाम, गृणातेः स्तुतिकर्मणः, मेघावी व्यक्ति ही अच्छी स्तुति कर सकता है।

जु॒ना॒ति॒—सा०-जुनातु प्रेरयतु, (लेट्, प्र० पु० एक०), पी०, वेल०-सहायता करता है, आगे बढ़ाता है। (लट्, प्र० पु० एक०)।

अ॒यं सु तुभ्यं॑ वरुण स्वधावो हृ॒दि स्तोम॒ उप॑श्रितश्चिदस्तु।
शं नः॒ क्षेमे॒ शमु॒ योगे॑ नो अस्तु यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥८॥

अ॒यम्। सु। तुभ्य॑म्। व॒रु॒ण॒। स्व॒धा॒ऽव॒ः। हृ॒दि। स्तोम॑ः। उप॑ऽश्रितः। चि॒त्। अ॒स्तु॒। शम्। नः॒। क्षेमे॑। शम्। ऊँ॑ इति॑। योगे॑। नः॒। अ॒स्तु॒। यू॒यम्। पा॒त॒। स्व॒स्तिऽभि॑ः। सदा॑। नः॒ ॥

यह शुभ तेरे लिये वरुण हे पूर्ण स्वास्थ्य से युक्त (प्रभो)!
हृदय में (मेरे) स्तोम उपस्थित सदा रहे (आह्लादक)।
शान्ति हमारी क्षेम में शान्ति अरु योग में हमरी हो
तुम सब रक्षा करो कल्याण से सदा हमारी (देवो) ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त स्तुति के द्वारा भक्त वरुण को प्रसन्न करके उससे कृपा प्राप्त करने में सफल हो गया है। इसीलिये अब वह सचेत है कि भविष्य में ऐसा प्रमाद न हो। वह अभिलाषा व्यक्त करता है कि वरुण की स्तुति उसके हृदय में उपस्थित रहे। उसके फलस्वरूप क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुओं की रक्षा तथा योग अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति में शान्तिपूर्ण सफलता के प्रति वह आशावान् है।

क्षेमे॒ योगे॑—प्रायः परवर्ती साहित्य में इन शब्दों का क्रम योगक्षेम है। वेद के इस विशेष क्रम से यह द्योतित होता है कि अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति की समस्या बाहुल्य के कारण तब सम्भवतया इतनी अधिक नहीं थी, जितनी उनकी रक्षा की।

शम्—सा०-उपद्रवाणां शमनमस्तु, पी०-मुझे विश्राम के समय और कार्य के समय सुख दो (ब्लैस मी रैस्टिंग, ब्लैस मी वर्किंग), वेल०—श्रम तथा विश्राम के समय हमें सुख प्राप्त हो।

विष्णुः

व्याप्त्यर्थक √विष् से निष्पन्न विष्णु नाम वाला देवता महिमा की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि ब्राह्मणों में यज्ञ की प्रमुखता के कारण विष्णु का बहुत प्रमुख स्थान रहा है और अनेक बार उसे ही यज्ञ बताया गया है (**विष्णुर्वै यज्ञः**), तथापि ऋग्वेद में भी मूल रूप में विद्यमान व्याप्ति की भावना सर्वदा ध्यान में रही है।[1] इसीलिये कहा गया है कि विष्णु के तीन विस्तीर्ण पगों की सीमा में सभी लोकों का निवास है—**यस्योरुषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा** (ऋ० १।१५४।२)। यह भी बताया गया है कि तीन स्थानों में रहने वाले उस अकेले ने पृथिवी और आकाश को ही नहीं, सभी लोकों को धारण किया हुआ है—**य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा** (ऋ० १।१५४।४)। विष्णु सबको प्रेरणा देने वाला है, वह अपने तीनों पाद-प्रक्षेपों में नियमों का पूर्ण ध्यान रखता है—**अतो धर्माणि धारयन्** (ऋ. १।२२।१८) विष्णु अन्तर्यामी भी है क्योंकि एक व्याख्या के अनुसार वह गर्भरक्षक भी वर्णित हुआ है—**विष्णुं निषिक्तपाम्** (ऋ० ७।३६।९)। सम्भवतया इन विशेषताओं के आधार पर ही स्वामी दयानन्द ने विष्णु की व्याख्या सर्वव्यापी ईश्वर के रूप में की है। बहुत स्पष्ट कहा गया है कि हे विष्णु देव, न तो उत्पन्न हुआ कोई, और न उत्पन्न होने वाला आपकी महिमा के परम अन्त को प्राप्त कर सकता है—**न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप** (ऋ० ७।९९।२)।

विष्णु का वर्णन अतिविशाल शरीर वाले एक ऐसे युवक के रूप में किया गया है जो अब शिशु नहीं है—**बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम्** (ऋ० १।१५५।६)। विष्णु की प्रमुख विशेषता उसके तीन कदम (**त्रीणि विक्रमणानि**) हैं जिनके कारण उसे त्रिविक्रम, उरुक्रम और उरुगाय कहा जाता है। इसके दो पग तो मनुष्यों को दिखाई देते हैं, परन्तु सर्वोच्च तृतीय पद पक्षियों की उड़ान से भी परे है—**तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्च न पतयन्तः पतत्रिणः** (ऋ० १।१५५।५)। इसका यह सर्वोन्नत पग स्वर्ग में स्थित नेत्र के समान है और नीचे की ओर प्रदीप्त होता है—**तद्विष्णोः परमं पदं...दिवीव चक्षुराततम्** (ऋ० १।२२।२०)। उसके इसी प्रिय स्थान में दिव्यत्व के अभिलाषी मनुष्य आनन्दित होते हैं—**नरो यत्र देवयवो मदन्ति**

(ऋ० १।१५४।५)। मैक्डॉनल के मतानुसार इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन तीन क्रमणों से सूर्य का मार्ग, और बहुत सम्भव है कि विश्व के तीन भागों, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में से जाने वाला इसका मार्ग अभिप्रेत है।[1] किन्तु जैसा कि तीन क्रमणों का (विशेष रूप से तृतीय सर्वोच्च का) वर्णन है, उससे पृथ्वी, द्युलोक और उससे भी ऊपर का लोक अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। इस अन्तिम लोक को ब्रह्मलोक या सूर्य से भी परे का लोक कहा जाता है।[2] विष्णु के इस परम पद में ही मधु या आनन्द के झरने का उल्लेख किया गया है—**विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः** (ऋ० १।१५४।५)। श्री अरविन्द के अनुसार विष्णु के तीन क्रमण पृथ्वी, आकाश और परमलोक हैं जिनके आधार प्रकाश, सत्य और सूर्य हैं।[3] इन्हीं तीन क्रमणों को आध्यात्मिक दृष्टि से ऋषि, विचारक और निर्माता के रूप भी माना जा सकता है। अरविन्द की दृष्टि में विष्णु समस्त संसार का वृषभ है जो शक्ति की सभी ऊर्जाओं और विचारों के समूह का भोग करने वाला और उन्हें उत्पन्न करने वाला है।[4]

एक परिभ्रमणशील चक्र के समान अपने ९० घोड़ों (दिनों) को उनके चार नामों (ऋतुओं) के साथ चला देता है। इससे सौर वर्ष के ३६० दिनों की ओर संकेत होता है—**चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत्** (ऋ० १।१५५।६)। "इस प्रकार मूलरूप में विष्णु उस तीव्रगति से चलने वाली ज्योति-रूप सूर्य की क्रिया का मूर्तीकरण प्रतीत होता है जो अपने विशाल क्रमणों से समस्त विश्व को पार कर लेता है।"[5] विष्णु मनुष्य के अस्तित्व, उसे निवास के रूप में भूमि देने के लिये क्रमण करता है—**वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्** (ऋ० ७।१००।४)।

विष्णु की गौण विशेषताओं में सर्वप्रमुख उसका इन्द्र के साथ सख्य है क्योंकि प्रायः वृत्र के साथ युद्ध में वह उसके साथ होता है। केवल विष्णु को निवेदित सूक्तों में इन्द्र ही मात्र ऐसा देव है जो उसके साथ साहचर्य प्राप्त करता है। एक सूक्त (ऋ० ६।६९) तो पूरा ही केवल इन दो देवों को संयुक्त रूप से अर्पित है। यह बताया गया है कि विष्णु को साथ लेकर इन्द्र ने वृत्र-वध किया—**अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः** (ऋ० ६।२०।२)। इस वृत्रकथा के कारण ही इन्द्र के सहायक मरुत् भी विष्णु के सहयोगी बन

१. वैदिक माइथोलोजी, पृ. ७१।
२. ईशोपनिषद्—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
३. ओरोबिन्दोज़ वैदिक ग्लॉस्सरी, पृ. ८४।
४. वहीं, पृ. ८३-८४।
५. वैदिक माइथोलोजी, पृ. ७२।

गये हैं। एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० ६।८७) में उनके सायुज्य में विष्णु की स्तुति की गई है।

मैक्डॉनल के मतानुसार "अवेस्ता के एक संस्कार में पृथ्वी से लेकर सूर्य के क्षेत्र तक बढ़ाये गये अम्षस्पन्दस के तीन पग इसकी अनुकृति हैं।"[1] कुछ विद्वानों का मत है कि परवर्ती पौराणिक विष्णु के वामन-अवतार का मूल आधार ऋग्वेद के तीन विक्रमणों में है। तै० सं० २।१।३ में तो यहाँ तक उल्लेख है कि विष्णु ने वामन का रूप धारण करके तीनों लोकों को विजित किया। विष्णु के पौराणिक वामनावतार का एक महत्त्वपूर्ण कृत्य बलि राक्षस से भूमि को मुक्त कराना भी था। इसका संकेत भी वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। ऐ० ब्रा० ६।१५ और श० ब्रा० १।२।५ में बताया गया है कि किस प्रकार असुरों से देवों द्वारा पृथ्वी प्राप्त करने में विष्णु ने सहायता की थी।

मैक्डॉनल के अनुसार इसका निर्वचन √विश् (क्रिया शील होना) से होगा। तदनुसार विष्णु उसका नाम है जो बहुत क्रियाशील हो।

ऋ० ७।१००

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ, देवता-विष्णुः, छन्दः—त्रिष्टुप।

नू मर्तो॑ दयते सनि॒ष्यन् यो विष्ण॑व उरुगा॒याय॒ दाश॑त्।
प्र यः स॒त्राचा॒ मन॑सा॒ यजा॑त ए॒ताव॑न्तं॒ नर्य॑मा॒विवा॑सात् ॥१॥

नु। मर्तः। द॒य॒ते॒। स॒नि॒ष्यन्। यः। विष्ण॑वे। उ॒रु॒गा॒याय॑। दाश॑त्। प्र। यः। स॒त्राचा॑। मन॑सा। यजा॑ति। ए॒ताव॑न्तम्। नर्य॑म्। आ॒ऽविवा॑सात् ॥

निश्चय ही (वह) मर्त्य प्राप्त करता है प्राप्ति का इच्छुक,
जो विष्णु को, विस्तृत-गति को करदे अर्पित (सब कुछ)।
जो सतत पूर्ण मन से प्रकृष्ट उपासना करता है,
(और जो) इतने नर के हितकारी की करे सपर्या ॥

इस मन्त्र में गीता (९।२७) के निम्नलिखित श्लोक की स्पष्ट झलक प्राप्त होती है:—यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ जिस प्रकार वहाँ (९।२८) में कहा गया है कि सब कुछ ईश्वरार्पण करने वाले व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार यहाँ भी सर्वव्यापी विष्णु को सर्वस्व अर्पित करने वाले को सब कुछ अभीष्ट प्राप्त होने

1. वैदिक माइथोलोजी, पृ. ७५।

की बात कही गई है। मूल भावना यहाँ अहङ्कार के त्याग की है। पूर्ण समर्पण की भावना से उस परमेश्वर की शरण में जाने पर ही मनुष्य सच्ची शान्ति प्राप्त करता है। वह ईश्वर तो स्वयं न्यायपूर्वक सब जनों का हितचिन्तक है। इसके समान भाव भी गीता (१८।६२) में उपलब्ध है :—तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

नु—निरुक्त (१।२) में इसके 'हेतु, अनुप्रश्न, उपमा' अर्थ दिये गये हैं। नि० २।८ में जो मन्त्र उद्धृत किया गया है, उसमें इसका 'निश्चय' अर्थ स्पष्ट है। यहाँ वें०; सा०—क्षिप्रम्, सात०-सत्वर, स्वा० द० ने भी प्रायः इस शब्द का यही अर्थ दिया है। गेल्ड०—निश्चय ही (गेविस्स)। संहितापाठ में दीर्घ ऊकार द्रष्टव्य है—पा० ६।३।१३३, ऋचि तुनुघमक्षुतङ् कुत्रोरुष्याणाम्। त्रिष्टुप् पाद के दो अक्षरों में से एक की कमी पूरी करने के लिये यहाँ इसका उच्चारण 'नू उ' करना चाहिये (दे० वोर्तर बुख त्सुम ऋग्वेद)।

दयते —प्रयच्छति (वें०); सात०, गेल्ड०-धनमादत्ते, दयतिराङ्पूर्वार्थे द्रष्टव्यः (प्राप्त करता है), ग्रास०-पश्चात्ताप करना (बॅरॉयन)। धातु पाठ में इसके अर्थों में से एक अर्थ 'आदान' भी है—दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु। सा० ने एक भिन्न अन्वय करके 'ददाति' अर्थ भी दिया है—स मर्तः सनिष्यन् धनादीनि लप्स्यमानो भवन्नेव हविरादिकं नु क्षिप्रं दयते विष्णवे ददातीति योज्यम्।

सनिष्यन् —प्राप्ति का इच्छुक—√सन् तनादि० लृट् शतृ० पुं० प्रथमा० एक०, वें०—हविर्द्वारेण धनं सनिष्यन्। ग्रास०-सनि (प्राप्ति) से नामधातु—सम्पत्ति की इच्छा करता हुआ। सात०-धन की इच्छा करके। सा०-धनमिच्छन्, यद्वा सनिष्यन्निति सनतेर्लाभार्थस्य लृटि रूपम्—धनादीनि लप्स्यमानः। पाद में दूसरे अक्षर की कमी पूरी करने के लिये 'सनिषिअन्' उच्चारण करना चाहिये।

उरुगायाय —वें०-उरुकीर्तये। सा०, सात०-बहुभिः कीर्तनीयाय (बहुतों द्वारा प्रशंसनीय), आधुनिक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान्—विस्तृत गति वाले को (उरुः गायः √गा—जाना, यस्य सः, बहु०—मॅ०—वाइड-पेस्ड), अन्यत्र स्वय सायण ने और अर्थों के साथ साथ यह अर्थ भी स्वीकार किया है—दे० ऋ० ८।२९।७—उरुभिर्बहुभिर्गातव्यः, यद्वा बहुषु देशेषु गन्ता, बहुकीर्तिर्वा सर्वाञ्छत्रून् स्वसामर्थ्येन शब्दयत्याक्रन्दयतीति वोरुगायः। दे० या० (नि० २।७)—उरुगायस्य विष्णोर्महागतेः।

दाशत्—दे दे, अर्पित कर दे; √दाश् लेट्, प्र० पु० एक०, सा०-दद्यात्, (पा०, ८।१।६६) के अनुसार यह तिङन्त पद वाक्य के अन्त में भी उदात्त है।

सुत्रार्चा—वें०-महत्त्वमञ्चता, सा०-सहाञ्चता मनसा मननेन स्तोत्रेण,

सात०-साथ साथ कहे जाने वाले मन्त्रों से, ग्रास०-सत्रा ग्रञ्चति इति—साथ साथ चलने वाला (ग्रारुतुसम-चिन्तनयुक्त), गेल्ड०-पूर्ण (मन से), मक्स०-सामान्य (कॉमन)।

नर्यं॑म्—सा०, सात०—नरेभ्यो हितम् (मनुष्यों के हितकर्ता), पौरुषयुक्त (मैन्ली)—सभी पाश्चात्य विद्वान्। या० (नि० ११।३७)—नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हितो नरापत्यमिति वा। ग्र०—वीरोचित शक्ति (स्ट्रेंथ ग्रॉफ़ द हीरो)। छन्द के ग्रनुसार इसका उच्चारण 'नरिग्रम्' होना चाहिये।

ग्राविवासात्—वें०-ग्राविवासति, ग्रधितिष्ठति, सा०—नमस्कारादिभिः परिचरेत्, या० (नि० २।२४)—ग्राविवासेम परिचरेम, सात०-पूजा करता है, पाश्चात्य ग्रौर ग्राधुनिक भारतीय विद्वान्[1]—प्राप्त करने की इच्छा करे (√वन्—प्राप्त करना—सन्नन्त, लेट्, प्र० पु० एक०)। किन्तु नि० २।२४ पर मुकुन्द बख्शी झा—विवासतिर्निरुक्तधातुः विपूर्वाद् वसेर्णिच्। छन्दस्युभयथा (पा० ३।४।११७) इति शपि ग्रार्धधातुकत्वाण्णिलोपः इति भट्टभास्करमिश्राः प्राहुः। विवासतीति परिचरणकर्मसु पठितम् (निघं० ३।५)।

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः।
पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः ॥२॥

त्वम्। विष्णो इति। सुऽमतिम्। विश्वऽजन्याम्। अप्रयुताम्। एवऽयावः। मतिम्। दाः। पर्चः। यथा। नः। सुवितस्य। भूरेः।

तुम हे विष्णु, शुभ विचार की, सभी जनों की हितकर,
स्खलनरहित (जो उदार) कामगति हे, बुद्धि (हमें) दो।
सम्बद्ध करो जिससे तुम हमको शुभ-गमन बहुत से,
ग्रश्वों से युक्त बह्वाह्लादक धन के (अंशों से)॥

पिछले मन्त्र में कहा गया कि ईश्वर के उपासक को ग्रभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। ग्रब यह बताया जा रहा है कि ऐसे उपासक को ग्रभीष्ट क्या है। ऐसे व्यक्ति का ग्रभीष्ट सन्तुलित जीवन ही है। ग्रश्वादि धन के साथ साथ शोभन बुद्धि, विवेक की भी प्रार्थना की गई है। वह बुद्धि या विचारधारा ऐसी हो जिससे सभी जनों का कल्याण सिद्ध हो। उसी बुद्धि से धन सुप्राप्य हो—ग्रर्थात् बिना छल-कपट के, परिश्रमपूर्वक धनोपार्जन हो। ग्रौर धन के

---

१. पीटर्सन इस विषय में ग्रपवाद है। उसने ऋ. ५।८३।१ में 'ग्रा विवास' का ग्रर्थ 'उसके सम्मुख प्रणाम करो' (बो डाउन बिफ़ोर हिम) किया है। यह 'परिचर' के निकट है।

लिये भी 'रै' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसमें मूल भावना दान देने (√रा) की है। प्रतीक रूप में अश्वयुक्त धन गतियुक्त सामर्थ्य भी हो सकता है। इसी प्रकार अति कान्तिशील धन भी 'तेजस्विता' हो सकती है।

विष्णो—पदपाठ में इसके आगे इति द्रष्टव्य है। पदपाठ में उकारान्त प्रातिपदिकों के सम्बोधन के एकवचनान्त ओकार को प्रगृह्य माना जाता है और उसके आगे 'इति' जोड़ा जाता है। (दे० वै० व्या० भा० १, पृ० ६७-पा० १।१।१६—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे।)

सुमतिम्—शोभना मतिः बुद्धिः यस्यां तां मतिम् (बहु०) 'नञ्सुभ्याम्' से अन्तोदात्त।

विश्वजन्याम्—विश्वस्मै जनाय हिताम् (पा० ५।१।५—तस्मै हितम्—से यत् प्रत्यय), या० (नि० ११।१२) ने 'विश्वजन्यम्' का अर्थ 'सर्वजन्यम्' दिया है। सब लोगों के लिये हितकर। ऋ० १।१६६।८ में 'विश्वजन्या' पर स्वा०द० -याः विश्वं जनयन्ति ताः—अत्र भव्यगेयेति कर्तरि जन्यशब्दः। किन्तु यहाँ इस प्रकार उपपद समास बनता है, तदनुसार 'गतिकारकोपपदात् कृत्' से उत्तर पद प्रकृतिस्वर होना चाहिये था। किन्तु ऋ० ६।४७।२५ में 'विश्वजन्यम्' पर—विश्वाञ्जनयितुं योग्यम् विश्वसुखजनकं वा।

अप्रयुताम्—वें०-अप्रमत्ताम्, सा०, सात०-दोषैर्वियुक्ताम्, ग्रास०-निरन्तर (उन्-आब्लैस्सिग), गेल्ड०-परिवर्तनरहित (उन्-वांडलबारें)। स्पष्ट ही सायण के अर्थ में √यु को मिश्रणार्थक माना गया है और ग्रासमैन के अर्थ में पृथग्-भावार्थक। किन्तु रूढ़ि को देखते हुए सायण ठीक प्रतीत होता है क्योंकि प्रायः 'युत' का अर्थ 'युक्त' ही होता है। नञ् समास में पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर होता है (दे० पा० ६।२।२ और उस पर वार्तिक)।

एवयावः—सम्बोधन, सर्वानुदात्त। वें०-एवान् गच्छन्ति इति, सा०—एवाः प्राप्तव्याः कामाः, तान् यापयति प्रापयति स्तोतॄन् इत्येवयावा, हे एवयावन्। सात०-हे कामनाओं की पूर्णता करने वाले, ग्रास०, मै० —द्रुतगति से चलने वाले (राशगेहेंद), गेल्ड०-स्वैरगति से आने वाले (गेर्न-कॉमेंदर), स्वा० द०-ऋ० १।९०।५ में—एति जानाति सर्वव्यवहारं येन स एवो बोधस्तं याति प्राप्नोति प्रापयति वा तत्सम्बुद्धौ। मक्स०-निरन्तर चलने वाला, या० (नि० १२।२१)—एवैः कामैरयनैरवनैर्वा। एवैः कामैः याति गच्छति इति एव+या +वन् (वनिप्)—एवयावन् से सम्बो० एक० में 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ' (पा० ८।३।१) तथा वार्तिक 'मतुवसोरादेशे वन उपसंख्यानम्' से अन्तिम न् के स्थान पर 'रु' और फिर उससे विसर्जनीय।

दाः—दे दो √दा लेट् म० पु० एक०, पाश्चात्य विद्वान्—√दा विकरण-

लुग्-लुङ् के अंग से लेट् म० पु० एक।

पर्च॑ः—वें०, सा०, सात०—सम्पर्कः नः अस्माकं यथा भवति तथा देहीत्यन्वयः (विपुल धन का सम्पर्क जिस तरह हो सके, ऐसा करो)। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार—तुम सम्पर्क (सम्पृक्त) करो—√पृच् विकरण-लुग्-लुङ् अंग से लेट् म० पु० एक०, ग्रास०, गेल्ड०-दे दो। वाक्य के आरम्भ में तिङन्त पद उदात्त है। यह पद ऋ० में केवल एक बार इसी स्थान पर आया है।

सुवितस्य॑—वें०-शोभनगमनस्य, सा०, सात०-सुष्ठु प्राप्तव्यस्य (सुख से (प्राप्त होने योग्य) पाश्चात्य विद्वान्—दुरित का उल्टा, कल्याण, शुभ गति वाला (सु+√इ+क्त)—वेल्फ़ेयर, गुतॅर फ़ोर्तगांग। या० (नि० ४।१७)—सुविते—सु इते सूते—सुगते प्रजायामिति वा (अच्छी मति वाले स्थान में या प्रजा में)। 'रायः' के विशेषणभूत इस पद में, अन्य विशेषणों में तथा 'रायः' में स्वयं पूर्ण का अंश निर्दिष्ट करने के लिये द्वितीया के अर्थ में षष्ठी है। (दे० ऋ. ५।५७।१ और वै० ग्रा० स्ट्र०, २०२ A, d २)।

पुरुश्चन्द्रस्य॑—वें०-बहुसुवर्णस्य, सा०, सात०-पुरूणां बहूनामाह्लादकस्य (अत्यन्त आह्लाददायक), भारतीय भाष्यकारों और गेल्ड० ने प्रायः यही दो अर्थ किये हैं (दे० ऋ० १।२७।११; २।२।१२; ३।२५।३ इत्यादि), सा० ने ऋ० १।२७।११ में 'पुरुश्चन्द्र' का अर्थ 'बहुदीप्ति' किया है। कुछेक स्थलों पर 'बहुतों का प्रिय' (बहूनां कान्तः) अर्थ भी किया गया है। इस अर्थ में 'चन्द्र' शब्द का निर्वचन √चन्द् (कामना करना) से किया गया है। ग्रास०, मक्स०, ओ० ब० प्रभृति विद्वानों ने इसका अर्थ प्रायः 'अत्यन्त दीप्ति या प्रकाश से युक्त' किया है। 'चन्द्र' पर टि० के लिये दे० ऋ० ५।५७।७ में 'चन्द्रवत्' पर टि०। पुरूणां बहूनां चन्द्रः आह्लादकः—षष्ठी तत्० 'समासस्य' (पा० ६।१।२२३) के अनुसार अन्तोदात्त। 'बहुत दीप्तियुक्त' या 'बहुत सुवर्णयुक्त' अर्थ करने पर भी बहुव्रीहि समास होने से उत्तरपद पर उदात्त होता है।[1] 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' (पा० ६।१।१५१) के अनुसार दोनों पदों के मध्य सुट् (स्) आकर सन्धि से 'श्' हो गया है।

त्रिर्दे॒वः पृ॑थि॒वीमे॒ष ए॒तां वि च॑क्रमे श॒तर्च॑सं महि॒त्वा।

प्र विष्णु॑रस्तु त॒वस॒स्तवी॑यान्त्वे॒षं ह्य॑स्य॒ स्थवि॑रस्य॒ नाम॑ ॥३॥

त्रिः। दे॒वः। पृ॒थि॒वीम्। ए॒षः। ए॒ताम्। वि। च॒क्र॒मे॒। श॒तऽअ॑र्चसम्। म॒हि॒ऽत्वा। प्र। विष्णु॑ः। अ॒स्तु॒। त॒वसः॑। तवी॑यान्। त्वे॒षम्। हि। अ॒स्य॒। स्थवि॑रस्य। नाम॑॥

1. क्योंकि यहाँ पूर्वपद में द्व्यच् विशेषण है। दे वै. व्या. भा. २, पृ. ८६५।

तीन बार देव ने पृथ्वी का इसने इसका (देखो)
विक्रमण किया है सौ स्तुतियों वाली का महिमा से।
प्रकृष्ट विष्णु हो जाये, (जो है) महान् से अतिमहान्,
महान् ही (है) इस वृद्ध का नाम (अतुलित गरिमा से)॥

यहाँ स्पष्ट ही सूर्य रूप में ईश्वर का स्मरण किया गया है। प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायं की अवस्थाओं में मानो वह तीन बार पृथ्वी को पार करता है। पृथ्वी स्वयं विविध रंग रूप और अद्भुत प्रकृति के कारण स्तुत्य है। ये तीन अवस्थायें संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय अथवा शरीर की जन्म, स्थिति और मृत्यु की अवस्थायें भी हो सकती है जिन सब पर परमेश्वर का पूर्ण अधिकार है। यहाँ विस्तृत संसार या शरीर ही पृथ्वी है। विष्णु महान् से भी महान् के रूप में सब जनों के मन में प्रकृष्टता प्राप्त कर ले। अनादि-काल से स्थिति के कारण ही उसे वृद्ध कहा गया है। भाव यह है कि सभी जन किसी और को उससे महान् न समझें। सा० ने पृथ्वी को पृथ्वी आदि तीन लोक माना है (पृथिव्यादींस्त्रीन् लोकान्)।

प्रथम और चतुर्थ पादों में एक एक अक्षर कम होने के कारण इसे निचृत् त्रिष्टुप् छन्द माना जायेगा। अथवा छन्दःपूर्ति के निमित्त प्रथम पाद में 'देवः' का 'दइवः', और चतुर्थ पाद में 'ह्यस्य' का 'हि अस्य' उच्चारण करना होगा।

<u>शुतर्च॑सम्</u>—वें०-बहुस्तुतिकाम्, सा०, सात०-शतसंख्यान्यर्चींषि यस्यास्तादृशीम् (सैंकड़ों तेजों वाली इस भूमि पर तीन बार पराक्रम किया)। ग्रास०-सैंकड़ों स्तुतियों वाली, गेल्ड०-जिसके सौ गायक (?) हैं (दी हुन्दर्त ज़ेंगर् (?) हात) 'शत+अर्चैसम्' में पररूप सन्धि प्रतीत होती है। दे० वार्तिक-शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। शतम् अर्चांसि यस्याः ताम् शतर्चसम्।[1] वेल० के मतानुसार 'सौ स्तुतियों वाली' का अर्थ है 'जो विष्णु को सौ स्तुतियाँ अर्पित करती है। —जहाँ विष्णु को लोग सौ स्तुतियाँ अर्पित करते हैं।

<u>म॒हि॒त्वा</u>—महत्त्व के द्वारा, √मह्+इन् (उणादि०)+त्व, (दे० ऋ० १।८।५ में 'महित्वम्' पर स्वा० द०-मह्यते पूज्यते सर्वैर्जनैरिति महिस्तस्य भावः। अत्रौणादिकः सर्वधातुभ्य इन्निति प्रत्ययः। महित्व शब्द से तृ० एक० सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण' इत्यादि (पा० ७।१।३९) से विभक्ति का पूर्वसवर्णदीर्घत्व। त्व प्रत्यय को पदपाठ में प्रातिपदिक से अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखाया जाता है। (दे० वै० व्या०, भाग १, पृ० १९९-२००)।

---

१. अर्चस् शब्द समस्त ऋ. में केवल यहीं (उत्तरपद में) आया है। इसकी व्युत्पत्ति √अर्च् (पूजायाम्) से भी सम्भव है—अर्च्यते इति अर्चः—√अर्च्+असुन् (उणादि. ४।१८८—सर्वधातुभ्योऽसुन्।

तवसः—बड़े से (बड़ा), पाश्चात्य विद्वान्—बलिष्ठ से (अधिक बलवान्), या० (नि० ५।६)—तवस इति महतो नामधेयमुदितो भवति ।—बड़ा, देवराजयज्वा—√तव् (वृद्धौ) से उणादि० ३।११३ से असच् प्रत्यय ।

तवीयान्—अधिक बड़ा, तवस्+ईयसुन्, प्रत्यय का न् इत् होने के कारण 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१९७) से यह आद्युदात्त है ।

त्वेषम्—विस्तृत टिप्पणी के लिये दे० ऋ. ५।५७।५ में 'त्वेषसन्दृशः' पर टि० ।

स्थविरस्य—सा०—अस्य वृद्धस्य विष्णोः नाम नामकं रूपं विष्णुरित्येतन्नामैव वा त्वेषं हि यस्माद्दीप्तं तस्मात्कारणात् स विष्णुः प्रभवत्वित्यर्थः । ग्रास०, गेल्ड, वेल०-सुदृढ़ (ष्टांडफ़ेस्टन) ।

वि च॑क्रमे पृथि॒वीमे॒ष ए॒तां क्षेत्रा॑य॒ विष्णु॒र्मनु॑षे दश॒स्यन् ।

ध्रु॒वासो॑ अस्य की॒रयो॒ जना॑स उरुक्षि॒तिं सु॒जनि॑मा चकार ॥४॥

वि॒ । च॒क्र॒मे॒ । पृ॒थि॒वीम् । ए॒षः । ए॒ताम् । क्षेत्रा॑य । विष्णु॑ः । मनु॑षे । द॒श॒स्यन् । ध्रु॒वासः॑ । अ॒स्य॒ । की॒रयः॑ । जना॑सः । उ॒रु॒ऽक्षि॒तिम् । सु॒ऽजनि॑मा । च॒का॒र॒ ।

विक्रमण किया पृथ्वी का इसने इसका (अनायास)
निवास के लिये विष्णु ने मनुष्य को उपहृत करते ।
सुस्थिर (अडिग, विश्वस्त हैं) इसके स्तुतिकर्ता जन,
विस्तीर्ण निवास शुभ सृष्टि वाले ने बना दिया है ॥

सूर्य मानो पृथ्वी को मनुष्य के लिये निवासयोग्य बनाने हेतु ही पृथ्वी का तीन बार विक्रमण करता है, अन्यथा प्रकाश और उष्णता के अभाव में यहाँ जीवन असम्भव हो जाये । इसके स्तुति करने वाले जन अपनी भावनाओं में पूर्ण विश्वस्त और आस्था में स्थिर हैं । वे इस महान् देव के महत्त्व को जानते हैं और इसीलिये विचलित नहीं होते । इस शुभ सृष्टि वाले ने मनुष्यों के लिये सुविधापूर्ण विस्तृत निवास बनाया है । सूर्य ने ही अन्न, जल आदि की विस्तृत सुविधाएँ उपलब्ध कराई हैं । यदि विष्णु को सर्वव्यापी ईश्वर माना जाये तो पृथ्वी के विक्रमण का अर्थ होगा 'सारे संसार में व्याप्ति द्वारा पहुँच जाना' । आध्यात्मिक दृष्टि से यह शरीर ही पृथ्वी है ।

पृथिवीम्—सायण को छोड़ शेष सभी व्याख्याकार इसका अर्थ केवल 'पृथिवी' करते हैं । सा०-पृथिव्यादीनिमांस्त्रींल्लोकान् (पृथ्वी आदि इन तीनों लोकों को) ।

मनुषे—वें०—मनुष्याय (ऋ० ७।६९।३ में—मनुष्याय मनवे राज्ञे वा),

सा०-स्तुवते देवगणाय (ऋ. ७।९९।३ में—स्तुवते मनुष्याय), ग्रास०-मानव के लिये, गेल्ड०-मनु के लिये। यास्क ने (दे० नि० ८।५, १२) इसका अर्थ मनुष्य ही किया है। उसने इसी से मनुष्य शब्द को भी व्युत्पन्न माना है (दे० नि० ३।७)। अन्य विद्वानों ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है।

दुशस्यन्—वें०—असुरैराक्रान्तां पृथ्वीं निवासार्थम् असुरानवजित्य दातुमिच्छन्। (जो पृथ्वी पहले राक्षसों द्वारा आक्रान्त थी, उसे ही राक्षसों को पराजित करके मनुष्यों को देने की इच्छा करता हुआ), इसी प्रकार सा०-असुरेभ्योऽपहृत्य प्रदास्यन्।

ध्रुवासः:—ध्रुवाः (पा० आज्जसेरसुक्) वें०—स्थिताः, अयमेव स्तोतव्य इत्येकमनसः तिष्ठन्ति। सा०-निश्चला भवन्ति, ऐहिकामुष्मिकयोर्लभेन स्थिरा भवन्तीत्यर्थः (ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति से वे जीवन में स्थिर हो जाते हैं। गेल्ड०-आनूज़ेस्सिग (अच्छे आवास में स्थिर), वेल०-दृढ़तापूर्वक अवस्थित हो जाते हैं (विकम फ़र्म्ली एस्टेब्लिश्ड (एज़ लेंडलॉर्ड्ज़))।

अस्य—विष्णोः, 'इदमोऽन्वादेशेऽनुदात्तस्तृतीयादौ' (पा० २।४।३२) के अनुसार 'अस्य' सर्वानुदात्त रहता है।

कीरयः—वें०, सा०, ग्रास०,—स्तोता, स्तुतिगायक (लॉब्-ज़ेंगर), अर०-स्तोता या कर्मकारी, गेल्ड०-अकिञ्चन (बेज़िरत्स-लोज़े), ग्रो० ब०-दरिद्र, वेल०-दरिद्र उपासक (पुअर वर्शिप्पर्ज़)। निघं० (३।१६) में यह शब्द स्तोता के पर्यायों में परिगणित है। ऋ० १।३१।१३ में स्वा० द० ने इसका यह निर्वचन दिया है :—किरति विविधतया वाचा प्रेरयतीति कीरिः स्तोता। अत्र कृविक्षेप इत्यस्मात् (उणादि० ४।१४८) अनेन इप्रत्ययः स च कित् पूर्वस्य च दीर्घो बाहुलकात्। ऋ० २।१२.६ में सा०-करोतेः कीर्तयतेर्वा, स्तोतुर्ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य च। किन्तु अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ 'तुच्छ, बेचारा, दरिद्र' करते हैं (दे० पी०, हिम्ज़ फ्रॉम दि ऋग्वेद, पृ० १२१)। इस अर्थ का उनका प्रमुख आधार यह है कि जहाँ भी ऋ० में यह शब्द आया है, इसके साथ इसकी तुलना में 'होतृमत्, रातहव्य' जैसे शब्द आये हैं जिनका आशय 'समृद्ध व्यक्ति' से है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि ये शब्द कीरि के प्रतिस्पर्धी न होकर पूरक हैं। कीरि का सम्बन्ध 'स्तुति गान' से है और 'रातहव्य' जैसे शब्दों का सम्बन्ध आहुतिप्रदान से—ये दोनों ही कर्म यज्ञ के प्रमुख अंग हैं। शब्द के आधारभूत धातु की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

सुजनिमा—वें० शोभनजन्मा, सा०-शोभनानि जनिमानि कीर्तनस्मरणादिना सुखहेतुभूतानि यस्य तादृशो विष्णुः—उत्तम जन्म लेने वाला। यहाँ गेल्डनर प्रभृति विद्वानों का 'शुभ जन्म देने वाला' (देअर गूतें गेबुर्त गीब्त) अर्थ अधिक

संगत प्रतीत होता है क्योंकि देवता तो जन्म देने वाला है, उसके अपने अच्छे जन्म की चर्चा अनावश्यक प्रतीत होती है। यहाँ 'सोर्मनसी अलोमोषसी' (पा० ६।२।११८) सूत्र से बहुव्रीहि समास में सु के पश्चात् आने वाला मन्नन्त जनिमन् शब्द आद्युदात्त है। यह शब्द √जन् से इमन् प्रत्यय लग कर बना है (दे० वै० व्या० भाग २, पृ० ८०३)।

प्र तत्ते॑ अ॒द्य शि॑पिविष्ट॒ नामा॒र्यः शं॑सामि व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
तं त्वा॑ गृणामि त॒वस॒मत॑व्या॒न्क्षय॑न्तम॒स्य रज॑सः परा॒के ॥५॥

प्र। तत्। ते॒। अ॒द्य। शि॒पि॒ऽवि॒ष्ट॒। नाम॑। अ॒र्यः। शं॒सा॒मि॒। व॒युना॑नि। वि॒द्वान्। तम्। त्वा॒। गृ॒णा॒मि॒। त॒वस॑म्। अत॑व्यान्। क्षय॑न्तम्। अ॒स्य। रज॑सः। प॒रा॒के ॥

प्रकर्ष से वह तुम्हारा आज हे रश्मिवेष्टित, नाम
स्वामी कीर्तित करता, सकल पथों के ज्ञानी (तुम ही)।
उस तेरी स्तुति करता महान् की मैं अमहान् (अकिंचन)
रहने वाले की इस लोक से अतिदूर (निकट भी)॥

मनुष्य अपना स्वामी स्वयं है, वह अपने कर्मों से अपना भाग्य बनाता है। जो मनुष्य अपने आप को परिस्थितियों का दास समझता है, वह न तो पुरुषार्थ कर पाता है और न ही उन्नति। परन्तु कर्मों का फल देने वाला न्यायाधीश तो ईश्वर है, वह रश्मिवेष्टित अर्थात् परम-तेजस्वी है। वही सब मार्गों का ज्ञाता है और हमें उचित मार्ग पर ले जाता है। इसलिये अपने आपको स्वामी मानते हुए भी ईश्वर के आगे स्वयं को अमहान् या तुच्छ बताया गया है। ईश्वर इतना महान् है कि वह इस लोक से अतिदूर रहता है। इस कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वह इस लोक में व्याप्त होने के साथ साथ इससे बहुत दूर भी विद्यमान है। सूर्य रूप में विष्णु अपनी किरणों से वेष्टित है, वह सब मार्गों को जानता है क्योंकि उसी से सब मार्ग प्रकाशित होते हैं। वह इस लोक अर्थात् पृथ्वी से अत्यधिक दूर है।

शि॒पि॒वि॒ष्ट॒—या० (नि० ५।८) ने इस शब्द के दो प्रकार के अर्थ बताये हैं। एक में अश्लीलता है—शेप इव निर्वेष्टितः, अप्रतिपन्नरश्मिः। दूसरे अर्थ के अनुसार यह सूर्य का अश्लीलतारहित प्रशंसायुक्त नाम ही है—अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात्। शिपिविष्टोऽस्मीति, प्रतिपन्नरश्मिः, शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवति। इससे पूर्व (नि० ५।७ में) यास्क ने औपमन्यव का मत भी उद्धृत किया है जिसके अनुसार शिपिविष्ट का केवल अश्लील अर्थ ही है (त्वचारहित पुरुष जननेन्द्रिय के समान)—शिपिविष्टो विष्णुरिति

विष्णोर्द्वे नामनी भवतः। कुत्सितार्थीयं भवतीत्यौपमन्यवः। वेङ्कट के अनुसार शिपिविष्ट और यज्ञ—ये दोनों यज्ञ के दो नाम हैं (शिपिविष्टः यज्ञः इति द्वे यज्ञनामनी इत्युक्तम्)। सा०-हे तेजस्वी विष्णो। पाश्चात्य विद्वानों और वेलंकर ने अपने अनुवाद में शिपिविष्ट शब्द को ज्यों का त्यों रख कर टिप्पणी में इस नाम का भाव दुर्बलता या मन्दत्व बताया है। उन्होंने इस नाम का सम्बन्ध उस पौराणिक गाथा से होने की कल्पना की है जो आगे चलकर विष्णु के वामनावतार की कथा के रूप में विकसिल हुई। तदनुसार विष्णु साधारण सा भद्दा रूप धारण करके राक्षसों के सामने पहुँचे, किन्तु वास्तविक युद्ध के समय उन्होंने उग्र रूप धारण कर लिया और इस प्रकार शत्रु को दूर रखा।[1] शिपि शब्द का निर्वचन दो धातुओं √शि निशाने और √पि गतौ से सम्भव है—जो किरणें पैनी और गतिशील होती हैं—शिताः पियन्ति इति।

वयुनानि[2] विद्वान्—या० (नि० ८।२०)—प्रज्ञानानि प्रजानन्, वें०—महेश्वरः त्वम् असीति वा, प्रज्ञानानि जानन्। इसके अनुसार 'विद्वान्' का सम्बन्ध सम्भवतया 'अहम्' से न होकर 'त्वम्' से है। शेष सभी विद्वान् इसका सम्बन्ध 'अहम्' से मानते हैं। किन्तु उपासक का विनम्र भाव देखते हुए इसका अन्वय 'त्वम्' या विष्णु से करना ही अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। वयुन शब्द का निर्वचन यास्क (नि० ५।१४)ने √वी से किया है और उसका अर्थ कान्ति, शोभा या प्रज्ञा, बुद्धि दिया है (वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा)। √वी के गति आदि अर्थों में से धातुपाठ में एक अर्थ 'कान्ति' भी मिलता है। किन्तु उणादि (३।६०) सूत्र 'अजियमिशीङ्भ्यश्च' के अनुसार √अज् (गतौ) से उनन् प्रत्यय लगकर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। और उस प्रक्रिया में 'अजेर्व्यघञपोः' (पा० २।४।५६) सूत्र से √अज् को वी आदेश हो जाता है। इस निर्वचन के अनुसार इस शब्द का अर्थ गति, मार्ग या गतियुक्त कर्म होना चाहिये। सामान्यतया गति और कर्म पर्यायवत् भी हैं क्योंकि गति के बिना कर्म नहीं हो सकता। सम्भवतया प्रज्ञा के मूल में भी यही गति है। गेल्ड० ने इसका अर्थ 'ज्ञातव्य' (बॅशाइद) दिया है। ग्रास के अनुसार इसका अर्थ 'कर्म' है। ग्रास० ने इसका निर्वचन √वि(बुनना) से करके इसके 'तन्तु, कलात्मक कार्य, यज्ञकर्म, प्रकाश, प्रकाशतन्तु, नियम' अर्थ दिये हैं। किन्तु धातुपाठ में बुनना अर्थ में √वे पठित है। √वि से तदर्थक सभी रूपों की सिद्धि असम्भव है। मै० ने इस अर्थ में √वा (दिवादि०) दी है। मक्स०, पिशल प्रभृति विद्वानों के

१. दे. वेल०, ऋग्वेद मण्डल VII, पृ. २१८।

२. इस शब्द पर विस्तृत लेख, दे० कंट्रिब्यूशन्स टू द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ द ऋग्वेद, (वेंकटसुब्बैया), पृ. १६२-२२३।

अनुसार 'वयुन' का अर्थ 'मार्ग' है। ग्रो० ब० ने इसका अर्थ 'सुनिश्चित नियम या क्रम' दिया है।[1] मै० (वै० री० ऋ० ४।५१।१) ने 'स्पष्टतापूर्वक-माग विशद करते हुए' अर्थ देकर यह टिप्पणी की है कि 'वयुन' का प्रयोग बहुल होने पर भी इसका अर्थ कुछ अस्पष्ट है।

तवसम्—या०, वें०—महान्तम्, सा०-प्रवृद्धम्, पाश्चात्य विद्वान्—बलिष्ठ —√तु (बलवान् होना) से असु प्रत्यय। दे० नि० ५।६—तवस इति महतो नामधेयम् उदितो (ऊर्ध्वं गतो विवृद्धो भवति), √तु (बढ़ना) से।

अतव्यान्—सा०-अतवीयान् अवृद्धतरोऽहम् (तु० मन्त्र ३ में तवीयान्)—क्षुद्र, तुच्छ, दुर्बल।

क्षयन्तम्—या०, वें०, सा०-निवसन्तम्, ग्रास०, गेल्ड०, वेल०-सिंहासनासीन, शासन करने वाला (थ्रोन्त, रूलिंग)। मै० ने √ क्षि को निवासार्थक ही माना है।

पराके—दूर, दूरदेश में, पराच् शब्द से निष्पन्न।

छन्द की दृष्टि से द्वितीय पाद में एक अक्षर की कमी पूरी करने के लिये प्रथम पाद के अन्तिम और द्वितीय पाद के आद्य 'नामार्यः' शब्दों का उच्चारण सन्धि-विच्छेद करके 'नाम अर्यः' करना चाहिये। अन्यथा इसका छन्द निचृत् त्रिष्टुप् कहा जायेगा। प्रथम पाद में 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० ६।१।११५) के अनुसार 'ते अद्य' में पूर्वरूप न होकर प्रकृतिभाव रहा है।

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥६॥

किम्। इत्। ते। विष्णो इति। परिऽचक्ष्यम्। भुत्। प्र। यत्। ववक्षे। शिपिऽविष्टः अस्मि। मा। वर्पः। अस्मत्। अप। गूहः। एतत्। यत्। अन्यऽरूपः। सम्ऽइथे। बभूथ॥

क्या यह तुम्हारा हे विष्णु (नाम) बखान के योग्य है?
प्रकर्ष से जिसे बखानते शिपिविष्ट हूँ मैं (देखो)।
नहीं रूप हमसे दूर छिपाओ यह (अन्तर्यामी)
जो अन्यरूप (भयानक) संघर्ष में हो जाते तुम॥

ईश्वर निर्गुण होता हुआ भी स्वय प्रकाशित है। जिस तत्त्व को सूर्यरूप में प्रदर्शित करके मानो ईश्वर 'रश्मिवेष्टित' नाम का व्याख्यान करना चाहता है, वस्तुतः उसके व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह पूर्णतया प्रकट है

---

१. से. बु. ई. खं. ४६, पृ. ४६८—एक स्थल पर 'मार्ग' या 'उपाय' अर्थ है और एक अन्य स्थल पर 'पदार्थ'।

और सभी जन उसके द्वारा ईश्वर के वैभव को जान लेते हैं। किन्तु ईश्वर का एक भयानक रूप है जिसे वह संघर्षों में ही प्रकट करता है और जिससे शरीर से दुर्बल दिखने वाला व्यक्ति भी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह रूप प्रायः मनुष्य देख नहीं पाता क्योंकि वह अपने हृदय में छिपा होता है और अदम्य विश्वास से ही प्रकट होता है। यहाँ प्रार्थना की गई है कि ईश्वर मनुष्य को ऐसी सद्बुद्धि और अभय प्रदान करे जिससे वह निरन्तर उसके संघर्ष में परिवर्तित भयानक रूप का अनुभव कर सके; केवल उसीसे भयभीत हो और किसी सांसारिक प्राणी से भयभीत न हो। सूर्यपक्ष में भी सूर्य का प्रकट सर्वजीव-पोषक सुखद रूप भी है और संघर्षों अर्थात् दुष्ट रोगोत्पादक जीवों के विनाशादि कर्मों में भयानक रूप भी। पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि सूर्य के दोनों रूपों का अध्ययन करके उससे मानवमात्र का कल्याण करती है।

ऊपर पाँचवें मन्त्र के अन्तर्गत शिपिविष्ट शब्द की विस्तृत व्याख्या दी गई है। वहाँ यास्क द्वारा उद्धृत औपमन्यव के अश्लील अर्थ का उल्लेख भी हुआ है। उस अर्थ की व्याख्या करते हुए वेंकट ने कहा है कि प्रच्छन्नरूप विष्णु ने युद्ध में वसिष्ठ की सहायता की। उस प्रच्छन्नरूप विष्णु को वसिष्ठ कहते हैं कि यद्यपि आपने अपने गोपन के लिये ही किरणों को छोड़ा है तथापि आप जैसे महान् व्यक्ति को उस रूप में लज्जा होती है। ऐसी स्थति में इस युद्ध में आप अपने रूप का गोपन न कीजिये। प्रशसापक्ष में युद्ध में आकर अपना रूप छिपाने के लिये अपने तेज को छिपाने की इच्छा वाले विष्णु के प्रति प्रश्न है कि आप यह क्यों कर रहे हैं अर्थात् आपको ऐसा नही करना चाहिये। (प्रच्छन्नरूपः सन् युद्धे वसिष्ठस्य विष्णुः साहाय्यमकरोत्। तं वसिष्ठः प्रच्छन्नरूपमाह—किमित्ते इति। यद्यपि त्वं परित्यक्तरश्मिः प्रच्छादनार्थमिह वर्तमानः तत्तव व्रीडामावहति महतः। तथा सति मा वर्पो अस्मदपगूहनाय तद् यत्त्वमिदमस्मिन् सङ्ग्रामेऽन्यरूपो भवसि इति। प्रशंसानामपक्षे तु—मानुषे युद्धे समागतस्य स्वरूपप्रच्छादनार्थमात्मीयं तेजोऽपगूहितुमिच्छतो विष्णोरनुशासनं किमित्त इति।।

परिचक्ष्यम्—इसका उच्चारण 'परिचक्षिअम्' करके प्रथम पाद में एक अक्षर की कमी पूरी की जा सकती है। यास्क ने सम्भवतया इसके आदि में अकार मानकर और उसकी 'विष्णो' के ओकार से अभिनिहित सन्धि मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—अप्रख्यातमेतद् भवति। अप्रख्यापनीयम्। दूसरी व्याख्या अकाररहित है—प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयम। सायण ने किम् को निन्दावाचक मानकर अर्थ किया है, "क्या यह नाम कहने योग्य है? अर्थात् कहने योग्य नहीं है।" किं परिचक्ष्यं प्रख्यापनीयं भूत् भवति। किंशब्दः क्षेपे। अप्रख्यापनीयमेव तद्भवति। प्रशंसापक्ष में भी इसी प्रकार साधारण प्रश्न

माना है—किं परिचक्ष्यं भूत् किं प्रख्यापनीय भवति। न प्रख्यापनीयम्। ग्रास०-उपेक्षणीय (यूबरजेहन), गेल्ड०-आप में ऐसा क्या निन्दनीय था? (वास वार् आन् दीअर् त्सु तादेल्न), सात०-क्या यह तुम्हारा नाम त्यागने योग्य हुआ है? इसी से प्रभावित वेल०-फिर क्या? क्या तुम्हारा नाम (शिपिविष्ट) त्याज्य हो गया है? (व्हॉट देन? हेज़ योर नेम शिपिविष्ट बिकम फ़िट टु बी डिनाऊंस्ड?)। अन्यत्र (ऋ० ६।५२।१४ में) स्क० ने परिचक्ष्याणि का अर्थ 'परिवर्जनीयानि' और वें० ने 'गर्ह्याणि' किया है। सि० कौ० में √चक्ष् का अर्थ 'बोलना' और 'देखना' दिया है (चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि। अयं दर्शनेऽपि)।

भूत्—हुआ, था, है, हो गया है, √भू लुङ् प्र० पु० एक 'बहुलं छन्दस्य-माङ्योगेऽपि' (पा० ६।४।७५) के अनुसार अट-लोप।

प्र वंवक्षे—प्रब्रूषे, कहते हो, घोषणा करते हो। √वच् लिट् म०पु० एक० (आत्मने०)। यहाँ लिट् लकार वर्तमान के अर्थ में है—छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। यद्यपि इस प्रसङ्ग में सभी व्याख्याकारों ने इस क्रियापद का उपरिलिखित अर्थ ही दिया है, किन्तु ऋ० १।६१।६ में इसीका अर्थ वें० ने 'गच्छति', सा० ने 'आवहति', स्वा० द० ने 'रोष संघातं करोति' किया है। इस अर्थ का आधार स्पष्ट ही √वक्ष् (रोषे, संघाते) है। संघात का भाव 'अभिवृद्धि' भी है। इसी के अनुकूल इस प्रसंग में गेल्ड० ने अनुवाद किया है—"प्रवृद्ध हुआ है" (इस्त हेरानुगेवाक्सन)। किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'कहना, घोषणा करना' अर्थ ही सङ्गत प्रतीत होता है। इस पद की तुलना ऋ० १।८१।५ के 'ववक्षिथ' से की जा सकती है। (दे० पृ० ४६)। इस पाद में 'यत्' होने के कारण 'यद्वृत्ता-न्नित्यम्' (पा० ८।१।६६) से यह तिङन्त पद भी सोदात्त है।

वर्पः—रूप, दै०नि० ५।८—वर्प इति रूपनाम वृणोतीति सतः। √वृञ् (वरणे, स्वादि०) से 'वृञ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च' (उणादि० ४।१९६) से असुन् प्रत्यय और पुडागम। भाव सम्भवतया यह है—'जिसके द्वारा व्यक्ति का वरण किया जाता है अर्थात् उसे पहचाना जाता है'।

अप गूहः—(मत) छिपाओ, √गुह् लुङ् म० पु० एक०-मा के योग में अट् का लोप (न माङ्योगे)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यह विधिमूलक (इंजंक्टिव) का रूप है। सायण ने अपगूहन का भाव इस प्रकार स्पष्ट किया है—वैष्णवस्य रूपस्य गूहने का प्रसक्तिरिति चेत्। यद् यस्मादन्यरूपः रूपान्तर-मेव धारयन् समिथे सङ्ग्रामे बभूथ अस्माकं सहायो भवसि तस्मादिदं गूहनं न कार्यमिति। प्रशंसापक्षे—इदानी गूढरूपोऽपि यद्यस्मात्त्वं समिथे सङ्ग्रामे ऽन्यरूपः कृत्रिमरूपं यदन्यद्वैष्णवं रूपं शौर्यादिलक्षणं तादृग्रूप एव भवसि तस्मात्त्वं गूढोऽपि ज्ञायस एवेति व्यर्थमेव तस्य रूपस्य गूहनम्। अतो बहुतेजस्कं यद्वैष्णवं रूपं

तदस्माकं प्रदर्शयेति तात्पर्यार्थः ।

बभूथ—तुम हो जाते हो, तुम हुए हो । √भू लिट् म० पु० एक० 'बभूथाततन्थजगृभ्मववर्थेति निगमे' (पा ७।२।६४) के अनुसार यहाँ थल् प्रत्यय से पूर्व इडागम न होकर यह अपवादात्मक रूप बना है । यहाँ भी पाद में 'यत्' आने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है ।

टि०—'शिपिविष्टो अस्मि' और 'वर्पो अस्मत्' में पूर्वरूप एकादेश न होकर 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० ६।१।११५) से प्रकृतिभाव रहा है ।

वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।७।।

वषट् । ते । विष्णो इति । आसः । आ । कृणोमि । तत् । मे । जुषस्व । शिपिऽविष्ट । हव्यम् । वर्धन्तु । त्वा । सुऽस्तुतयः । गिरः । मे । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ।।

वषट् तुम्हें हे विष्णु मुख से समन्ततः करता हूँ,
वह मेरी सेवन करो रश्मि से वेष्टित हे आहुति ।
अभिवृद्ध करें तुमको शुभ स्तुतियुक्त गिरायें मेरी,
तुम सब रक्षा करो कल्याण से सदा हमारी (देवो) ।।

उस सर्वव्यापक परमेश्वर के प्रति सबसे बड़ी मधुर आहुति अपने मुख से उच्चारित 'वषट्' अर्थात् समर्पण के शब्द हैं । अनन्यचेता होकर मन में निरन्तर ईश्वर का ध्यान करते हुए जो समर्पण की भावना व्यक्त की जाये, वह सबसे बड़ा हवन है । फिर आहुति के लिये भौतिक द्रव्यों की आवश्यकता नहीं । साधक प्रार्थना करता है कि मेरे स्तुतिपूर्ण वचन ईश्वर को अभिवृद्ध करें अर्थात् उसका वैभव-गान गायें—जिससे प्रतिक्षण मन में उसकी अलौकिक शक्ति का ध्यान रहे । अन्तिम पाद में बहुवचन का प्रयोग करके ऋषि ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि चाहे ईश्वर के लिये किसी नाम का प्रयोग किया जाये, आशय एक ही है । इसीलिये सप्तम मण्डल में प्रत्येक देवता के अन्त में सामूहिक रूप से सब देवताओं अर्थात् ईश्वर के सब नामों से कल्याण की प्रार्थना की गई है—दूसरे शब्दों में एक देवता के सूक्त में ही मानो अन्य सब देवता समाहित हो गये हों ।

आसः—मुख में से, आस् शब्द से पञ्चमी एक० । स्वा० द० ने ऋ० १।७६।४ में इस शब्द का यह निर्वचन दिया है :—अस्यन्ते वर्णा येन तस्मात (मुख—जिससे वर्ण फेंके जाते हैं अर्थात् जिससे वर्णों का उच्चारण किया जाता है) ।

वर्धन्तु—वाक्य के आदि में होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है। √वृध् लोट् प्र० पु० बहु० आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद के व्यत्यय के साथ साथ प्रेरणार्थक रूप के स्थान पर साधारण रूप का भी व्यत्यय है। यदि व्यत्यय न मानें तो भी यह अर्थ संगत ही है—"मेरी शोभन स्तुतियों वाली वाणियां तुम्हारे प्रति (त्वा) वृद्धि को प्राप्त हों।"

सुष्टुतयः—शोभनाः स्तुतयः यासु ताः (गिरः)। 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) के अनुसार सुष्टुति शब्द अन्तोदात्त है। यहाँ समास के उत्तरपद के आदि सकार का मूर्धन्य भाव ध्यान देने योग्य है। कतिपय समासों में यह परिवर्तन होता है। (दे० वै० व्या० भा० १, पृ० १३०)।

स्वस्तिभिः—इस पाद के छन्द में एक अक्षर की पूर्ति के लिये इसका उच्चारण 'सुअस्तिभिः' करना चाहिये। पदपाठ में 'भिः' से पूर्व ह्रस्व स्वर होने के कारण अवग्रह द्वारा उसे पृथक् किया गया है। (वा० प्रा० ५।१३——ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्तिप्रत्यये।)

सोमः

वेद के प्रमुख देवताओं में सोम की गणना होती है। ऋग्वेद में इस देवता को १२० के लगभग सूक्त अर्पित हैं जिनमें से एक सम्पूर्ण मण्डल (नवम) में केवल सोम-सम्बन्धी सूक्त ही हैं। कर्मकाण्ड में तो सोम का और भी अधिक महत्त्व है। ब्राह्मणों में अग्नि के साथ साथ सोम को जगत का प्रमुख अग बताया गया है—**अग्नीषोमात्मकं जगत्**। जगत् के आधार के रूप में विद्वान् सोम को अन्न (दे० ऋ० ७।९८।२—**चावन्नम्**) या उसका कारणभूत जल मानते हैं।[1] स्वयं ऋग्वेद में सोम का जल से सम्बन्ध वर्णित है। वह जल का नायक है और वृष्टि पर शासन करता है। **ईशे यो वृष्टेः......अपां नेता** (ऋ० ९।७४।३)। यह भी कहा गया है कि सोम जल को उत्पन्न करता है और आकाश तथा पृथ्वी से वर्षा करता है—**कृण्वन्नपो वर्षयन् द्यामुतेताम्** (ऋ० ९।९६।३)। सम्भवतया पात्र में गिरते हुए सोम की गजना से भी वृष्टि-जल से युक्त मेघ की गर्जना अभिप्रेत है—**दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत्...सोमः पुनानः कलशेषु सीदति** (ऋ० ९।८६।९)। इसी प्रकार इसे वन में गर्जने वाला वृषभ बताया गया है—**वृषाव चक्रदद्वने** (ऋ० ९।७।३)। ऋ० ४।२७ की व्याख्या करते हुए ब्लूमफ़ील्ड ने भी इसे मेघ से जल की वर्षा का ही रूपक माना है।[2]

क्षिप्रता और प्रकाश का गुण अन्य देवों के साथ साथ सोम में भी है जिससे इसमें भी वही उदात्तता आ गई है। वस्तुतः इसी कारण वैदिक देवताओं की सर्वोच्च विशेषताओं में स्पष्ट भेद करना असम्भव हो जाता है। क्षिप्रता के आधार पर सोम को अश्व कहा गया है—**हरिं नदीषु वाजिनम्** (ऋ० ९।६३।१७)। यहाँ स्पष्ट ही सोम नदियों में बहने वाला अश्व है जिससे केवल जल अभिप्रेत हो सकता है। इसे घोर अन्धकार का नाश करने वाली एक महान् उज्ज्वल ज्योति बताया गया है—**बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्। कृष्णा तमांसि जङ्घनत्** (ऋ० ९।६६।२४)॥ अनेक स्थलों पर इसकी **विश्वस्य राजा**

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल, वेदविद्या, पृ. २८५-६।

२. जर्नल अमरिकन ओरिएंटल सोसाइटी, १६, १—२४।

(ऋ. ९।७६।४ इत्यादि), **विश्वजित्** (ऋ. ८।७९।१), **धर्ता दिवः** (ऋ. ९।७६।१ इत्यादि), **बिभर्ति भुवनानि** (ऋ. ९।८३।३ इत्यादि) जैसी उपाधियाँ दी गई हैं जिससे इसका अत्युत्कृष्ट रूप सम्मुख आता है। इसी प्रकार इसे अमर उद्दीपक—**ज्येष्ठ्यममर्त्यं मदम्** (ऋ. १।८४।४) कहा गया है। यह स्वयं अमर है, इसीलिए अमरत्व प्रदान करने वाला है क्योंकि देवताओं ने भी अमरत्व के लिये इसका पान किया था—**त्वां देवासो अमृताय कं पपुः** (ऋ. ९।१०६।८)। वा. सं. १९।७२ में उल्लेख है कि राजा सोम को जब दबाया जाता है तो वह अमृत हो जाता है—**सोमो राजामृतं सुत ऋजीषेणाजहान्मृत्युम्।** यह मानो मनुष्य की प्राणशक्ति है। मनुष्य के प्रत्येक अंग में इसका वास है—**गात्रे गात्रे निषसत्था नृचक्षाः** (८।४८।९)। इसकी भैषज्यमयी सञ्जीवनी शक्ति का बहुधा वर्णन हुआ है। यह अन्धों को दृष्टि और लंगड़ों को चलने की शक्ति प्रदान करता है—**भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्। प्रेमन्धः ख्यत् निःश्रोणो भूत्** (ऋ. ८।७९।२)। यह वाक्शक्ति को स्फूर्तिमय बनाता है—**अयं मे पीत उदियर्ति वाचम्** (ऋ. ६।४७।३)। इसी कारण इसे **'पति वाचः'** (ऋ. ९।२६।४) कहा गया है। इसकी शक्ति अतुलित है। यह सूर्य से भी बड़ा है क्योंकि यह उसे प्रकाशित करता है—**एष सूर्यमरोचयत्** (ऋ. ९।२८।५)। यह दोनों लोकों को उत्पन्न करता है—**जनिता रोदस्योः** (ऋ. ९।९०।१)। यह दुष्टों का वध करने वाला (**अघशंसहा**—ऋ. ९।२८।६) और महान् अविजेय योद्धा है—**अषाळ्हं युत्सु पृतनासु पप्रिम्** (ऋ. १।९१।१२)। इन्द्र जैसे प्रमुख शक्तिशाली देवता को भी इसकी सहायता की अपेक्षा होती है। यही वृत्र के साथ युद्ध के समय इन्द्र को शक्तिशाली बनाता है—**य इन्द्र वृत्रहन्तमः। य ओजोदातमो मदः** (ऋ. ८।९२।१७)। यहाँ तक कि सोम को इन्द्र की आत्मा कहा गया है—**आत्मेन्द्रस्य भवसि** (ऋ. ९।८५।३)। सोम और इन्द्र का रथ एक ही है—**इन्द्रेण सोम सरथं पुनानः** (ऋ. ९।८७।९)। सोम के इस उत्कृष्ट स्थान के कारण ही सम्भवतया श्री अरविन्द इसे अमरत्व की परमानन्दरूपी मदिरा का स्वामी मानते हैं। यह दिव्य आनन्द उनके मतानुसार मानसातीत चैतन्य से मन में ऋत के माध्यम से प्रवाहित होता है। मनुष्य का भौतिक शरीर सोम-मदिरा का कलश है और जिन पवित्रों से इसे संशोधित किया जाता है, वे स्वर्ग-स्थान में वितत हैं। यह √सु (उत्पन्न करना, दबाकर निकालना पवित्र करना) से व्युत्पन्न है।[1] इसी व्युत्पत्ति के आधार पर स्वामी दयानन्द एकवचन में इसका अर्थ **'उत्पन्नं जगत्'** और बहुवचन में 'उत्पन्नाः सर्वे पदार्थाः, व्यवहाराः वा' करते हैं। एक स्थान पर (**ऋ. १।२२।१**

---

१. श्री ओरोबिन्दोज वेदिक ग्लॉस्सरी, पृ० १००-१।

में) सोमस्य की व्याख्या **'स्तोतव्यस्य सुखस्य'** की है। ऋ. १।३२।३ में सोमम् **'सूयते उत्पद्यते यस्तं रसम्'** रूप में व्याख्यात है। अनेक स्थलों पर इन्होंने सोम का अर्थ 'ओषधिरस' या 'महौषधिरस' किया है। इनकी व्याख्या के अनुसार 'सोमपाः' का अर्थ 'यः **सोमान् पदार्थान्** किरणैः पाति' (ऋ. १।८।७) है।

सोम की उपर्युक्त सब विशेषतायें होते हुए भी अनेक मन्त्रों में पौधे अथवा तज्जन्य पेय के रूप में इसकी प्रतीति से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसके लिए बहुत बार 'इन्दु' नाम लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। इन्दु का अर्थ 'बिन्दु' प्रतीत होता है क्योंकि इसका निर्वचन √उन्द् (क्लेदने) से किया गया है।[1] इसी अर्थ में सोम के लिए अपेक्षाकृत कम बार द्रप्स शब्द प्रयुक्त हुआ है। बहुधा इसका रस निकालने का उल्लेख √सु (दबाना—ऋ. ९।६२।४—**असाव्यंशुर्मदाय**) से और कभी कभी √दुह् (दोहना—ऋ. ३।३६।३—**यदीं सोमः पृणक्ति दुग्धो अंशुः**) से हुआ है। पात्र में एकत्र सोम-रस को सागर बताया गया है—**इन्दुं प्रोथन्तं प्रवपन्तमर्णवम्** (ऋ. १०।११५।३)। पौधे का, और तदनुसार देवसोम का भी वर्ण भूरा (बभ्रु), लाल (अरुण) और सबसे अधिक बार हरा (हरि) बताया गया है। किन्तु भारतीय भाष्यकारों द्वारा इनकी व्याख्या क्रमशः 'भरण-पोषण करने वाला', 'दीप्तिमान्' और '(सुख का, रसों का) आहरण करने वाला' की गई है। इसके अतिरिक्त हाथों की दस अंगुलियों द्वारा सोम के परिष्कृत होने का वर्णन है—**मृजन्ति त्वा दश क्षिपः** (ऋ. ९।८।४)।

सोम का रस निकालने की विधि के संकेत भी ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। सोम के प्रायः अंशु (तने) को सामान्तया पत्थरों से दबाये जाने का वर्णन है—**आ सोम सुवानो अद्रिभिः** (ऋ. ९।१०७।१०)। यह ध्यान देने की बात है कि सवन के लिए सामान्यतया प्रयुक्त अद्रि और ग्रावन् शब्दों का लाक्षणिक अर्थ वेद में 'मेघ' भी है। इस प्रकार पत्थरों को दबाकर निकाले गये सोम-बिन्दुओं को किसी पात्र में गिराया जाता था—**परीतो वायवे सुतम्...अव्यो वारेषु सिञ्चत** (ऋ. ९।६३।१०)। उस समय इसे भेड़ की ऊन के बने छनने में से निकाला जाता था—**सुताः पवित्रमति यन्त्यव्यम्** (ऋ. ९।६९।९)। इस छनने के लिये प्रायः 'पवित्र, त्वक्, वार' आदि नामों का प्रयोग हुआ है। छनने से होकर निकलते हुए सोम को पवमान (स्वच्छ होकर बहने वाला) कहा गया है, सोम को द्रोण-नामक पात्रों में एकत्र किया जाता था। इसीलिए वर्णन है कि द्रोणों में बैठने के लिए यह देव एक पक्षी की भाँति उड़ता है—**एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयति। अभि द्रोणान्यासदम्** (ऋ. ९।३।१)

१. दे. ऋ. १।२।४ पर सायण।

सोम का पान अन्य पदार्थों से मिलाकर भी किया जाता था। इसीलिये सोम को त्र्याशिर् (ऋ. ५।२७।५) कहा गया है, जिसका अर्थ है 'तीन प्रकार के मिश्रण वाला'—(१) दुग्ध-मिश्रित (गवाशिर्), (२) दधिमिश्रित (दध्याशिर्) (३) यवमिश्रित (यवाशिर्)। सम्पूर्ण ऋग्वेद में केवल एक स्थल (१०।३४।१) पर सोम को मौजवत अर्थात् 'मूजवत पर्वत पर उत्पन्न' कहा गया है। मूजवत् पर्वत का उल्लेख वाजसनेयि संहिता (३।६१) में भी हुआ है जहाँ रुद्र को उससे परे जाने को कहा गया है—परो मूजवतोऽतीहि। सामान्यतया सोम को पर्वतों पर उगने वाला (पर्वतावृध्—ऋ. ९।४६।१) बताया गया है। अथर्व. ३।२१।१० में पर्वतों को सोमपृष्ठ कहा गया है। इस वर्णन की तुलना अवेस्ता (यस्न १०) से की जा सकती है। क्योंकि वहाँ भी 'हओम' को पर्वतों पर उगने वाला बताया गया है। किन्तु यहाँ फिर अवधेय है कि पर्वत का अर्थ वेद में 'मेघ' है। यह भी उल्लेख है कि सोम स्वर्ग में परिष्कृत हुआ—ततं दिवस्पदे (ऋ. ९।८३।२)। इसे उत्क्रोश पक्षी स्वर्ग से लाया—श्येनो यदन्धो अभरत् परावतः (ऋ. ९।६८।६)। इसे पौधों का अधिपति (ऋ. ९।११४।२) और इसीलिये वनस्पति (ऋ.१।९१।६) भी कहा गया है।

सम्भवतया सोम के चन्द्रमा के साथ साथ घटने बढ़ने के कारण[1] परवर्ती साहित्य में सोम चन्द्रमा का ही पर्याय हो गया। उदाहरणार्थ छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।४) में स्पष्ट ही चन्द्रमा को सोम बताया गया है और उसे देवताओं का अन्न कहा गया है। स्वयं संहिताओं में सोम और चन्द्रमा के एक होने का संकेत है।[2] हिलेब्रांट महोदय के मतानुसार तो वैदिक सोम केवल चन्द्रमा है।[3] इस विषय में ऋग्वेद (१०।८५।३) की स्पष्टोक्ति ध्यान देने योग्य है जिस के अनुसार लोग सोम को अनुचित ढंग से पीने वाली औषधि मानते हैं; जिस सोम को विद्वान जानते हैं, उसे तो कोई नही खाता—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥

यास्क (नि. ११।२-६) ने भी अभिषवणार्थ √सु से निष्पन्न मानते हुए भी सोम का एक अर्थ चन्द्रमा भी दिया है और उसके समर्थन में उपर्युक्त मन्त्र उद्धृत किया है। इसी प्रसंग में एक अन्य मन्त्र (ऋ. १०।८५।५) भी उद्धृत किया गया है—

---

१. तु. चरकसहिता-सोमो नामौषधिराजः पञ्चदशपर्वा, स सोम इव हीयते वर्धते च। चिकित्सास्थान—१।४।६।

२. तु. ऋ. ६।४४।२१; अथर्व०—७।८१।२-४।

३. वेदिशे माइथोलोजी, पृ० ३०९।

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥

यास्क ने इसकी व्याख्या में निम्नलिखित स्पष्टीकरण दिया है—वायुमस्य रक्षितारमाह, साहचर्याद्रसहरणाद्वा। समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमो रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा ॥

ऋ० ९।८३

ऋषिः—पवित्र आङ्गिरसः, देवता-पवमानः सोमः, छन्दः—जगती।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥१॥

पवित्रम्। ते। विऽततम्। ब्रह्मणः। पते। प्रऽभुः। गात्राणि। परि। एषि। विश्वतः।
अतप्तऽतनूः। न। तत्। आमः। अश्नुते। शृतासः। इत्। वहन्तः। तत्। सम्। आ शत ॥

शोधक (तत्त्व) तुम्हारा फैला है हे बड़े (ब्रह्म) के स्वामी।
प्रभु (तुम) गात्रों को परिव्याप्त करते हो सभी ओर से (सब के)।
अनतपा शरीर नहीं उस (तत्त्व) को अपक्व प्राप्त करना है,
पके हुए ही वहन कर रहे उसे पचा जाते (निज बल से) ॥

यह समस्त सूक्त सोम को सम्बोधित होने पर भी इसके किसी भी मन्त्र में सोम शब्द नहीं आया है। जिस प्रकार अग्नि को पावक (शोधक) कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ सोम के पवित्र (शोधक) तत्त्व का उल्लेख हुआ है। शरीर के अन्दर जो जल है वही सोम है। या फिर जीवन के विविध संघर्षों के फलस्वरूप जो आनन्द की अनुभूति होती है, वही सोम है। प्रत्येक प्राणी के कण कण में ये दोनों तत्त्व परिव्याप्त हैं। किन्तु इनके पूर्ण लाभ के लिये—एक ओर जल को सन्तुलित रखने के लिये, और दूसरी ओर आनन्द के पूर्ण प्रकटीभाव के लिए शरीर में संघर्षजन्य अग्नि की अत्यन्त आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में जब तक प्राणी संघर्ष और परिश्रम की ज्वाला में तप कर पक नहीं जाता तब तक वह अपने भीतर ही भीतर आनन्द की अनुभूति नहीं कर सकता। शरीर अनपका होने पर ही बाह्य आनन्द की अपेक्षा रहती है, किन्तु वह आनन्द क्षणिक होता है। जिन महापुरुषों और कर्मठ व्यक्तियों ने कर्म की अग्नि में अपना तन-मन तपाया है, वे स्वस्थ भी रहते हे और आन्तरिक आनन्द भी अनुभव करते है। इस आनन्द के पश्चात् सभी बाह्य सुख निरर्थक हो जाते हैं।

पवित्रम्—या. (नि. ५।६) ने पवित्र की व्युत्पत्ति √पू (पवित्र करना) से मानकर उसके 'मन्त्र, किरणें, आप:, अग्नि, वायु, सोम, सूर्य, इन्द्र' अर्थ दिये हैं। सा.-शोधकमङ्गम्, ग्रास., गेल्ड.—सोम छानने का साधन (ज़ाइहॅ), मै. पवित्र करने का साधन (मीन्ज़ आफ़ प्यूरिफ़िकेशन), अर.-पवित्र अथवा पवित्र करने का उपकरण ज्ञान के प्रकाश से उद्दीपित मन (चेत:) प्रतीत होता है।

ते—सभी विद्वान इसे षष्ठी का रूप मानते हैं, किन्तु अर. ने इसे चतुर्थी का रूप माना है—'आपके लिये'।

विततम्—क्तप्रत्ययान्त 'तत' से समास होने के कारण बिना अन्तर के, एकदम पहले वाली गति 'वि' उदात्त है (दे. पा. ६।२।४९—गतिरनन्तर:)।

ब्रह्मणस्पते—प्राय: षष्ठी विभक्ति के द्वारा जिस शब्द का किसी सम्बोधन शब्द से सम्बन्ध होता है, वह स्वर के प्रसङ्ग में उस सम्बोधन पद का ही अङ्ग बन जाता है, अर्थात् उसका स्वतन्त्र स्वर समाप्त होकर केवल सम्बोधन पद का ही स्वर रहता है—मानो वह सारा एक ही पद हो (सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे-पा. २।१।२)। यहाँ भी पदपाठ में दो पृथक् शब्द दिखाये जाने पर भी 'पते' के सम्बोधन होने के कारण सर्वानुदात्त होने से 'ब्रह्मण:' भी सर्वानुदात्त है। यहाँ सन्धि-विषयक वैशिष्ट्य भी ध्यान देने योग्य है। पति शब्द आगे होने पर वेद में षष्ठीविभक्तिजनित विसर्ग का सकार हो जाता है (षष्ठ्या: पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु-पा. ८।३।५३)। इस दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इसे नाम के रूप में, अनुवाद किये बिना, ज्यों का त्यों रख देना आश्चर्यकर प्रतीत होता है। वें.—ब्राह्मणानां स्वामिन्, सा.—मन्त्रस्य स्वामिन् सोम। या. (नि. १०।१३)-ब्रह्मण: पाता वा पालयिता वा। और नि. में ब्रह्म की निरुक्ति 'परिवृढं सर्वत:' दी गई है। ग्रास.-स्तुतियों का स्वामी। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस शब्द के प्रयोग से यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्मणस्पति को सर्वत्र बृहस्पति का पर्याय नहीं माना जा सकता। यह शब्द अन्य देवताओं के विशेषण-रूप में भी प्रयुक्त हुआ है—जिस प्रकार यहाँ सोम के लिये। अर. के अनुसार इसका अर्थ 'आत्मा का स्वामी' (मास्टर ऑफ द सोल) है। उनके मतानुसार सामान्यतया ब्रह्म का अर्थ आत्मचैतन्य या प्रज्ञा है।

गात्राणि—वें., सा.—पातॄणामङ्गानि। इन्होंने स्पष्ट ही सोम को पेय पदार्थ माना है।

अतप्ततनू:—तप्ता तनूर्यस्य स: तप्ततनू: न तप्ततनू: (नञ्तत्पुरुष समास)। तदनुसार 'अव्यये नञ्कुनिपातानाम्' (पा. ६।२।२) से आद्युदात्त। वें. विविधैस्तपोविशेषैरतप्ततनू:। सा.—पयोव्रतादिना असन्तप्तगात्र:। ग्रास., गेल्ड.—जिसका शरीर संदीप्त नहीं है (देस्सन कोर्प्पर निश्त दुर्शग्ल्यूत इस्त), अर.-

जिसका शरीर तप्त नहीं है—आनन्द की तीव्र मदिरा का पान करने वाले व्यक्ति का शरीर सोम की गुप्त और जलती हुई उष्णता के लिये कष्ट और जीवन को पीड़ा देने वाली सभी उष्णताओं पर विजय प्राप्त करके तैयार होना चाहिये । अन्यथा कच्चे, अनसिके मिट्टी के पात्र के समान वह उसे सहन न कर नष्ट हो जायेगा ।

वहन्तः—वें, सा.-यज्ञं वहन्तः (निर्वहन्तः), अर.-इस (पवित्र) को वहन करते हैं ।

तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा ॥२॥

तपोः । पवित्रम् । विऽततम् । दिवः । पदे । शोचन्तः । अस्य । तन्तवः । वि । अस्थिरन् । अवन्ति । अस्य । पवितारम् । आशवः । दिवः । पृष्ठम् । अधि । तिष्ठन्ति । चेतसा ॥

महाताप का शोधक (तन्त्र) फैला है नभ के तल पर,
देदीप्यमान इसके तन्तु (कण कण में) बिखरे हैं ।
रक्षा करते इसके, (तनु-) शोधक की, द्रुतगति (घोड़े),
नभ-पृष्ठ-भाग पर आश्रित होते ज्ञान से (निखरे हैं) ॥

सोम शान्ति और सन्ताप-हरण का प्रतीक है । सघष-जन्य आनन्द समस्त संघर्षरूप ताप का शोधन अर्थात् शमन करता है । नभ का तल इस प्रसङ्ग में मस्तिष्क होगा । इस अवस्था में वह आनन्द सारे शरीर में व्याप्त होता है—सर्वत्र ऐसे प्रस्फुटित होता है मानो कोई देदीप्यमान तत्त्व हो । वह एक प्रकार से शरीर का शोधन ही होता है । सर्वव्यापी आनन्द की तरङ्गों को यहाँ उसके घोड़े कहा गया है—ये आनन्द की तरङ्गें ही आनन्द को चिरस्थायी बनाकर उसकी रक्षा करती हैं । ये तरङ्गें ज्ञान के आधारभूत नभपृष्ठ अर्थात् मस्तिष्क में (दे. श ब्रा ६।१।२।३-अथ यत् कपालमासीत् सा द्यौरभवत्) अवस्थित हैं । इस मन्त्र में सोम को सुविधापूर्वक चन्द्रमा भी मान सकते हैं । सन्तापहारक चन्द्रमा की शीतल तन्तुरूप किरणें सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं । इन्हीं अन्धकार-विनाशक किरणों को सोम (चन्द्रमा) के घोड़े भी कहा गया है । ऊपर नभ-पृष्ठ पर मानो वे घोड़े अपने चैतन्य से अवस्थित हैं ।

तपोः—'कस्कादिषु च' (पा० ८।३।४८) के अनुसार 'पवित्रम्' परे रहने पर तपोः के विसर्जनीय का षत्व हुआ है ।[1] तपु शब्द का निर्वचन √तप्

१. कस्कादि आकृतिगण है । दे. काशिका—अभिहितलक्षण उपचारः कस्कादिषु द्रष्टव्यः । तु. द्योष्पिता (ऋ. ४।१।१०) ।

(तपाना) से किया गया है (नि० ६।११—तपुस्तपतेः, उणादि० १।७—उ प्रत्यय)। ऋ० ७।१०४।२ में तपुः का अर्थ वेलंकर ने 'ताप' किया है। उक्त प्रसंग में सायणप्रभृति विद्वानों के अनुसार इसका अर्थ 'सन्तप्त होने वाला (राक्षस)' है। आधुनिक विद्वानों ने इसका 'ताप' अर्थ देते हुए इसे सकारान्त नपुं० माना है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में सभी विद्वान् इसका अर्थ '(शत्रुओं को) तपाने वाला' करते हैं और इसे उकारान्त मानते हैं। (दे० सा०—शत्रूणां तापकस्य सोमस्य)। गेल्ड० के अनुसार इसका अर्थ 'अत्यधिक सन्तप्त (सूर्य) का' है। अर०—जाज्वल्यमान आनन्दरूप मदिरा का।[1]

दि॒वः प॒दे—वें०-अन्तरिक्षस्योच्छ्रिते स्थाने, सा०-द्युलोकस्योच्छ्रिते स्थाने—'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्' (तै० ब्रा० ३।२।१।१—यहाँ से तीसरे आकाश में सोम था)। ग्रास०, गेल्ड०-आकाश के स्थान में। अर०-स्वर्ग के आसन पर (—इन द सीट ऑफ़ हैवन)—द्यौ या स्वर्ग स्नायुओं तथा शरीर की प्रतिक्रियाओं से अप्रभावित शुद्ध मनःस्थिति है। स्वर्ग के इसी स्थान में विचार और भावनाएँ सत्य-दर्शन की शुद्ध किरणें बन जाती हैं।[2]

तन्त॑वः—वें-तन्तवः, सा०—अंशवः, ग्रास०, गेल्ड०-सूत्र के तन्तु (फ़ेदन)। वस्तुतः इस शब्द के मूल में √तन् (विस्तारे) है। तदनुसार तन्तु कोई भी फैलने वाला या फैलाने वाला तत्त्व हो सकता है। अर०—इस शोधक तत्त्व के सूत्र या तन्तु पूर्णतया शुद्ध प्रकाश के हैं और किरणों के समान स्थित हैं। इन्हीं सूत्रों के माध्यम से आनन्द की मदिरा प्रवाहित होती हुई आती है।[3]

अ॒स्य॒—'पवित्रम्' का अन्वादेश होने के कारण 'इदमोऽन्वादेशेऽनुदात्तस्तृतीयादौ' (पा० २।४।३२) सूत्र के अनुसार यहाँ अस्य का 'अ' (इदम् का आदेश) अनुदात्त है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा० ३।१।४) से विभक्ति भी अनुदात्त है।[3]

वि अ॒स्थि॒र॒न्—√स्था-आत्मने० विकरणलुक्-लुङ् प्र० पु० बहु०-'झ' के स्थान पर 'रन्'। (दे० वै० व्या० भा० २, पृ० ५६८) और पृ० ७१४ पर टि० २४०)। 'तिङ्ङतिङः' से सर्वानुदात्त।

प॒वि॒तार॑म्—पवितृ शब्द का एक रूप और (पवितारः) ऋ० (९।४।४) में केवल एक स्थान पर और आया है। दोनों स्थानों पर संहिताठ में छन्द के अनुसार 'वि' में दीर्घ ईकार है। वें०-यज्ञे यः सोमं पुनाति तम्, सा०-पावयितारम्, ग्रास०-जिससे सोम छाना जाता है, वह साधन।

---

१. ऑन दि वेद, पृ. ३७०—स्ट्रांग एंड फ़ायरी वाइन।
२. दे. वहीं पृ. ३७०।
३. वै. स्व. स., पृ. १५९-६०।

आशवः—वें०-रश्मयः, सा०-सोमस्य शीघ्रगामिनो रसाः, ग्रास०-घोड़े, गेल्ड०—शीघ्रगामी घोड़े (राशॅन्), ग्रर०—तीव्र ग्रानन्दातिरेक (स्विफ़्ट एक्स्टेसीज़)—बलिष्ठ ग्रानन्दरस। मक्स०, ग्रो० ब० प्रभृति विद्वानों ने भी ग्रनेक स्थलों पर इसका 'शीघ्रगामी घोड़े' ग्रर्थ किया है। ग्रश् से निष्पन्न (दे० ग्रास० वो० बु०, पृ० १८७) इस शब्द का मूल ग्रर्थ 'क्षिप्र या शीघ्र' ही है (दे० नि० ६।१—ग्राशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः)। इससे तु० यू० ग्रोक्सुस्।

चेतसा—वें.-मनुष्यान् प्रज्ञापयन्तः, सा०-बुद्धया देवगमनेच्छावत्या, ग्रास० —तेजसहित (ग्लान्त्स), गेल्ड०—बुद्धि-चैतन्य-सहित (इम गाइस्तॅ), चेतस् का केवल यही एक रूप ऋ० में केवल छः बार ग्राया है। यह शब्द √चित् (संज्ञाने) से ग्रसुन् प्रत्यय (उणादि० ४।१६१ सर्वधातुभ्योऽसुन्) लग कर निष्पन्न हुग्रा है।

विशेष—छन्दः पूर्ति की दृष्टि से द्वितीय पाद में 'व्यस्थिरन्' का 'वि ग्रस्थिरन्' ग्रौर तृतीय पाद में 'ग्रवन्त्यस्य' का 'ग्रवन्ति ग्रस्य' उच्चारण किया जाना चाहिये।

अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः।

मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः ॥३॥

ग्ररूरुचत्। उषसः। पृश्निः। ग्रग्रियः। उक्षा। बिभर्ति। भुवनानि। वाजऽयुः। मायाऽविनः। ममिरे। ग्रस्य। मायया। नृऽचक्षसः। पितरः। गर्भम्। ग्रा। दधुः॥

दीपित किया उषाग्रों को विविधवर्ण (इस) ग्रग्रिम ने
सेचक धारण करता है लोकों को गति का इच्छुक।
निर्मापकों ने निर्माण किया इसकी (ही) माया से
नर-द्रष्टा पितरों ने गर्भरूप धारण (इसे) किया॥

सोम (चन्द्रमा ग्रथवा सोमलता) का सूर्य के साथ ग्रात्यन्तिक सम्बन्ध है। ग्राध्यात्मिक दृष्टि से भी ग्रानन्द का प्रज्ञा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्भवतया इसी कारण सोम-सूक्त में सूर्य की स्तुति की गई है। वह ग्रग्रिम ग्रर्थात् सब का नेता या प्रधान है। वह उषाग्रों को प्रकाशित करता है, चन्द्रमा को तो करता ही है। यहाँ पितर सूर्य की किरणें हैं। उनमें महती निर्माण-शक्ति है, तथा वे सब को देखती हैं ग्रर्थात् सबका ध्यान रखती हैं। वे ही सूर्यतत्त्व को गर्भरूप में धारण करके विविध ग्रोषधियों ग्रादि का निर्माण करती रहती हैं। ग्रथवा प्रज्ञा के स्फुरण ही विवेकरूपी उषा को प्रकाशित करके, ग्रानन्द को प्रेरित करके मनुष्य को विभिन्न निर्माण-कार्यों के लिये प्रोत्साहित करते रहते हैं। ये प्रज्ञा के स्फुरण ही मनुष्य की समस्त गतिविधियों

पर दृष्टि रखते हैं। सोम को यदि जल माना जाये तो भी शरीर में विद्यमान तापरूपी सूर्य की किरणें उसे सन्तुलित रखने में सहायक होती हैं।

अरू'रुचत्—वाक्य के आरम्भ में होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है। यह √रुच् से णिजन्त लुङ्लकार प्र० पु० एक० का रूप है, अतः 'लुङ्लङ्-लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (पा० ६।४।७१) से इसका अट् उदात्त है। 'दीपित किया' अर्थात् पहले भी दीपित करता रहा है और अब भी कर रहा है क्योंकि अगले ही वाक्य में लट् (बिभर्ति) का प्रयोग है। अथवा 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) के अनुसार यहाँ वर्तमानकालिक अर्थ भी हो सकता है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यहाँ आसन्नभूत काल होगा—'प्रकाशित किया हुआ है'।

पृश्निः—वें०-आदित्यरूपः पृश्निवर्णः, सा०-उषसः सम्बन्धी आदित्यः—सोऽयं सोमः— स्पष्ट ही यहाँ सायण ने 'उषसः' को षष्ठ्यन्त माना है। इसीलिये उसे अरूरुचत् का अर्थ करते हुए 'सर्वम्' का अध्याहार करना पड़ा (रोचयति सर्वम्), या फिर ण्यन्त न मानकर 'रोचते' व्याख्या करनी पड़ी। सोम के साथ सम्बन्ध बिठाने के लिये उसने कहा है कि ओषधियों में सूर्यरूप आत्मा वाले सोम की स्तुति की गई है क्योंकि चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य पर निर्भर है।[1] ग्रास०-चितकबरा (उक्षा-अग्नि या सोम का विशेषण—गेश्प्रेंकेल्त उक्षा-अग्निस् ओदर सोमस्), गेल्ड०-चितकबरा (देअर बून्ते)। अर०-सर्वोच्च चितकबरा (साँड)—सोम ही वह प्रथम वृषभ है, आनन्द ही विविध वर्ण अर्थात् विविध प्रकार के अस्तित्वों का जनक है।[2] श० ब्रा० (९।२।३।१४) में भी आदित्य को पृश्नि कहा गया है और बताया गया है कि सूर्यमण्डल विविध रश्मियों के कारण पृश्नि है (असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निः...पृश्निर्भवति रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्नि)। आध्यात्मिक दृष्टि से क्या अश्मा को मस्तिष्क नहीं माना जा सकता—वही इस शरीर का सूर्य है। और श० ब्रा० ६।१।२।३ के अनुसार कपाल में लिप्त रस की ही संज्ञा 'रश्मियाँ' है (अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ते रश्मयोऽभवन्)।[3] **पृश्नि** पर और अधिक विवेचन पीछे ५।५७।२ (मरुतः) में **पृश्निमातरः** पर टिप्पणी के अन्तर्गत किया गया है।

उक्षा—वें.-सेक्ता, सा.-जलस्य सेक्ता, ग्रास., गेल्ड.-वृषभ—लाक्षणिक रूप में सोम, अर.-पुमान् (मेल)—वही चैतन्य शक्ति, प्रकृति या गौ को प्रजनन योग्य बनाता है (इट इज़ ही हू फ़र्टिलाइज़ेज़ फ़ोर्स ऑफ़ कॉन्शस्नैस, नेचर, दि

---

१. ओषधीषु वात्र सूर्यात्मा सोमः स्तूयते सूर्यरश्म्यनुगमाधीनवर्धनाच्चन्द्रस्य।

२. दे. ऑन द वेद, पृ. ३७१—फ़र्स्ट सुप्रीम डैपल्ड बुल—सोम—आनन्द, डिलाइट इज़ द पेअरेंट ऑफ़ द वेराइटी ऑफ़ एग्ज़िस्टेंसेज़।

३. दे० वे० वि० नि०, पृ. १८८-९०।

काउ)। सूर्य से जल की सृष्टि होती है—वर्षा के रूप में। दे. मनु.—अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ आध्यात्मिकतया आनन्दरूप मस्तिष्क ही शरीर में जीवन-रस सिक्त करता है।

वाजयुः—वें.-उदकेन वृष्टेन प्रजानामन्नमिच्छन्, सा.-तेषां (भूतानाम्) अन्नमिच्छन्। ग्रास -अन्नसमृद्ध (नाह्रुंग्स्राइश—वाज के नामधातु वाजय् से उ प्रत्यय लगकर निष्पन्न), गेल्ड.-विजयपुरस्कार का अभीप्सु (ज़ीगर-प्राइज़ फ़ेग्ररलांगॅन्द), अर.-सत्ता, शक्ति और चैतन्य की पूर्णता का इच्छुक। यद्यपि वाज का अर्थ गेल्डनर वाला भी होता है (तु. हिन्दी-बाजी), तथापि प्रस्तुत प्रसङ्ग में वह उचित नहीं प्रतीत होता। वाजी अश्व का नाम है, अतः वाज गति भी हो सकती है। सूर्य या सोम गति का इच्छुक है क्योंकि गति ही जीवन है—वह सबको जीवन प्रदान करने वाला है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह कुप्रत्ययान्त निपात है (दे. उणादि. १।३७—मृगय्वादयश्च। आकृतिगणोऽयम्)। किन्तु पदपाठ में 'यु' को पृथक् किया गया है। और इस आधार पर आधुनिक विद्वानों द्वारा इच्छार्थक नामधातु 'य' (क्यच्) प्रत्यय से उ प्रत्यय लगाकर निष्पत्ति मानना अधिक सङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि अवग्रह के नियम के अनुसार "यदि नामधातु के साथ इच्छा के अर्थ में जुड़ने वाले यकारादि प्रत्यय (क्यच्) से पूर्व स्वर हो, तो उसे पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखलाया जाता है" (वै. व्या. भा. १, पृ. १९९)।

मायाविनः-वें.-प्रज्ञावन्तः, सा.-प्रज्ञावन्तो देवाः, ग्रास. दिव्य प्रज्ञा या अद्भुत शक्ति से समृद्ध (राइश आन गोयित्लशॅर वाइज़हाइत ओदर वुंदर्क्राफ़्त), गेल्ड.-जादू में निपुण (त्सौबरकुंदिगॅन)। मायाविन् के केवल दो रूपान्तर ऋ. में प्रयुक्त हुए हैं। 'एक मायाविनम्' (ऋ. २।११।९) का प्रयोग बुरे अर्थ में या वृत्र के अर्थ में हुआ है।[1] दूसरा 'मायाविना' (ऋ. १०।२४।४) अश्विनौ के विशेषण के रूप में स्वाभाविकतया अच्छे अर्थ (प्रज्ञावन्तौ) में प्रयुक्त हुआ है।[2] परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में (जहाँ 'ममिरे' द्वारा निर्माणक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है) अर. का अर्थ 'निर्माणज्ञान से युक्त' (हू हैड दि फ़ॉर्मिंग नॉलिज) अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। ऐसा ही अर्थ प्रियरत्न ने किया है—'निर्माण-

---

१. दे. वें., सा.—वृत्रम्, स्वा. द.—दुष्टप्रज्ञम्, ग्रास., गेल्ड.—कुटिल, जादू के कृत्यों में निपुण।

२. दे. वें.—प्रज्ञावन्तौ, ग्रास.—दिव्यप्रज्ञा या अद्भुत शक्ति से समृद्ध, सा. ने प्रज्ञावन्तौ के साथ साथ 'शत्रुवञ्चनकुशलौ' अर्थ भी किया है। तु. गेल्ड. ऊपर।

शक्तिमन्तः' (निर्माणशक्ति से युक्त)।[1] 'मायया' के विवेचन (दे. आगे) से इसके अर्थ पर और प्रकाश पड़ता है। इस शब्द में 'माया' के साथ जुड़ा हुआ तद्धित प्रत्यय 'विन्' पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् किया गया है।

ममिरे—वें. निर्मितवन्तः, सा.-निर्मान्ति, सोमस्यैकांशपानेन जातबला अग्न्यादयः स्वस्वव्यापारेण जगत् सृजन्तीत्यर्थः। ग्रास.-गर्भरूप में बनाया है (बिल्दॅन दि लाइबॅफ़्रूखॅ), गेल्ड.-बनाया है (विश्वसमूह को), ग्रिफ.—गर्भ को बनाया है, अर.-उसका रूप बनाया—सर्वोच्च परमदेव से सर्जनशक्ति प्राप्त करके पितरों ने मनुष्य में उस देव का एक रूप बनाया या मनुष्य में देव-बीज स्थापित किया।[2] √मा (माने-मापना) जुहो. आत्मने लिट् प्र. पु. बहु।

मायया—वें.-प्रज्ञानेन, सा.-प्रज्ञया, ग्रास.-देवसम्बन्धी अतिमानुष प्रज्ञा, कपट या जादू की कला (यूबरमेन्शलिशॅ वाइज़हाइत ओदर लिस्त, गोय्त्लिशॅ कुन्स्त ओदर त्सौबरकुन्स्त), गेल्ड.-जादू की शक्ति के द्वारा (दुर्श त्सौबरक्राफ़्त), अर.-प्रज्ञाशक्ति के द्वारा, ग्रिफ.-निर्माणशक्त्या। वें. तथा सा. के साथ साथ स्वा. द. ने भी इस शब्द का प्रज्ञा अर्थ निघण्टु (३।६) के आधार पर किया है क्योंकि वहाँ यह प्रज्ञा के नामों में परिगणित है। इस शब्द के अर्थ प्रायः विद्वानों ने जादू, इन्द्रजाल, छल, कपट, मिथ्या धारणा इत्यादि किये हैं। इन अर्थों का आधार लौकिक संस्कृत, वेदान्त तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रचलित इसके विविध प्रयोग हैं। स्वयं सायण आदि ने प्रसङ्गानुसार माया के दो अर्थ किये हैं—देवों से सम्बद्ध होने पर इसका अर्थ अच्छा अर्थात् 'शक्ति या प्रज्ञा' है, और दुःसत्त्वों, असुरों आदि से सम्बद्ध होने पर इसका अर्थ बुरा अर्थात् 'कपट, या दुष्प्रज्ञा' है। 'मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्' (ऋ. ३।५३।८) और 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ. ६।४७।१८) जैसे स्थलों पर स्पष्ट ही इस शब्द का अर्थ 'रूपसर्जन की विशेष योग्यता' या 'स्वयं रूप-धारण की योग्यता' है। यह कुछ रहस्यमय एवं अवर्णनीय शक्ति है। यहाँ भी मूलरूप में प्रज्ञा ही काम कर रही है, क्योंकि प्रज्ञा सब कर्मों के मूल में रहती है। इसी शब्द से पूर्व प्रस्तुत मन्त्र में 'ममिरे' से इसके निर्वचन का संकेत प्राप्त होता है। तदनुसार माया वह तत्त्व है जिससे सब कुछ मापा जा सकता है और उसी आधार पर सब का निर्माण किया जा सकता है। इसी आधार पर खोंडा (गोंडा) ने प्रस्तुत प्रसंग में माया का अर्थ 'सोम की श्रेष्ठ प्रज्ञा' किया है।[3]

---

१. दे. यमपितृपरिचय, पृ. २६७।

२. ऑन द वेद, पृ ३७२।

३. 'माया' के निर्वचन और अर्थ के प्रति विस्तृत विवेचन के लिए दे. जे. खोंडा (गोंडा)—फ़ोर स्टडीज इन द लैंग्वेज ऑफ़ द वेद, पृ. ११६-६४।

उसी प्रज्ञा ने निर्मापकों को संसार का स्थल मापने की प्रेरणा प्रदान की।

नृचक्षसः—वें.-नृणां द्रष्टारः, सा.-(अस्य मायया) नृणां द्रष्टारः, ग्रास.-मनुष्य या प्राणिमात्र के नेता (मैनर लाइतॅन्द फोन मेन्शन), गेल्ड.-मनुष्य की दृष्टि से युक्त (मित् दॅम हॅर्रनुग्रौगॅ)। परन्तु गेल्ड० का यह अर्थ केवल समास को बहुव्रीहि मानकर ही सम्भव होगा। और स्वर की दृष्टि से यह बहुव्रीहि नहीं हो सकता क्योंकि उस स्थिति में इसके पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर होता। यहाँ कारकजन्य षष्ठी तत्पुरुष समास होने के कारण इसके उत्तरपद पर प्रकृतिस्वर है अर्थात् 'चक्षसः' आद्युदात्त है (दे० पा० ६।२।१३६—गतिकारकोपपदात् कृत्)। —चष्टे इति √चक्ष् असुन्—प्रत्यय नित् होने से आद्युदात्त—चक्षस्, नृणां चक्षसः (नॄन् चक्षते) कर्म कारक के अर्थ में आई हुई षष्ठी विभक्ति वाले पूर्वपद से समस्त होने के कारण उत्तरपद कृदन्त में प्रकृतिस्वर है। अर०-सत्यरूपी बलिष्ठ दृष्टि वाले। यहाँ सम्भवतया 'नृ' को बल का प्रतीक माना गया है। प्रिय०-प्राणिमात्रस्य दर्शयितारोऽभिव्यक्तिहेतवः। यहाँ भी प्रेरणार्थक अर्थ करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। मनुष्यों के द्रष्टा होने का अभिप्राय है 'मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों और गति-विधियों का ध्यान रखने वाले'।

पितरः—वें०-पातारो देवाः, यद्वा अङ्गिरसः पितरः, सा०-पालका देवा अङ्गिरसः पितरो वा, (सविता के पक्ष में) जगद्रक्षका रश्मयः, ग्रास०-देव, या देव और मनुष्यों में सम्बन्ध स्थापित करने वाले, दिव्य कीर्ति के सभागी, गेल्ड०-पिता (जगदुत्पादक देव या अङ्गिरसों के पूर्वज अभिप्रेत हैं), अर०-पिता-वे पुरातन ऋषि जिन्होंने वैदिक रहस्य-विद्या का माग ढूँढ निकाला और जो अब भी आध्यात्मिक रूप में मनुष्य में विद्यमान हैं तथा देवों के समान उसके मोक्षसाधनं-हित कार्यरत हैं (दे० ऑन दि वेद, पृ०३७२), प्रिय०-सूर्यरश्मयः √पा से निष्पन्न पितृ शब्द का मूल अर्थ पाता (रक्षक, पालक) है। श० ब्रा० (२।६।१।३२) में ऋतुओं को भी पितर कहा गया है (ऋतवो वै पितरः)।

गर्भम् आ दधुः—वें०-गर्भमाहितवन्त ओषधीष्विति यद्वा अङ्गिरसा प्रणीताः पितरः जगदुत्पादितवन्तः, सा०-गर्भं धारयन्ति ओषधीषु, (सूर्यपक्षे) रश्मयः गर्भं धारयन्ति वृष्ट्यर्थम्, गेल्ड०-बीज स्थापित किया है (हाबॅन देन काइम गेलेग्त), प्रिय०-पृथिव्यामुत्पत्तुं योग्यं गर्भमाधत्तवन्तः, अर०-उन्होंने उसे उत्पन्न होने वाले शिशु के रूप में भीतर स्थापित किया (दे सैट हिम विदिन एज ए चाइल्ड टु बी बॉर्न)। आधिभौतिक दृष्टि से पितरों अर्थात् सूर्य की रश्मियों ने सूर्य को गर्भरूप में धारण किया। आशय है कि सूर्य के प्रकट होने से पूर्व उसकी रश्मियाँ प्रकट होती हैं—तब वह गर्भरूप में रहता है।

गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः ।
गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत ॥४॥

गन्धर्वः । इत्था । पदम् । अस्य । रक्षति । पाति । देवानाम् । जनिमानि । अद्भुतः ।
गृभ्णाति । रिपुम् । निऽधया । निधाऽपतिः । सुकृत्ऽतमाः । मधुनः । भक्षम् । आशत ॥

गन्धर्व वहाँ पर पद को इस के रक्षा करता है,
रक्षा करता देवों के जीवन की, अद्भुत (हित) ।
लेता है पकड़ शत्रु को पाश से पाशों का स्वामी,
सत्कार्यों में श्रेष्ठ माधुर्य का भक्ष्य खाते हैं (नित) ॥

गन्धर्व अर्थात् सूर्य वहाँ अर्थात् नभोमण्डल में सोम या चन्द्रमा की रक्षा करता है अर्थात् उसे प्रकाशित करता है तथा अपनी आकर्षण-शक्ति से थामे रहता है । वह अद्वितीय सूर्य देवों अर्थात् अन्य देदीप्यमान ज्योतिःपिण्डों की भी उसी प्रकार रक्षा करता है । वह किरणों रूपी पाशों का स्वामी अन्धकार-रूपी शत्रु को पकड़ लेता है । जितनी भी दिव्य शक्तियाँ हैं वे सत्कार्यों में श्रेष्ठता के कारण ही सूर्य के प्रकाश रूपी माधुर्य का भक्षण करती हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से मस्तिष्क ही गन्धव होगा । वह आनन्द रूपी सोम की तथा इन्द्रियरूपी देवों की रक्षा करता है 'और उन्हें जीवन तथा शक्ति प्रदान करता है । कहीं भी आनन्द या इन्द्रियों के कार्यों में व्याघात पहुँचे तो मस्तिष्क उसे पहचान कर रोकता है । यदि इन्द्रियाँ सत्कार्य करती हुई श्रेष्ठता प्राप्त कर लें तो निश्चय ही उन्हें मस्तिष्क का मधुर फल प्राप्त होता है । इसी प्रकार यह बात ईश्वर-परक भी है । वही सबका रक्षक है, जीवनदाता है, शत्रुविनाशक है और सत्कार्य करने वालों को शुभ फल प्रदान करता है ।

गन्धर्वः—वें०, सा०-उदकानां स्तुतीनां वा धारक आदित्यः, ग्रास०-आकाश के उच्च स्थान पर रहने वाले एक दिव्य प्राणी का नाम, प्रवाहशील दिव्य जल के नीचे उसके रक्षक के रूप में चमकता हुआ यह सम्भवतया सोम है । सूर्य के साथ भी यह सम्बद्ध है । गेल्ड०-गन्धर्व, अर०-गन्धर्व के रूप में, आनन्द-समूह का स्वामी सोम ही गन्धर्व है । वें० तथा सा० ने ऋ० १।२२।१४; १६३।२ में भी इसका अर्थ सूर्य ही किया है और निर्वचन किया है—गवां रश्मीनां धर्तारं सूर्यम् । स्वा० द० ने उक्त दोनों स्थलों पर इसका अर्थ 'वायु' किया है और अर्थ की पुष्टि में श०ब्रा० ९।३।३।१० का उद्धरण (वातो गन्धर्वः) देते हुए निर्वचन इस प्रकार किया है—यो गां पृथिवीं धरति स गन्धर्वो वायुः । ऋ० १।२२।१४ के भाष्य में स्क० ने गन्धर्व को चन्द्रमा माना है और यह व्युत्पत्ति दी है—सुषुम्नो नाम सूर्यरश्मिः सात्र गौरुच्यते तां धारयतीति

गन्धर्वश्चन्द्रमाः। ऋ० के विवाहसूक्त (१०।८५।४०) में गन्धर्व को सूर्या का दूसरा पति बताया गया है और कहा गया है कि उसे सूर्या सोम से पत्नीरूप में प्राप्त हुई—**सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।**

इस वर्णन के अनुसार गन्धर्व को चन्द्रमा मानना कठिन हो जाता है क्योंकि सोम तो स्पष्ट ही चन्द्रमा है। ऋ० ८।७७।५ में सा० ने गन्धर्व को मेघ माना है (गामुदकं धारयतीति गन्धर्वो मेघः)। परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में गन्धर्व का अर्थ या तो सूर्य और या आध्यात्मिक दृष्टि से मस्तिष्क (गाः इन्द्रियाणि धारयतीति) उचित प्रतीत होता है। 'वायु' अर्थ भी सङ्गत हो सकता है क्योंकि ऋ० १०।८५।५ में वायु को सोम का रक्षक बताया है (वायुः सोमस्य रक्षिता)। इस पर सा० की टिप्पणी है—वाय्वधीनत्वाच्चन्द्रगतेः। श० ब्रा० ६।४।१।४ में गन्धर्व का सम्बन्ध गन्ध से बताया गया है जिससे उसका गन्धवाह होना सिद्ध होता है—(गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति)। इसके विपरीत अथर्व० ७।७३।३ के वर्णन से गन्धर्व का सूर्य होना ही निश्चित होता है क्योंकि वहाँ कहा गया है कि सभी देवता घर्म अर्थात् तेज को इसके मुख से ग्रहण करते हैं—**तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति।** इसी प्रकार वा० सं० १८।३८-४३ और तै. सं. ३।४।७ में राष्ट्रभृत् मन्त्रों के अन्तर्गत सम्भवतया गन्धर्व का वर्णन अग्नि, तथा सूर्य की विभिन्न किरणों के रूप में हुआ है यथा "ऋताषाडृतधामा अग्नि, संहित विश्वसामा सूर्य, सुषुम्ण सूर्यरश्मि चन्द्रमा, इषिर विश्वव्यचा वात, भुज्यु सुपर्ण यज्ञ, प्रजापति विश्वकर्मा मन"। किन्तु आगे चलकर सूत्रकाल में गन्धर्व अतिमानुष जातिविशेष का नाम हो गया और उसमें भी विश्वावसु के नाम का बार बार उल्लेख हुआ है।[1] विवाह-मन्त्रों में भी पौनः पुन्येन गन्धर्व का नाम आता है।[2] लौकिक साहित्य में इसी रूप का विकास हुआ प्रतीत होता है।[3]

इत्था—वें०-अमुत्र, सा०-सत्यम्, ग्रास०-सत्य, वास्तव में (रेश्त, इन वाह्र् हाइत), गेल्ड० वहाँ (दोर्त), अर०-सत्य (पद का विशेषण-ट्रू सीट), या०-अमुत्र, पा० ५।३।२३ 'प्रकारवचने थाल्' तथा पा० ५।३।२६ 'था हेतौ च छन्दसि' के अनुसार 'प्रकार' तथा 'हेतु' के अर्थ में यह शब्द 'इदम्' से **था** प्रत्यय लगकर बना है। तदनुसार इसका अर्थ **इस प्रकार और इस कारण से**

---

१. उदा. जै. गृ. १८।१—गन्धर्वोऽसि विश्वावसुः स मा पाहि स मा गोपाय (समावर्तन में दण्डग्रहण के लिए मन्त्र)।

२. उदा बौ. गृ. १।४।१६—गन्धर्वाय जनिविदे स्वाहा।

३. अधिक विवेचन के लिए दे. हिन्दी विश्वकोष खं० ३, पृ. ३७०-७१।

होगा (दे० वै० व्या० भा० १, पृ० ४५३)।[1]

पदम्—वें० ग्रास०, गेल्ड०-स्थानम्, सा०—स्थानं द्युसम्बन्धि, अर०-आनन्द के आधार स्थल की (रक्षा करता है)। यहाँ पद अथवा स्थान का अभिप्राय पदवी या स्थिति या स्थायित्व है।

जनिमानि—वें०,-देवजातानि देवानित्यर्थः, सा०-देवानां जन्मानि देवानित्यर्थः, ग्रास०—देववंशों की, गेल्ड०-वंशों अथवा पीढ़ियों की (गेश्लेश्तर), अर०-देवों के जन्म—ब्रह्माण्ड में दिव्य सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति, मानव के भीतर अनेक रूपों में ईश्वर की रचना। यहाँ जन्म का अभिप्राय जीवन प्रतीत होता है। यह √जन् से इमनिन् प्रत्यय लगकर बना है (दे० उणादि० ४।१४८)। छन्द में एक अक्षर की कमी पूर्ण करने के लिये इसका और अगले पद का उच्चारण सन्धिविच्छेद करके 'जनिमानि अद्भुतः' करना चाहिये।

अद्भुतः—वें०, सा०—महान्, ग्रास०-अतिपार्थिव, आश्चर्यजनक (यूबरइर्दिश, वुन्दरबार—अति-भूत का संक्षिप्त रूप), गेल्ड०-रहस्यमय (हाइमलिशॅ), अर०-विचित्र—सर्वोच्च, अन्य सभी प्राणियों से भिन्न और उन सबसे ऊपर। या०-अद्भुतम् अभूतम् जिसका कभी जन्म नहीं हुआ, अजन्मा (नि० १।६)। इसका अर्थ अद्वितीय भी सम्भव है, जिसके समान और कोई नहीं हुआ।

रिपुम्—वें०-रिपुम्, सा०-अस्मद्वैरिणम्, ग्रास०-कपटी (बेत्रूगर—√रिप् से), गेल्ड०-धूर्त (शेलम), अर०—असत्य अस्पष्टता एवं विभाजन की शक्ति के रूप में स्थित शत्रु को। उणादि सूत्र (१।२६) के अनुसार यह √रप् से कु प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है और उपधा को इ हो गया है (रपेरिच्चोपधायाः)। रिपु का अर्थ तदनुसार 'अनिष्ट बात कहने वाला' (अनिष्टं रपतीति) होगा। पा. धातुपाठ में √लिप् (>रिप्) उपदेह (वृद्धि, अर्थात् फैलना, लेप करना) के अर्थ में है। तदनुसार रिपु का भाव 'फैलने वाला, आक्रमण के द्वारा विरोधी को लिप्त या प्रभावित करने वाला' होगा। इस धातु के होते हुए √रप् से निर्वचन करना अनावश्यक प्रतीत होता है।

निधया—वें०-पाशेन, सा०-निधा पाश्या, पाशसमूहेन, ग्रास०, गेल्ड०-फन्दे के द्वारा (मित देअर श्लिगॅ), अर०-आन्तरिक व्यवस्था, अन्तश्चेतना—

---

1. परन्तु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'इत्था' में लित् जनित प्रत्यय-स्वरित के अभाव में यहाँ थाल् नहीं हो सकता और केवल किम से सम्बद्ध होने के कारण था की प्राप्ति भी नहीं होती। सम्भवतया इसी कठिनाई को ध्यान में रखकर सायण ने ऋ. १।२४।४ के अन्तर्गत इत्था का एक अन्य समाधान प्रस्तुत किया है। तदनुसार यहाँ थम प्रत्यय (इदमस्थमुः—पा. ५।३।२४) ही है। उससे 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र के द्वारा विभक्ति का डादेश हुआ। डित्व से टिलोप होकर उदात्तनिवृत्ति स्वर से (पा. ६।१।१६१) आकार उदात्त हुआ।

इन्द्रियों और बाह्य मन द्वारा प्राप्त सांसारिक अनुभव से अधिक गम्भीर और सत्य है। इसी अन्तश्चेतना के द्वारा वह (देव) असत्यादि की शक्तियों को बाँध कर रखता है। या० (नि० ४।३)—निधा पाश्या भवतीति, यन्निधीयते। पाश्या पाशसमूहः। क्योंकि यह पक्षी इत्यादि पकड़ने के लिये नीचे रखा जाता है (निधीयते) इसलिये, इसे निधा-पाशसमूह, जाल कहते हैं। नि √धा से क प्रत्यय (पा० ३।१।१३६) लगकर टाप् (पा० ३।३।१०६) हुआ है।[1] पदपाठ में नि उपसर्ग को अवग्रह के द्वारा पृथक् करके दिखाया गया है।

मधु॑नः—वें०-मधुनः, सा०-मधुररसस्य, ग्रास०,-सोम के माधुर्य का, गेल्ड०-सोम का (पान), अर० मधु-तुल्य-माधुर्य का (भोग), अस्तित्व के समस्त माधुर्य, आत्मा के भोजनरूप आनन्द का आस्वादन अपने कर्मों में दक्ष व्यक्ति करते हैं। या० (नि० ४।८)—मधु सोममित्यौपमिकम् माद्यतेः, इदमपीतरन्मध्वे-तस्मादेव। निघण्टु (१।१२।११) में मधु उदक-नामों में भी परिगणित है। मधु और सोम दोनों में हर्षित करने के गुण की समानता है, अतः सोम के लिये मधु शब्द का प्रयोग भी होता है। तु० यू०-मेदु (मदिरा); पुरातन उच्च जर्मन—मेतु, पुरातन स्लाव-मेदु (शहद) लिथुआनी—मेदु, अं०-मीड।

आ॒श॒त—वें०, सा०-प्राप्नुवन्ति, ग्रास०, गेल्ड०-प्राप्त किया है। अर०-आस्वादन करते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'भक्षम्' कर्म की क्रिया के रूप में 'आस्वादन करना' या 'खाना' अर्थ ही सबसे अधिक सङ्गत प्रतीत होते हैं। यह पद √अश् से विकरणलुक् लुङ् का आत्मनेपद का प्र० पु० बहु० का रूप है। (दे० वै० व्या, पृ० ५६८)।

ह॒विर्ह॑विष्मो॒ महि॒ सद्म॒ दैव्यं॒ नभो॒ वसा॑नः॒ परि॑ यास्यध्व॒रम्।
राजा॑ प॒वित्र॑रथो॒ वाज॒मारु॑हः स॒हस्र॑भृष्टिर्जयसि॒ श्रवो॑ बृ॒हत्॥५॥

ह॒विः। ह॒वि॒ष्मः॒। महि॑। सद्म॑। दैव्य॑म्। नभः॑। वसा॑नः। परि॑। या॒सि॒। अ॒ध्व॒रम्। राजा॑। प॒वित्र॑ऽरथः। वाज॑म्। आ। अ॒रु॒हः॒। स॒हस्र॑ऽभृष्टिः। ज॒य॒सि॒। श्रवः॑। बृ॒हत्॥

हवि हो, हे हवियुक्त (देव), महान् (तुम ही तो) घर दिव्य,
नभ को करते व्याप्त सब ओर घेरते अध्वर को।
राजा पवित्र (तेजरूप) रथ वाले गति पर हो सवार
सहस्रज्योति-युक्त जीतते कीर्ति विपुल (अम्बर) हो॥

1. दे. नि. ४।३ पर मुकुन्द झा बख्शी की टि.—तत्र के (देवराजोक्ते) बाहुलकत्वमेव गतिः। कर्तरि ह्यसौ विधीयते। इह तु कर्मण्यपेक्ष्यते॥ किन्तु यह कर्तरि भी हो सकता है—निदधाति गृहीत्वा शत्रुं सा निधा।

हविर्युक्त सोम ही सर्वोत्कृष्ट आहुति-द्रव्य है। इसी प्रकार ओषधिपति चन्द्रमा भी हवि है क्योंकि हविर्द्रव्यों का मूल तो ओषधियाँ ही हैं। आनन्दघन परमेश्वर सब सृष्टि करने वाला होकर स्वयं उस सृष्टि या आहुति से भिन्न नहीं है, उसको क्या वस्तु अर्पित की जा सकती है, वह तो स्वयं ही सब कुछ है। वही परम धाम है। सर्वव्यापी है और भौतिक तथा आध्यात्मिक और सृष्टिरूप यज्ञ का सञ्चालन भी वही करता है। उसकी पवित्र गति सर्वत्र है। उस परमानन्द से ही मनुष्य सहनशक्ति या सहस्रगुणा प्रकाश प्राप्त करता है। सोम भी यज्ञ में आहुतिरूप में अर्पित होकर दिग् दिगन्त में व्याप्त हो अपने तेज से सबकुछ प्रकाशित करता है। चन्द्रमा भी अपने प्रकाश से नभ में व्याप्त होता है, ओषधिपति होने से ओषधिमूलक यज्ञ का आधार है। राजा के समान सुशोभित होता है। गतिशील रहता है, सहनयोग्य प्रकाश से युक्त होने के कारण वह लोक में प्रशंसित है।

अन्वय—इस मन्त्र के पूर्वार्ध के अन्वय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। वेंकट—उदकं हे उदकवन्, महत् सदनं देवानाम्। व्याप्तं (नभः-नभतिर्व्याप्तिकर्मा) वसानः परि गच्छसि यज्ञम्।

सायण—उदकवन् सोम हविर्भूतं नभः वसानः महि दैव्यं सद्म परियासि परिगच्छसि। अध्वरं निर्वोढुम्। (स्पष्ट ही इस अन्वय में 'निर्वोढुम्' का अध्याहार करना पड़ा है।)

गेल्डनर—हे हविर्युक्त स्वयं को मेघ में आच्छादित किये हुए तू महान् दिव्य स्थान और पवित्र कृत्य (यज्ञ) को हवि के रूप में परिवर्तित कर लेता है।

ऊपर अर्थ में हमने श्री अरविन्द द्वारा गृहीत अन्वय का अनुसरण किया है। (दे० ऑन दि वेद, पृ० ३६५)।

हविः—वें०-उदकम्, सा०-हविर्भूतम्, ग्रास०, गेल्ड०-आहुतिद्रव्य, अर०-दिव्य भोजन, आनन्द और अमृतत्व की मदिरा (द डिवाइन फूड, द वाइन आफ़ डिलाइट एंड इम्मोर्टेलिटी)।

हविष्मः—वें०-उदकवन्, सा०-हविरित्युदकनाम, उदकवन् सोम हविर्भूतं नभः। ग्रास०, गेल्ड०-आहुतिद्रव्य से युक्त, अर०-हे दिव्य भोजन के स्वामी। मतुप्-प्रत्ययान्त होने के कारण सम्बोधन एकवचन में अन्त्य 'न्' का 'रु' हो गया है। (पा० ८।३।१—मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि।)

सद्म—वें०-हविः सद्म इत्युदकनमनी भवतः (निघं० १।१२)—देवानां महत् सद्म, सा०-दैव्यं यागगृहम्, गेल्ड०-निवास स्थान, अर०-दिव्य घर अर्थात् अतिचेतन आनन्द और सत्य।

दैव्यम्—जगती छन्द के पाद में एक अक्षर की कमी को पूर्ण करने के लिये इसका उच्चारण 'दैविअम्' किया जाना चाहिये।

नभः—वें०-नभतिर्व्याप्तिकर्मा, व्याप्तम् (नभः), सा०-उदकनामैतत्, उदकरसमित्यर्थः। ग्रास०-(सोम का) द्रव्य या जल (नास्स, वास्सर, ऑफ़्त फ़ोम् सोम, व्युत्पत्ति √नभ्-फटना, तु० यूनानी-नेफोस), गेल्ड०-मेघ, अर०-स्वर्ग, स्वर्गीय आकाश का बादल अर्थात् मनस्तत्त्व। या० (नि० २।१४) ने इसका अर्थ 'आदित्य' या 'आकाश' बताते हुए ये निर्वचन दिये हैं :—नभ आदित्यो भवति, नेता रसानाम्, नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः, अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः। न न भातीति वा, एतेन द्यौर्व्याख्याता। 'नभ' का अर्थ 'दूर दूर तक फैला हुआ ज्योतिःपूर्ण खाली स्थान' प्रतीत होता है।

अध्वरम्—छन्दःपूर्ति के निमित्त पूर्ववर्ती शब्द का और इसका उच्चारण सन्धिविच्छेद करके 'यासि अध्वरम्' किया जाना चाहिये। इस शब्द पर विस्तृत टिप्पणी के लिये दे० ऋ० १।१।४। सा० ने इसके साथ 'निर्वोढुम्' क्रिया का अध्याहार किया है (यागगृहं परिगच्छसि अध्वरं निर्वोढुम्)। अर०-यज्ञ की गति (द मार्च ऑफ़ द सैक्रिफ़ाइस)। यज्ञ और अध्वर में यदि भेद करना चाहें तो प्रतीत होता है कि यज्ञ में जहाँ मनसा पूजा प्रधान है, वहाँ अध्वर में शारीरिक-क्रिया प्रधान है—यह बात यज्ञ में अध्वर्यु (अध्वर से निष्पन्न) की स्थिति से भी बहुत स्पष्ट होती है।

वाजम्—वें०-सङ्ग्रामम्, सा०-सङ्ग्रामम्, यद्वा तत्र तत्र सङ्ग्रामवाचकेन शब्देन यज्ञ-व्यवहारदर्शनादत्र वाजो यज्ञाख्यसङ्ग्रामः। ग्रास०, गेल्ड०-विजय-पुरस्कार (वोयूतें, जीगरप्राइज़), अर०-अनन्त और अमृत स्थिति का विस्तार, सम्पूर्णता।—वह आनन्दमय देव हमारी सब क्रियाओं का राजा, तथा हमारी दिव्य प्रकृति और उसकी शक्तियों का स्वामी हो जाता है। फिर ज्ञानालोकित चेतन हृदय रूपी अपने रथ पर चढ़कर वह पूर्णता पर आरोहण करता है। स्क., वें. और सा. ने इस शब्द के 'अन्न' और 'संग्राम'—प्रायः ये दो अर्थ दिये हैं। ऋ० १।५२।१ में 'अत्य' (गमनशील) के विशेषणभूत इस शब्द का अर्थ सायण ने 'अश्व' किया है और निम्नलिखित निर्वचन से उस सिद्ध किया है :—'वाज्यते गम्यतेऽनेनेति वाजः (वज, व्रज गतौ, करणे घञ्)।" स्वा० द० ने इस स्थल पर 'वेगयुक्तम्' अर्थ किया है। अन्यत्र भी (ऋ० १।६४।१३ में) उन्होंने 'वेगादिगुणसमूहम्' अर्थ दिया है। कुछ स्थलों पर (यथा—ऋ० १।५।९; ४८।११; ७३।५) उन्होंने इसका 'ज्ञानम्' या 'विज्ञानम्' अर्थ भी दिया है। सायण की उपर्युक्त निरुक्ति के अनुसार इसका अर्थ 'गति' भी सम्भव है। ओ० ब० ने 'बल', 'पुरस्कार' अर्थों के साथ साथ (ऋ० १।२७।७ आदि में)

इसका अर्थ '(पुरस्कारार्थ अभिप्रेत) दौड़' भी किया है।[1] प्रायः पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ 'पुरस्कार' या 'सम्पत्ति' किया है। इसके अतिरिक्त पीटर्सन ने सेंट पीटर्सबर्ग शब्द कोश में से इसके 'वेग, दौड़, लाभ, खजाना, घुड़दौड़' अर्थ भी उद्धृत किये हैं। उसके मतानुसार इसका मूल अर्थ बल, संघर्ष, दौड़ या दौड़ के फल रूप में प्राप्त 'पुरस्कार, ख़जाना, सम्पत्ति' रहा होगा।[2]

सहस्रभृष्टिः—वें०—बहुभ्रंशः अपरिमितगमन इत्यर्थः। अथवा भृष्टिरायुधम्। असंख्यातायुधः सन्। ग्रास०-सहस्र नोकीले आयुधों वाला (ताउज़ेन्द शिपत्सिगॅ वाफ़्फ़न हाबन्द), गेल्ड०-सहस्र नोकों वाला (ताउज़ेन्द त्सेक्किगर), सहस्र प्रज्वलित दीप्तियों वाला (विद थाउज़ेंड बर्निंग ब्रिल्लिएंसज़)। यह शब्द अधिकतर वज्र का या अन्य किसी आयुध का विशेषण होकर आया है। उन स्थलों पर सभी भारतीय तथा पाश्चात्य भाष्यकरों ने इसका अर्थ 'सहस्र धारों वाला' किया है। स्वा० द० ने 'असंख्याः पीडा दाहा वा यस्मात् सः' (ऋ० १।८०।१२) अर्थ भी किया है। सहस्र शब्द का अर्थ 'बलशाली, बलिष्ठ' भी हो सकता है (दे० नि० ३।१०—सहस्रं सहस्वत्)। तदनुसार अर्थ होगा—'बलिष्ठ आयुधों या गति वाला'। यह ध्यान देने योग्य बात है कि भृष्टि शब्द स्वतन्त्र रूप में समस्त ऋग्वेद में केवल एक बार (१।५६।३ में) आया है। वहाँ इसका सम्बन्ध 'गिरेः' से है। वेंकट माधव ने वहाँ इसका अर्थ 'सानुः', और सायण ने 'शृङ्गम्' किया है। स्वामी दयानन्द ने गिरि को 'मेघ' मानते हुए भृष्टि का अर्थ 'वर्षा' (भृज्जन्ति परिपचन्ति यस्यां वृष्टौ सा) किया है। एक स्थल (ऋ० १।५२।१५) पर यह मतुप् प्रत्यय से युक्त है—भृष्टिमता। इसका निर्वचन √भृज् (भर्जने-भूनना) से सम्भव है। तदनुसार अर्थ होगा 'भूनने, पकाने, सन्तप्त करने की क्रिया अथवा उपकरण'। √भ्राज् (दीप्तौ-चमकना) से भी इसका निर्वचन हो सकता है। तब अर्थ होगा 'दीप्ति', 'चमक'—सहस्रों दीप्तियों वाला या बलिष्ठ दीप्ति वाला। ऋग्वेद में √भृज् के प्रयोगाभाव से भी इस (परवर्ती) निर्वचन की पुष्टि होती है। ग्रास० ने भर्गः शब्द के प्रसङ्ग में √भृज् को √भ्राज् के सम माना है (वो. बु.)।

श्रवः—वें०, सा०-(महत्) अन्नम्, ग्रास०, गेल्ड०-यश अर०-(विस्तृत) ज्ञान—सत्य-चैतन्य। विस्तृत विवेचनार्थ दे० ऋ० १।१।५ में चित्रश्रवस्तमः।

---

१. दे. से. बु. ई. खं. ४६।
२. दे. हिम्ज फ़्रॉम द ऋग्वेद, पृ. १३८ (ऋ. ३।६१।१)।

अक्षसूक्तम्—ऋ. १०।३४

ऋषिः—कवष ऐलूषः, अक्षो मौजवान् वा; देवता—१, ७, ६, १२—अक्षाः, १३—कृषिः, २-६, ८, १०, ११, १४—कितवनिन्दा अक्षनिन्दा वा। छन्दः—१-६, ८-१४ त्रिष्टुप्, ७ जगती।

अक्षसूक्त कितवसूक्त के नाम से भी विख्यात है। यह ऋग्वेद के उन सूक्तों में से है जिन्हें प्रायः लौकिक (सेकुलर) सूक्तों की संज्ञा दी गई है। इनसे उस समय के सामान्य जनजीवन पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत सूक्त एक जुआरी का आत्म-प्रलाप है। इसमें बहुत काव्यात्मक रूप में जुए के प्रति जुआरी का अनायास आकर्षण, उसके द्वारा सम्पादित गृह-विनाश, परिवार और समाज द्वारा उसकी गर्हणा और अन्त में इस सबके फलस्वरूप स्वयं जुआरी के द्वारा हाथ से काम करके कमा कर खाने का उपदेश दिया गया है। सम्पूर्ण वर्णन अत्यन्त मार्मिक है और किसी भी उत्कृष्ट काव्य से प्रतिस्पर्धा कर सकता है। जुआरी की दशा का यह सजीव और यथार्थ चित्रण मन पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। कहीं महाभारत में युधिष्ठिर की और नल की द्यूतक्रीड़ा इस सूक्त की विस्तृत व्याख्या ही तो नहीं?

श्रोडर के मतानुसार यह सूक्त स्वगत-भाषण के रूप में एक रूपक है। कार्पेंटियर का विचार है कि इसकी रचना उपदेश के उद्देश्य से हुई। ओल्डनबर्ग का कथन है कि यह उन उपहारों से सम्बद्ध सूक्त है जिनके द्वारा जुआरी अपने आप को द्यूतरूपी राक्षस के बन्धन से मुक्त करना चाहता है। विंतरनित्स का मत है कि यह स्वगत-भाषण उस चारण-गीत का अंग है जिसमें कोई युधिष्ठिर अथवा नल जैसी कथा वर्णित हो। किन्तु यह मनुष्य पर इन्द्रियों के आधिपत्य का लाक्षणिक वर्णन भी हो सकता है क्योंकि तान्त्रिक साहित्य में तो अक्ष को इन्द्रिय ही माना है। उदाहरणार्थ दे. विज्ञानभैरव-१४६—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनास्रुचा॥

इसकी शिवोपाध्यायकृत विवृति इस प्रकार है—

शून्यातिशून्यपदस्य आ समन्तात् लयो यत्र परतत्त्वात्मनि वह्नौ तत्र भूतेन्द्रियविषयभुवनतत्त्वादिरूपं सकलं जगत् तद्विभागकल्पनाहेतुना सह चेतना विश्वानुसन्धात्री शक्तिरेव स्रुक् तया हूयते यत् स होमः अग्नौ हविर्दानमित्यर्थः।

अस्तु, अक्ष अथवा जुएके पांसे किसी तीव्र पवन वाले प्रदेश में उगने वाले विभीदक वृक्ष के फल ही होते थे। इन अक्षों की संख्या त्रिपञ्चाशः (तरपेन अथवा एक सौ पचास—३ × ५०) बताई गई है। इनमें से उठाकर कुछ अक्ष या पांसे जुआरी द्वारा 'इरिण' नामक तख्ते पर फेंके जाते थे। फेंके गये पांसों को चार से भाग देकर शेष अंकों के आधार पर उसे प्राप्त भाग गिना जाता था। एक, दो, तीन तथा शून्य शेष रहने पर जुआरी क्रमशः कलि, द्वापर, त्रेता और कृत को प्राप्त करने वाला होता था। इन चारों में कलि सबसे निकृष्ट और कृत सबसे उत्कृष्ट माना जाता था। पांसों को फेंकने की क्रिया को 'ग्रह' या 'ग्राभ' कहा जाता था। द्यूतक्रीड़ा के लिये स्वतन्त्र सभागृह होते थे जहाँ आने वाले जुआरियों के व्यवहार की सावधानी से निगरानी करके द्यूत के निर्धारित नियमों के पालन के लिये अधिकारियों की नियुक्ति तत्कालीन राजा द्वारा ही होती थी।

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृताना।

सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥१॥

प्रावेपाः। मा। बृहतः। मादयन्ति। प्रवातेऽजाः। इरिणे। वर्वृतानाः। सोमस्यऽइव। मौजऽवतस्य। भक्षः। विऽभीदकः। जागृविः। मह्यम्। अच्छान् ॥

कम्पनशील (वे फल) मुझको महा (वृक्ष) के हर्षित करते
झंझावतों में उत्पन्न द्यूतपटल पर लोट रहे (वे)।
सोम का मानो मूजवान् पर्वत वाले का भक्षण (हो)
विभीदक जागरूक ने मुझे किया आनन्दित (वैसे ही)॥

पांसे चञ्चल हैं, क्रियाशील हैं, स्थिर नहीं रहते। वे मानो जागते रहते हैं (चाहे भाग्य सोता हो)। वे जुआरी को उसी प्रकार आकृष्ट और आनन्दित करते हैं जैसे किसी को भी प्रेरणाप्रद सोमपान।

सा.—बृहतो महतो विभीतकस्य फलत्वेन सम्बन्धिनः प्रवातेजाः प्रवणे देशे जाताः इरिणे आस्फारे वर्वृतानाः प्रवर्तमानाः प्रावेपाः प्रवेपिणः कम्पनशीला अक्षाः मा मां मादयन्ति हर्षयन्ति। किञ्च जागृविः जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्यां कितवानां जागरणस्य कर्ता विभीदकः विभीतकविकारोऽक्षो मह्यं माम् अच्छान् अचच्छदत् अत्यर्थं मादयति। तत्र दृष्टान्तः। सोमस्येव यथा सोमस्य मौजवतस्य। मुजवति पर्वते जातो मौजवतः। तस्य। तत्र ह्युत्तमः सोमो जायते। भक्षः पानं यजमानान् देवांश्च मादयति तद्वदित्यर्थः। तथा च यास्कः—प्रवेपिणो मा महतो विभीतकस्य फलानि मादयन्ति। प्रवातेजाः प्रवणेजा इरिणे

वर्तमाना इरिणं निर्ऋणम् ऋणातेरपार्णं भवत्यपरता अस्मादोषधय इति वा । सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो मौजवतो मुजवति जातो मुजवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इशीकयेषीका इषतेर्गतिकर्मण इयमपीतरा इषीका एतस्मादेव विभीतको विभेदनाज्जागृतिर्जागरणात्, मह्यमचच्छदत् (नि. ९।८) इति ॥

अच्छान्— √छन्द् (आनन्दित करना) सिच्-लुङ् (अनिट्) प्र. पु. एक. —अ छन्द् स् त्—अच्छान्द् स् त्—अच्छान् ।

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् ।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥२॥

न । मा । मिमेथ । न । जिहीळे । एषा । शिवा । सखिभ्यः । उत । मह्यम् । आसीत् । अक्षस्य । अहम् । एकऽपरस्य । हेतोः । अनुऽव्रताम् । अप । जायाम् । अरोधम् ॥

न मुझको पकड़ा न ही अनादृत किया इसने (मित्रों में)
कल्याणकारी मित्रों के प्रति अरु मेरे प्रति भी रही (सदा)
(परन्तु) पाँसे के मैंने एक-परायण के निमित्त (ही)
अनुव्रता को पृथक् पत्नी को रोक दिया (निष्ठुर होकर) ॥

हारा हुआ दुःखी जुआरी पश्चात्ताप कर रहा है। उसकी पत्नी कितनी स्नेहार्द्र और सहनशील थी । परन्तु वह उस पाँसे के जाल में फंसा रहा जो केवल एक (जीतने वाले) के प्रति आसक्त रहता है। यदि वह निर्दय होकर अपनी पत्नी को नहीं ठुकराता तो आज उसकी यह दुर्दशा न होती ।

सा.-एषास्मदीया जाया मा मां कितवं न मिमेथ न च चुक्रोध, न जिहीळे न च लज्जितवती । सखिभ्योऽस्मदीयेभ्यः कितवेभ्यः शिवा सुखकरी आसीत् अभूत् । उत अपि च मह्यं शिवासीद् इत्थमनुव्रतामनुकूलां जायामेकपरस्य एकः परः प्रधानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतोः कारणादहमप अरोधं परित्यक्तवानस्मीत्यर्थः ।

मिमेथ—यास्क-मेथतिराक्रोशकर्मा, तुलनात्मक भाषाविज्ञान के निष्कर्षों के आधार पर √मिथ् का अर्थ 'परिवर्तन, विनिमय और साहचर्य प्राप्त करना' है। अवेस्ता में संस्कृत के समान ही 'मिथो' (मिथ्या) का अर्थ 'मिथ्या' है । इसी प्रकार संस्कृत 'मिथुन' के समान अवेस्ता 'मिथ्वन' का अर्थ मिथुनरूप में संयुक्त' है। लातीनी में परिवर्तन अर्थ वाली धातु 'मूतरे' है। पाणिनीय धातुपाठ में √मिथ्-मेधाहिंसनयोः है। मिथुन शब्द में जोड़ा, जोड़ना, पकड़ना का भाव है।

जिहीळे—√हेड् अनादरे—अनादृत किया; निघण्टु में यह क्रोध अर्थ

वाली धातुओं में पठित है।

एकपरस्य—एकः परो यस्य सः (बहु.), उत्तरपद में उदात्त बहुव्रीहि के स्वर के अनुकूल नहीं है। यदि 'एकेन परः' तृतीया तत्पुरुष माना जाये तो भी 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ...' इत्यादि सूत्र के द्वारा पूर्वपद में प्रकृतिस्वर होना चाहिये। —एक से बढ़ने वाले पाँसे के लिये। यहाँ सम्भवतया गिरे हुए पाँसों को चार से विभाजित करके एक बचने वाले 'कलि' के प्रति संकेत है।

अपारोधम्—मैंने छोड़ दिया। सम्भवतया यह पत्नी को दांव पर लगाने का संकेत है। अप √रुध् विकरण लुक्-लुङ्, उ. पु. एक.।

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥३॥

द्वेष्टि। श्वश्रूः। अप। जाया। रुणद्धि। न। नाथितः। विन्दते। मर्डितारम्। अश्वस्यऽइव। जरतः। वस्न्यस्य। न। अहम्। विन्दामि। कितवस्य। भोगम् ॥

घृणा करती है श्वश्रु दूर से पत्नी रोक रही है,
नहीं भिखारी बना (जुआरी) पाता है कोई दयालु।
घोड़े के सम वृद्ध हो रहे बिकने वाले के (समान)
नहीं मैं पाता हूँ (देख) कितव का भोग (सुखद औरों को)॥

हारा हुआ जुआरी भिखारी बन जाता है। वह ऐसा भिखारी है, जिससे किसी की सहानुभूति नहीं होती। जामाता का सत्कार करने वाली सास भी उससे घृणा करती है और पत्नी भी (जो स्वयं धन की कठिनाई से पितृगृह में आकर रह रही है) उसे घर में आने से रोकती है। वह उस बूढ़े घोड़े के समान है जो बिकाऊ है, पर जिसका कोई मूल्य देने को तैयार नहीं। इस प्रकार जुआरी का कोई भोग दिखाई नहीं देता जिससे औरों को सुख हो।

सा.—श्वश्रू जायाया माता गृहगतं कितवं द्वेष्टि निन्दतीत्यर्थः। किंच जाया भार्या अप रुणद्धि निरुणद्धि। अपि च नाथितः याचमानः कितवो धनं मर्डितारं धनदानेन सुखयितारं न विन्दते न लभते। इत्थं बुद्ध्या विमृशन्नहं जरतः वृद्धस्य वस्न्यस्य। वस्नं मूल्यम्। तदर्हस्याश्वस्येव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे।

मर्डितारम्—तु. अवेस्ता मर्ज़्दिक—करुणा।

जरतः—तु. यूनानी—गेराउन (बूढ़ा), आधुनिक फ़ारसी—ज़र (बूढ़ा या बूढ़ी)।

वस्न्यस्य—तु. यूनानी—ओनोस (क्रयमूल्य), लातीनी—वेनुम् (मूल्य)।

अ॒न्ये जा॒यां परि॑ मृशन्त्यस्य॒ यस्यागृ॑धद्वेद॑ने वा॒ज्य १॒ क्षः ।
पि॒ता मा॒ता भ्रात॑र एनमाहु॒र्न जा॑नीमो॒ नय॑ता ब॒द्धमे॒तम् ॥४॥

अ॒न्ये । जा॒याम् । परि॑ । मृ॒श॒न्ति॒ । अ॒स्य॒ । यस्य॑ । अगृ॑धत् । वेद॑ने । वा॒जी । अ॒क्षः । पि॒ता । मा॒ता । भ्रात॑रः । ए॒न॒म् । आ॒हुः॒ । न । जा॒नी॒मः॒ । नय॑त । ब॒द्धम् । ए॒तम् ॥

दूसरे (जुआरी) पत्नी को संस्पर्श कर रहे इसकी
जिसके लोभी था धन के प्रति अति महाबली यह पाँसा ।
पिता (भी) माता (और) सहोदर (सब) इसके प्रति कहते,
नहीं जानते हम (इसको), ले जाओ (करके) बद्ध इसे ॥

जिस जुआरी के धन के प्रति यह पाँसा अत्यन्त लोभी था अर्थात् इसने जिसे धन लेकर हराया, उसकी पत्नी निराश्रित हो गई है। सम्भवतया अन्य जुआरी हारे हुए जुआरी से दाँव में हारे धन को प्राप्त करने के लिये उसकी पत्नी को परामृष्ट करते हैं। जब वे जुआरी अथवा राजपुरुष उसे पकड़ने आते हैं तो माता, पिता और भाई भी उसे अपना नहीं मानते।

सा.—यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी बलवान् अक्षः देवः अगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति तस्यास्य कितवस्य जायां भार्यामन्ये प्रतिकितवाः परि मृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति। किंच पिता जननी च भ्रातरः सहोदराश्च एनं कितवमाहुर्वदन्ति। न वयमस्मदीयमेनं जानीमः। रज्ज्वा बद्धमेतं कितवं हे कितवाः यूयं नयत यथेष्टदेशं प्रापयतेति ॥

वा॒ज्य १॒ क्षः—छन्द की दृष्टि से इसका सन्धिविच्छेद करके 'वाजी अक्षः' उच्चारण करना चाहिये।

नय॑त—संहिता में इसका दीर्घान्त ध्यान देने योग्य है (पा. ६।३।१३३—ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्)। वाक्य के आदि में होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है।

यदा॒दीध्ये॒ न द॑विषाण्येभिः परा॒यद्भ्यो॒ऽव॑ हीये॒ सखि॑भ्यः ।
न्यु॑प्ताश्च ब॒भ्रवो॒ वाच॒मक्र॑तँ॒ एमीदे॑षां निष्कृ॒तं जा॒रिणी॑व ॥५॥

यत् । आ॒ऽदीध्ये॑ । न । द॒वि॒षा॒णि॒ । ए॒भिः॒ । प॒रा॒यत्ऽभ्यः॑ । अव॑ । ही॒ये॒ । सखि॑ऽभ्यः । निऽउ॑प्ताः । च॒ । ब॒भ्रवः॑ । वाच॑म् । अक्र॑त । एमि॑ । इत् । ए॒षा॒म् । निः॒ऽकृ॒तम् । जा॒रिणी॑ऽइव ॥

जब मैं सोचा करता हूँ कि नहीं खेलूं इन पाँसों से,
और लौटने वालों से होता विरक्त मित्रों से ।
(पर जब) डाले गए (इरिण पर) बभ्रु शब्द करते (पांसे)
जाता ही हूँ इनके स्थल पर (कहीं) जारिणी जैसे ॥

जुआरी को जुआ खेलने का ऐसा व्यसन हो गया है कि वह अब उससे विमुख होने में विवशता का अनुभव करता है। वह बार बार जुआ छोड़ने का निश्चय करता है। जुआरी मित्र उसे हरा कर उसके घर तक छोड़ने आते हैं और फिर द्यूतस्थल को जाते हैं, तब वह सोचता है कि मैं इनके साथ न जाऊं और यहीं द्यूत-विरक्त हो जाऊं। परन्तु द्यूत-पटल पर पाँसों के पड़ने का शब्द मानो उसे विचलित कर देता है और फिर वह जाये बिना नहीं रहता। यहाँ बहुत सुन्दर उपमा से यह भाव स्पष्ट किया गया है। उसका विवशतापूर्वक जाना एक स्वैरिणी अवैध प्रेमिका के अपने जार के पास निश्चित स्थल पर जाने जैसा है। इस मन्त्र में व्यसनी की मनःस्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

सा.—यत् यदाहमादीध्ये ध्यायामि तदानीमेभिरक्षैर्न दविषाणि न दूषये न परितपामि। यद्वा न दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः। परायद्भ्यः स्वयमेव परागच्छद्भ्यः सखिभ्यः सखिभूतेभ्यः कितवेभ्यः अवहीये अवहितो भवामि। नाहं प्रथममक्षान् विसृजामीति। किंच बभ्रवः बभ्रुवर्णा अक्षा न्युप्ताः कितवैरवक्षिप्ताः सन्तः वाचमक्रत शब्दं कुर्वन्ति। तदा संकल्पं परित्यज्य अक्षव्यसनेनाभिभूयमानोऽहमेतेषामक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणीव यथा कामव्यसनेनाभिभूयमाना स्वैरिणी संकेतस्थानं याति तद्वत् एमीत् गच्छाम्येव॥

अवहीये—मैं छोड़ दिया जाता हूँ (मैं. आइ एम लैफ्ट बिहाइंड)। अव √हा (त्यागे) कर्म. उ. पु. एक.।

अक्रतै—ईशा अक्षादित्वात् प्रकृतिभावः। अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (पा. ८।४।५७) इति वैकल्पिकमवसाने विधीयमानमनुनासिकत्वं व्यत्ययेनात्र संहितायामपि सत्यपि प्रगृह्यत्वे द्रष्टव्यम्। √कृ विकरण। लुक्-लुङ्, प्र. पु. बहु.।

स॒भामे॑ति कित॒वः पृ॒च्छमा॑नो जे॒ष्यामीति॑ त॒न्वा॒ ३ शूशु॑जानः।
अ॒क्षासो॑ अस्य॒ वि ति॑रन्ति॒ कामं॑ प्रति॒दीव्ने॒ दध॑त॒ आ कृ॒तानि॑॥६॥

स॒भाम्। ए॒ति॒। कि॒त॒वः। पृ॒च्छमा॑नः। जे॒ष्यामि॑। इति॑। त॒न्वा॑। शूशु॑जानः। अ॒क्षासः॑। अ॒स्य॒। वि। ति॒र॒न्ति॒। कामम्॑। प्र॒ति॒ऽदीव्ने॑। दध॑तः। आ। कृ॒तानि॑॥

(द्यूत-) सभा को जाता है (यह) कितव (स्वयं से) पूछ रहा-
'मैं जीतूंगा क्या?' शरीर से चमक रहा (विश्वास सहित)
पाँसे इसको प्रदान करते हैं इच्छा (फिर क्रीड़ा की)
प्रतिपक्षी के प्रति करते। को उचित कार्य (चालों के)॥

किन्तु जब जुआरी पुनः जुए के लिये द्यूतगृह में जाता है तो उसे सन्देह

होता है कि मैं जीतूंगा भी या नहीं ? विश्वास का तेज फिर भी उसके मुख से प्रकट होता है। और वस्तुतः जाल में फंसाने वाले तो पाँसे ही हैं। जैसे जैसे वह अपनी ओर से प्रतिपक्षी जुआरी के लिये नई उचित चालें चलता है, उसकी आशा बंधती है, मानो पाँसे उसमें और अधिक खेलने की इच्छा उत्पन्न कर रहे हों।

सा.—तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानो दीप्यमानः कितवः कोऽत्रास्ति धनिकस्तं जेष्यामीति पृच्छमानः सभां कितवसम्बन्धिनीमेति गच्छति। तत्र प्रतिदीव्ने प्रतिदेवित्रे कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तानि कर्माणि आ दधतः जयार्थमाभिमुख्येन मर्यादया वा दधतः अस्य कितवस्य कामम्, इच्छाम् अक्षासः अक्षा वि तिरन्ति वर्धयन्ति ॥

त॒न्वा॑—जात्य स्वरित, 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा. ८।२।५) के अनुसार उदात्त अथवा स्वरित के स्थान पर जो यण् होता है उससे परे वाले अनुदात्त का स्वरित होगा। तदनुसार इसका उच्चारण त॒नुआ॑ करना चाहिये। उससे स्वरित तो नियमित (उदात्तानुगामी) होगा ही, साथ ही छन्द में भी एक अक्षर की न्यूनता दूर हो जायेगी।

शूशु॑जानः—मै.-शरीर से काँपता हुआ (ट्रेम्ब्लिग विद् हिज़ बॉडी)। वेल.—(गर्व से वक्षः स्थल) चौड़ा करके, शरीर से बढ़ते हुए—लक्षणा के सहारे अर्थ होगा—गर्व से फूलकर। √श्वज् ('फूलना', मोटा होना')[1] से लिट् कानच्। कतिपय विद्वान् यहाँ आद्युदात्त के कारण इसे यङ्लुगन्त का शानजन्त रूप मानते हैं क्योंकि कानच् में प्रायः अन्तोदात्त होता है।[2]

प्र॒ति॒दीव्ने॑—प्रति√दिव् "कनिन् युवृषितक्षिरजिधन्विद्युप्रतिदिवः" इत्युणादिसूत्रेण कनिन्। चतुर्थ्येकवचने 'अल्लोपोऽनः' इति अलोपे 'हलि च' इति दीर्घे रूपम्।

कृ॒तानि॑—कृतयुगसम्बन्धीनि, वेल.—'कृत' संज्ञा का (सर्वश्रेष्ठ) दान समर्पित करके (वितिरन्ति कामम्) उसकी अभिलाषा को मिट्टी में मिला देते हैं।

अ॒क्षास॒ इदं॑ङ्कु॒शिनो॑ नितो॒दिनो॑ नि॒कृत्वा॑न॒स्तप॑नास्तापयि॒ष्णवः॑।
कु॒मा॒रदे॑ष्णा॒ जय॑तः पुन॒र्हणो॒ मध्वा॒ संपृ॑क्ताः किं॒त॒वस्य॑ ब॒र्हणा॑ ॥७॥

अ॒क्षासः॑। इत्। अ॒ङ्कु॒शिनः॑। नि॒ऽतो॒दिनः॑। नि॒ऽकृत्वा॑नः। तप॑नाः। ता॒प॒यि॒ष्णवः॑। कु॒मा॒रऽदे॑ष्णाः। जय॑तः। पु॒नः॒ऽहनः॑। मध्वा॑। सम्ऽपृ॑क्ताः। कि॒त॒वस्य॑। ब॒र्हणा॑ ॥

[1] ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. ३४०।
[2] वै. व्या. भा. २, पृ. ७६०-१।

पाँसे ही अंकुशयुक्त (वही मर्म-) भेद करने वाले,
वे कृन्तक हैं, तपने वाले और तपाने वाले (भी)।
पुत्रधन देने वाले, विजयी को, फिर फिर आहृत करते,
माधुर्य से युक्त, जुआरी की परिवृद्ध शक्ति (हैं ये तो)॥

पाँसों की शक्ति बहुत बड़ी है। ये उस अंकुश से युक्त महावत के समान हैं जो हाथी जैसे विशाल प्राणी को अपनी इच्छानुसार कहीं भी ले जा सकता है। ये पाँसे भी जिता कर धन के द्वारा पुत्रलाभ-तुल्य आनन्द भी प्रदान करते हैं और हराकर मर्मभेद भी करते हैं—सन्तप्त भी करते हैं।

सा.-अक्षास इत् अक्षा एव अङ्कुशिनः अङ्कुशवन्तः नितोदिनो नितोदितवन्तश्च निकृत्वानः पराजये निकर्तनशीलाश्छेत्तारी वा तपनाः पराजये कितवस्य सन्तापकाः तापयिष्णवः सवस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य सन्तापनशीलाश्च भवन्ति। किं च जयतः कितवस्य कुमारदेष्णाः धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारो भवन्ति। अपि च मध्वा मधुना सम्पृक्ताः प्रतिकितवेन बर्हणा परिवृद्धेन सर्वस्वहरणेन कितवस्य पुनर्हणः पुनर्हन्तारो[1] भवन्ति।

अङ्कुशिनः—पाँसे काँटे के समान टेढ़े मुड़े हुए होते हैं। नि. (५।२८)—अङ्कुशोऽञ्चतेः (√अञ्च् गतौ—क्योंकि यह शरीर में चला जाता है) आकुञ्चितो भवतीति वा (क्योंकि यह मुड़ा हुआ होता है)। इससे तु. यूनानी-ओंकोस, लातीनी—उंकुस, अवेस्ता—अकु।

कुमारदेष्णाः—पूर्वपद पर उदात्त होने के कारण बहुव्रीहि—कुमाराणाम् इव देष्णं दानं येषां ते। वेल.—वे (पाँसे) जिनके उपहार कुमारों याने बच्चों की तरह अनिश्चित हैं। उसी प्रकार पाँसे जिता कर हरा भी देते हैं। सायण की व्याख्या का भाव भी सुन्दर है, परन्तु उसमें समासस्वर-सम्बन्धी व्यत्यय मानना पड़ेगा।

बर्हणा—सायण ने यहाँ 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र से तृतीया विभक्ति का आ माना है। वेल.—शक्ति, √बृह् (बढ़ना, बड़ा होना, मोटा होना)।

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥८॥

त्रिऽपञ्चाशः। क्रीळति। व्रातः। एषाम्। देवःऽइव। सविता। सत्यऽधर्मा। उग्रस्य। चित्। मन्यवे। न। नमन्ते। राजा। चित्। एभ्यः। नमः। इत्। कृणोति॥

---

1. तु. नियतिर्विधाय पुंसां प्रथमं सुखमुपरि दारुणं दुःखम्।
कृत्वालोकं तरला तडिदिव वज्रं निपातयति॥ हर्षचरितम् ६.१।

तीन पचास का खेला करता है दल इनका (उत्तेजक)
देव यथा (हो) सूर्य सत्य धर्म से युक्त (महाबलशाली)।
भीषण के भी क्रोध-निमित्त नहीं झुकते हैं (भीषणतम)
राजा भी इनको नमस्कार ही करता है (क्रीड़ा में)॥

जिस प्रकार सूर्य अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं होता उसी प्रकार इन प्रतापी पाँसों का समूह भी स्वाभीष्ट मार्ग का ही अनुसरण करता है। कोई यह चाहे कि मैं अपने भय से इन्हें झुकाकर अपने पक्ष में कर लूं, तो यह असम्भव है। ये किसी से नहीं झुकते, अपितु तथ्य तो यह है कि जुआ खेलने के समय राजा भी इनका ही प्रभुत्व स्वीकार करके इन्हें प्रणाम करता है।

सा.—एषामक्षाणां त्रिपञ्चाशः त्र्यधिकपञ्चाशत्सङ्ख्याको व्रातः संघः क्रीळति आस्फारे विहरति। अक्षिकाः प्रायेण तावद्भिरक्षैर्दीव्यन्ति हि। तत्र दृष्टान्तः। सत्यधर्मा सविता सर्वस्व जगतः प्रेरकः सूर्यो देव इव। यथा सविता देवो जगति विहरति तद्वदक्षाणां संघ आस्फारे विहरतीत्यर्थः। किंच उग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधाय एते अक्षा न नमन्ते प्रह्वीभवन्ति। न वशे वर्तन्ते तं नमयन्तीत्यर्थः। राजा चित् जगत ईश्वरोऽपि एभ्यो नम इत् नमस्कारमेव देवनवेलायां कृणोति। नावज्ञां करोतीत्यर्थः॥

त्रिपञ्चाशः—अन्तोदात्त स्वर की दृष्टि से बहुव्रीहि, 'बहुव्रीहौ संख्येये डज-बहुगणात्' इति डच् समासान्तः, चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्—त्रिरावृत्ताः पञ्चाशतो यस्मिन्—एक सौ पचास।

न—समस्त ऋग्वेद में केवल इसी स्थल पर 'न' का संहिता में दीर्घत्व प्राप्त होता है।

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥९॥

नीचाः। वर्तन्ते। उपरि। स्फुरन्ति। अहस्तासः। हस्तऽवन्तम्। सहन्ते। दिव्याः। अङ्गाराः। इरिणे। निऽउप्ताः। शीताः। सन्तः। हृदयम्। निः। दहन्ति॥

नीचे (भी) रहते हैं ऊपर प्रकटित होते हैं (क्रम से)
हाथरहित ये हस्तवान् को पराभूत करते हैं (सत्वर)।
दिव्य अंगार भूमि पर डाले हुए (अतीव मायावी)
शीतल (भी) होते हुए हृदय को निःशेष जला देते हैं॥

इस मन्त्र में बहुत ही काव्यात्मक आलङ्कारिक ढंग से पाँसों का महत्त्व और उनकी अतुलित शक्ति बताई गई है। विद्वानों द्वारा इसमें एक साथ

विरोधाभास, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा और विभावना अलङ्कार माने गये हैं।[1] 'अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते' की तुलना में सपदि श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।१९) का यह मन्त्रांश ध्यान में आता है—**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता।**

सा.—अपि चैतेऽक्षाः नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते। तथाप्युपरि पराजयात् भीतानां द्यूतकराणां कितवानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति अहस्तासो हस्तरहिता अप्यक्षाः हस्तवन्तं द्यूतकरं कितवं सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति। दिव्या दिवि भवा अपकृता अङ्गाराः अङ्गारसदृशा अक्षा इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ताः शीताः शीतस्पर्शाः सन्तः अपि हृदयं कितवानामन्तःकरणं निर्दहन्ति पराजयजनितसन्तापेन भस्मीकुर्वन्ति॥

नीचा—क्रियाविशेषण अव्यय, न्यञ्च् (नि+अञ्च्) तृतीया एक।

उपरि—तु. अवे.—उपँरि, यूनानी—ह्-उपॅर, लातीनी—स्-उपॅर, पुरानी उच्च जर्मन—उबिर, जर्मर-उबॅर, अंग्रेजी—ओवर।

हस्तवन्तम्—तु. अवे.—ज़स्तवन्तम्।

सहन्ते—वेद में इसका अर्थ 'पराभूत करना' ही है—षह मर्षणेऽभिभवे छन्दसि

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥१०॥

जाया। तप्यते। कितवस्य। हीना। माता। पुत्रस्य।। चरतः। क्व। स्वित्। ऋणऽवा। बिभ्यत्। धनम्। इच्छमानः। अन्येषाम्। अस्तम्। उप। नक्तम्। एति॥

पत्नी सन्तप्त हो रही जुआरी की विहीन हो (उससे),
माता (भी) पुत्र की घूमने वाले की कहीं कहीं पर।
वह ऋणी हुआ भयभीत (कहीं) धन की अभिलाषा करता
औरों के घर में रात समय जाता है (याचक होकर)॥

हारा हुआ जुआरी घर आकर क्या मुंह दिखाये, इसीलिये वह इधर उधर घूमता रहता है। उसकी पत्नी और माता—दोनों उसके वियोग में सन्तप्त रहती हैं। वह ऋण लेता रहता है, पर उसे उतार नहीं पाता। दिन भर जुआ खेलता है और रात को फिर ऋण मांगने के लिये दूसरे लोगों के घर के चक्कर काटता रहता है। क्योंकि वे लोग तो रात को ही मिलेंगे—दिन में वे अपने अपने कार्य में व्यस्त रहते हैं।

---

१. विस्तृत विवेचनार्थ दे. दिल्ली वि. वि. द्वारा स्वीकृत डॉ० प्रह्लाद कुमार का शोध प्रबन्ध-ऋग्वेदेऽलङ्काराः, अ. ५, पृ. २६०-१, २८१।

सा.—क्व स्वित् क्वापि चरतो निर्वेदादृगच्छतः कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती तप्यते वियोगजनितसन्तापेन सन्तप्ता भवति। माता जनन्यपि पुत्रस्य क्वापि चरतः कितवस्य सम्बन्धाद्धीना तप्यते। पुत्रशोकेन सन्तप्ता भवति। ऋणावा अक्षपराजयादृणवान् कितवः सर्वतो बिभ्यद्धनं स्तेयजनितमिच्छमानः कामयमानोऽन्येषां ब्राह्मणादीनामस्तं गृहम्। 'अस्तं पस्त्यम्' इति गृहनामसु पाठात्। नक्तं रात्रावुप एति चौर्यार्थमुपगच्छति॥

बिभ्यद्धनं—इसका उच्चारण कुछ करने से नियमित स्वर प्राप्त होता है और छन्द में एक अक्षर की न्यूनता दूर हो जाती है।

ऋणावा—'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ'[1] से वनिन्। अन्येषामपि दृश्यते (पा० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घत्वम्।

नक्तमुप एति—वेल.—रात के अन्धेरे में धन चुराने के लिये अथवा अपने पास जो कुछ हो उसे गिरवी रखकर धन लाने के लिये (दूसरों के घर) चला जाता है।[2]

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद॥११॥

स्त्रियम्। दृष्ट्वाय। कितवम्। ततापू। अन्येषाम्। जायाम्। सुऽकृतम्। च। योनिम्। पूर्वाह्णे। अश्वान्। युयुजे। हि। बभ्रून्। सः। अग्नेः। अन्ते। वृषलः। पपाद॥

नारी को देख जुआरी को सन्तप्त किया (उसकी स्थिति ने)
अन्यों की पत्नी को और सुसंस्कृत घर को (भी उनके)।
प्रातः (अक्षरूप) घोड़ों को जोता है उसने भूरों को
वही अग्नि के निकट (रात्रि में) नीच पड़ा है गिरा हुआ॥

हारे हुए जुआरी की जो यह दशा हुई है कि उसकी पत्नी दूसरों की पत्नी बन कर उनके घर में रह रही है और उनके घर सुन्दर सुशोभित सुखपूर्ण हैं, उस स्थिति ने उसे अत्यधिक सन्तप्त किया है। फिर भी वह जीतने की आशा में प्रातः से पाँसों रूपी घोड़ों को द्यूतपटल रूपी मैदान पर दौड़ाता है। किन्तु निराशा उसके हाथ लगती है और रात को फिर वह घर आने का साहस न करके नीचे भूमि पर शीत से बचने के लिये कहीं लोगों द्वारा जलाई गई आग के निकट पड़ा रहता है।

सा.—कितवं कितवः। विभक्तिव्यत्ययः। अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां पुरुषाणां

---

१. दे. पा. ५।२।१०९ पर वार्तिक।

२. ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. १४२।

जायां जायाभूतां स्त्रियं नारीं सुखेन वर्तमानां सुकृतं सुष्ठु कृतं योनिं गृहं च दृष्ट्वाय मज्जाया दुःखिता गृहं चासंस्कृतमिति ज्ञात्वा तताप तप्यते। पुनः पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रून् बभ्रुवर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति। पुनश्च वृषलः वृषलकर्मा सः कितवो रात्रौ अग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते॥

कि॒त॒वम्—सायण के अनुसार विभक्तिव्यत्यय मानने की आवश्यकता नही क्योंकि यह तताप का कर्म है। √तप् ऋग्वेद में सकर्मक धातु है।

यु॒यु॒जे—वाक्य के मध्य में होते हुए भी यह तिङन्त पद 'हि' के कारण सोदात्त है।

यो वः॑ सेना॒नीर्म॑ह॒तो ग॒णस्य॒ राजा॒ व्रात॑स्य प्रथ॒मो ब॒भूव॑।

तस्मै॑ कृणोमि॒ न धना॑ रुणध्मि॒ दशा॒हं प्राची॒स्तदृ॒तं व॑दामि॥१२॥

यः। वः॒। से॒ना॒ऽनीः। म॒ह॒तः। ग॒णस्य॑। राजा॑। व्रात॑स्य। प्र॒थ॒मः। ब॒भूव॑। तस्मै॑। कृ॒णो॒मि॒। न। धना॑। रु॒ण॒ध्मि॒। दश॑। अ॒हम्। प्राचीः॑। तत्। ऋ॒तम्। व॒दा॒मि॒॥

जो तुम्हारे सेनापति इस विशाल समूह का (पाँसो!)

राजा इस महासंघ का प्रमुख हुआ है (अति बलिष्ठ जो)।

उसको करता हूँ (नमस्कार) नहीं धन को हूँ रोक रहा

दस (अंगुलियों) को मैं पीछे (करता) यह सत्य कहता हूँ॥

यह एक निराश जुआरी की उक्ति है। अब वह पाँसों रूपी देवों के प्रमुख के सम्मुख अपनी स्थिति स्पष्ट करता है। उसी को वह नमस्कार करता है। वह बताता है कि मैंने कभी धन को रोका नहीं जिससे पाँसे रुष्ट न हो जायें, और अब मैं सत्य कहता हूँ कि प्रतिज्ञापूर्वक इन दस अंगुलियों अर्थात् दोनों हाथों को जुए से हटा रहा हूँ। पूर्वोक्त मन्त्रों में वर्णित महती कष्टानुभूति के पश्चात् जुआरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा करता है।

सा.—हे अक्षाः! वः युष्माकं महतो गणस्य संघस्य यः अक्षः सेनानीः नेता बभूव भवति व्रातस्य च। गणव्रातयोरल्पो भेदः। राजा ईश्वरः प्रथमो मुख्यो बभूव तस्मै अक्षाय कृणोमि अहमञ्जलिं करोमि। अतः परं धना धनानि अक्षार्थमहं न रुणध्मि न सम्पादयामीत्यर्थः। एतदेव दर्शयति। अहं दशसंख्याकाः अङ्गुलीः प्राचीः प्राङ्मुखीः करोमि। तद् एतदहमृतं सत्यमेव वदामि, नानृतं वदामीत्यर्थः॥

प्राचीः कृणोमि—वेल.—फैलाकर दिखाता हूँ, दसों अंगुलियाँ आगे बढ़ाकर दिखाता हूँ, यानी कुछ भी छिपाकर नहीं रखता।[1]

---

१. ऋक्सूक्तवैजयन्ती, पृ. ३४२-३।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥१३॥

अक्षैः । मा । दीव्यः । कृषिम् । इत् । कृषस्व । वित्ते । रमस्व । बहु । मन्यमानः । तत्र । गावः । कितव । तत्र । जाया । तत् । मे । वि । चष्टे । सविता । अयम् । अर्यः ॥

पाँसों से मत खेलो (कदापि) खेती ही बस करो (सदा)[1]
(कृषि के) धन में रमण करो (उसे ही) बहुत मानते हुए ।
वहीं पर गायें अरे जुआरी ! वहीं (तुम्हारी पत्नी),
यह मुझे विविध रूप में कहा सविता ने इस गतिमय ने ॥

कटु अनुभव प्राप्त करके शिक्षा ग्रहण करने वाले जुआरी का यह आत्म-निवेदन है । अब वह जान गया है कि अपने हाथ से कार्य करके आजीविका प्राप्त करने से अच्छा और कुछ भी नहीं है । यह शिक्षा उसने अपने आस पास महाशक्तियों का निरीक्षण करके प्राप्त की है । सविता अर्थात् सूर्य सदा गतिशील रहता है (**पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्**) । इसी कारण यहाँ सविता का अर्य (√ऋ गतौ से निष्पन्न) विशेषण साभिप्राय है । अन्यथा अर्य का अर्थ स्वामी है किन्तु उसमें भी सम्भवतया मूलभावना यही है कि जो कार्य-निरत रहता है, वही सबका स्वामी हो सकता है ।

सा.—हे कितव ! बहु मन्यमानः मद्वचने विश्वासं कुर्वंस्त्वम् अक्षैर्मा दीव्यः द्यूतं मा कुरु । कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु । वित्ते कृष्या सम्पादिते धने रमस्व रतिं कुरु । तत्र कृषौ गावो भवन्ति । तत्र जाया भवति । तदेव धर्मरहस्यं श्रुतिस्मृतिकर्ता सविता सर्वस्य प्रेरकः अयं दृष्टिगोचरः अर्यः ईश्वरः वि चष्टे विविधमाख्यातवान् ॥

वि चष्टे—मुझे बताता है—मेरे लिये प्रकट करता है । पदपाठ में उपसर्ग और क्रिया को पृथक् पद माना जाता है, किन्तु क्रिया सोदात्त होने पर नहीं, क्योंकि उस स्थिति में उपसर्ग सर्वानुदात्त हो जाता है—उपसर्गपूर्वमाख्यातमनुदात्तं विगृह्यते । उदात्तं यत् समस्यते उपसर्गो निहन्यति ॥[2]

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु ।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥१४॥

१. अक्षैर्मेति ननु श्रुतिः श्रुतिपथं प्रायः प्रविष्टा न किं
सौख्यं वा हलजीविनामनुपमं भ्रातर्न किं पश्यसि ?
किं वक्ष्ये तदपि क्षितीश्वरबहिर्द्वारप्रकोष्ठस्थली-
दीर्घावस्थितिरौरवाय कुरुते हा हन्त दीर्घस्पृहाम् ॥ (बालकविकृत महिषशतक)

२. दे. वै. व्या. भा. १, पृ. १६४-५ ।

मित्रम् । कृणुध्वम् । खलु । मृळत । नः । मा । नः । घोरेण । चरत । अभि । धृष्णु । नि । वः । नु । मन्युः । विशताम् । अरातिः । अन्यः । बभ्रूणाम् । प्रऽसितौ । नु । अस्तु ॥

मित्र बनाओ निश्चय ही (हे अक्षो !) सुखी करो हमको,
नहीं हमारे प्रति भीषण (कर्मों) से आओ धृष्ट बने।
तुम्हारा सत्वर ही क्रोध बैठ जाए अरु दानहीनता,
दूसरा कोई भूरों के बन्धन में सत्वर हो जाये ॥

अन्त में जुआरी पांसों से प्रार्थना करता है कि वे उसके मित्र हो जायें और उसे अपने जाल में फंसा कर कष्ट न दें। अब वह अपना पूर्ण जीवन सुधारना चाहता है, इसलिये वह द्यूतक्रीड़ा से पृथक् होना चाहता है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार से अक्षदेवताओं का उसके प्रति क्रोध और दानहीनता की भावना शान्त हो जायेंगे। अब तो कोई दूसरा ही उसके समान दुःखी होकर शिक्षा ग्रहण करने के लिये बभ्रुवर्ण पांसों के बन्धन में फंसेगा।[1]

सा.—हे अक्षाः ! यूयं मित्र कृणुध्वमस्मासु मैत्रीं कुरुत। खलु इति पूरणः। नः अस्मान् मृळत सुखयत च। नः अस्मान धृष्णु धृष्णुना, तृतीयार्थे प्रथमा। घोरेण असह्येन मा अभि चरत मा गच्छत किंच वः युष्माकं मन्युः क्रोधः अरातिः अस्माकं शत्रुः नि विशताम् अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु। अन्योऽस्माकं शत्रुः कश्चित् बभ्रूणां बभ्रुवर्णानां युष्माक प्रसितौ प्रबन्धने नु क्षिप्रमस्तु भवतु ॥

खलु—यह शब्द समस्त ऋग्वेद में केवल यहीं प्रयुक्त हुआ है।

मृळत—संहिता में इसका दीर्घान्त रूप ध्यान देने योग्य है (पा. ६।३।१३३—ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्)। वाक्य के आरम्भ में होने के कारण यह तिङन्त पद भी सोदात्त है।

धृष्णु—क्रियाविशेषण अव्यय, धृष्टतापूर्वक।

मा अभिचरत—ऋग्वेद में केवल इसी स्थल पर 'मा' के साथ लोट् लकार का प्रयोग हुआ है।

नु, अस्तु—संहिता में प्रतीयमान जात्य स्वरित का परिहार व्यूह करके 'नु अस्तु' उच्चारण करने से हो जाता है और छन्द में एक अक्षर की न्यूनता भी पूर्ण हो जाती है।

१. वेलणकर के मतानुसार पिछले मन्त्र में अक्षों के राजा ने उपदेश दिया था जिससे कितव को प्रतीत हुआ कि अक्षों का समूह और उनके राजा भी उसके प्रति सहानुभूति रखते हैं, और इसी से प्रेरित होकर वह इस ऋचा में उनसे विनम्र प्रार्थना कर रहा है—अक्षसूक्तवैजयन्ती, पृ. ३४३।

हिरण्यगर्भः

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद की सामान्य विचारधारा से हटकर यह सूक्त महत्त्वपूर्ण एकेश्वरवादी सूक्त है। उनका विचार है कि प्रसिद्ध इन्द्र-सूक्त (सजनीय-ऋ. २।१२) के अनुकरण पर रचित यह सूक्त ऋग्वेद का परवर्ती सूक्त है। किन्तु उक्त दोनों सूक्तों में जो साम्य इन विद्वानों द्वारा दिखाया गया है, वह सर्वथा आकस्मिक और ऊपरी है। वस्तुतः तो यह कहना अधिक उचित होगा कि सम्पूर्ण ऋग्वेद में भिन्न भिन्न देवताओं के नामों के अन्तर्गत जो एकात्मवाद की भावना व्याप्त है, यह सूक्त उसी भावना को सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसङ्ग में विशुद्ध दार्शनिक शब्दावली में प्रस्तुत करता है।

जैसा कि इसी सूक्त में प्रजापति के एक नाम 'क' के तथा अन्तिम मन्त्र में स्वयं प्रजापति के उल्लेख से और अन्य सन्दर्भों से[1] प्रकट है, हिरण्यगर्भ और प्रजापति एक ही तत्त्व हैं। हिरण्यगर्भ अर्थात् सुवर्णमय गर्भ या सुवर्णमय अण्डा सृष्टि के आदि जल, **'आपः'** या **'अप्रकेत सलिल'** में स्वयं प्रकट होने वाला वृहद् अण्डाकार तत्त्व है। इसके विषय में इसी सूक्त के सप्तम मन्त्र में संकेत है। श. ब्रा. (११।१।६।१) में यह तथ्य और अधिक स्पष्टतया वर्णित है—**आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यंस्तास्तापोऽतप्यन्त, तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सम्बभूवाजातो ह तर्हि संवत्सर आस, तदिदं हिरण्यमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत ॥** श. ब्रा. (२।२।३।२८) में हिरण्य को अग्नि का रेत कहा गया है (**अग्ने रेतो हिरण्यम्**)। इसीलिये हिरण्यगर्भ को सृष्टि का आदि अग्नितत्त्व भी माना जाता है। यही आद्य प्राण है क्योंकि प्राण को वसिष्ठ बताया गया है (**प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः**)[2] और अग्नि को भी वसिष्ठ कहा गया है (**अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः**)[3]। इसी आदि प्राण को सूर्य भी कहा गया है—**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (ऋ. १।११५।१) तथा **प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः** (प्रश्नोपनिषद् १।८)। इसी तत्त्व को **'अपां नपात्'** या **'अपां गर्भः'** कहा जाता है और

---

१. श. ब्रा. ११।१।६।१, २—तासु (अप्सु) हिरण्यमाण्ड सम्बभूव।...ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः॥

२. श. ब्रा. ८।१।१।६, वा. सं. १३।५४; ३. ऐ. ब्रा. १।२८, ऋ. २।६।१।

इसी के विषय में 'अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य (ऋ. १०।५।७)वचन है। जिस जल में यह प्रकट होता है उसे पुराणों में युगान्ततोय, नीहारिका (वैदिक नभस्वान् समुद्र—वा. सं. १३।३१) अभिहित किया गया है। यही सूर्य से पूर्व की अवस्था है। इसे ही आधुनिक खगोल विज्ञान की भाषा में 'नेबुला' कहते हैं। इसी समुद्र से सूर्य का जन्म होने का उल्लेख है—**अत्रा समुद्रमागूळहमा सूर्यमजभर्तन** (ऋ. १०।७२।६)। सम्भवतया सूर्यजन्म से पूर्व की स्थिति को पुराणों में शेषशायी विष्णु (नारायण) के रूप में वर्णित किया गया है—

एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः।
भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः॥ (विष्णु पु. १।३।२३)

इस महासलिल में प्रकट हुए हिरण्यगर्भ की तीन गतियां बताई गई हैं। सर्वप्रथम तो आपः में ऊर्मियों के उत्पन्न होने से समेषण हुआ—**त ऊर्मयः समास्यन्त फाश्ल् फाश्लिति। तद्धिरण्यमाण्डं समैषत्** (जैमिनि ब्राह्मण ३।३६०)। तदनन्तर प्रसर्पण अर्थात् आगे बढ़ने की क्रिया हुई-**सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रासर्पत्** (ताण्ड्य ब्रा. १९।११)। अन्त में उसने परिप्लवन अर्थात् तैरते हुए चारों ओर परिभ्रमण करने की क्रिया की (दे. ऊपर श. ब्रा. ११।१।६।१)। परिप्लवन की क्रिया एक संवत्सर तक हुई। प्रजापति हिरण्यगर्भ का एक संवत्सर मनुष्य के सहस्र वर्षों के तुल्य है। (स सहस्रायुर्जज्ञे)। उसके पश्चात् वह अण्डा दो भागों में विभाजित हो गया—**संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत। स इदं हिरण्यमाण्डं व्यसृजत्** (श. ब्रा. ११।१।६।२)।[1]

जब वह अंडा दो भागों में विभाजित हुआ तो उसके एक भाग (रजतमय) से पृथ्वी बनी और दूसरे भाग (सुवर्णमय) से द्युलोक बना—**ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्। तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी। यत् सुवर्णं सा द्यौः** (छान्दोग्योपनिषद् ३।१९।१-२)। इस प्रकार यह हिरण्यगर्भ आपः के बाद समस्त सृष्टि का मूलकारण है। पुराणों में अनन्त ग्रह और तारागणों के आधारभूत करोड़ों ऐसे अण्डों का उल्लेख है—

अण्डानामीदृशानां तु कोट्यो ज्ञेयाः सहस्रशः।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च कारणस्याव्ययात्मनः॥ (वायु पु. ४९।१५१)

लिङ्ग पुराण (१।३।२९, ३०) में बताया गया है कि अण्डे में ये सभी लोक और उनके भीतर की समस्त सृष्टि समाहित होती है—**तस्मिन्नण्डे त्विमे**

---

१. तु. अन्ते वर्षसहस्रस्य वायुना तद्द्विधा कृतम्।—वायु. पु. २४।७४।
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा॥ मनु. १।१२।
हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्।
अण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः॥ भागवत पु. ३।६।६।

लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत्। अण्ड की इसी धारणा के आधार पर आधुनिक जीवविज्ञान के अनुसार अनेक कोषों द्वारा शरीर-रचना की व्याख्या की जा सकती है। इस अण्डे के समान ही इन कोषों में शरीर के सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान रहते हैं। "कोष के भीतर जो प्राणरस या कलल (प्रोटोप्लाज़्म) रहता है वही आपः या नाराः के तुल्य है। माता का भ्रूण पिता के शुक्र से गर्भित होता है। इन दोनों के सम्मिलन से जो एक कोष अस्तित्व में आता है वह संवर्धन की प्रक्रिया द्वारा एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह—इस अनुपात से बढ़ता हुआ पूरे शरीर यन्त्र का निर्माण कर लेता है।"[1]

ऋ० १०।१२१

ऋषिः—प्रजापतिपुत्रो हिरण्यगर्भः, देवता—कशब्दाभिधेयः प्रजापतिः। छन्दः—त्रिष्टुप्।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

हिरण्यऽगर्भः। सम्। अवर्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। आसीत्। सः। दाधार। पृथिवीम्। द्याम्। उत। इमाम्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥

हिरण्यगर्भ प्रजापति जन्मा सबसे ही पहले (था),
प्राणिमात्र का, उत्पन्न हुआ, पालक एक (वही) था।
उसने धारण किया धरा को, (अरु) नभ को भी इसको,
किस (अन्य) देव को हवि को द्वारा करें समर्पित पूजा?

सकल सृष्टि का आदिस्रोत ज्योतिर्मय गर्भभूत तत्त्व ही परमेश्वर द्वारा सर्वप्रथम उत्पन्न किया गया। उस समय कोई और तत्त्व नहीं था। वही आगे होने वाले प्राणिमात्र का पालनकर्ता था। उसने ही विशाल पृथ्वी अर्थात् भौतिक जगत् और आकाश अर्थात् तेजोमय जगत् को धारण किया अर्थात् अपने नियन्त्रण में रखा हुआ था। यही तत्त्व इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके अतिरिक्त कोई अन्य पूजनीय नहीं रह जाता। इसीलिये प्रश्न किया गया है कि इस तत्त्व को छोड़ और किस दिव्य तत्त्व की पूजा करें? वास्तविक तत्त्व तो यही है।

समवर्तत—हुआ या उत्पन्न हुआ। जैसे कि मन्त्र के पूर्वार्ध की इस और 'आसीत्' इन दो क्रियाओं से प्रकट है, प्रायः सभी भाष्यकारों ने इसमें दो वाक्य

---

१. वा. श. अग्रवाल, वेदरश्मि, पृ. ३२।

माने हैं। स्वा. द. ने (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में) पूर्वार्ध में एक ही वाक्य माना है—सृष्टेः प्राक् परमेश्वरो जातस्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्तत। इस व्याख्या में उन्हें जातः का विभक्ति-व्यत्यय करके जातस्य मानना पड़ा है और आसीत् क्रिया का समवर्तत में ही विलय हो गया है।

भूतस्य—या., वें.—भूतस्य, उवट, महीधर-उत्पन्नस्य प्राणिजातस्य, सा.-विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः, स्वा. द.—उत्पन्नस्य कार्यरूपस्य जगतः, मक्स., मुइर—जो कुछ भी है उसका, पीटर्सन—प्रत्येक प्राणी का (आफ़ एवरी क्रीचर), गेल्ड.—देग्रर शोयप्फुंग (सृष्टि का) ह. शं.[1]—दैवी तत्त्वों या पूर्वावर्णीय २४ तत्त्वों का; ये तत्त्व प्रत्येक ब्रह्माण्ड की आत्मायें हैं, अतः भूत माने लोक में प्रायः प्राणी होता है।

पतिः—सभी विद्वान्—स्वामी या ईश्वर। परन्तु स्वामित्व या ईश्वरत्व के मूल में शासन की भावना नहीं, पालनकर्ता की भावना है। दे० ह० शं०—इस ऋचा में पति का अर्थ पालक या संरक्षक है।

दाधार—'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० ६।१।७) के आधार पर अभ्यास का दीर्घत्व। अन्यथा दधार रूप बनता। या०, वें०, सा०, गेल्ड०, पी०—धारयति, धारण करता है स्वा० द०-धारितवानस्ति, मक्स., मुइर.—थामा (एस्टेब्लिश्ड), ह. शं०-धारण किया।

पृथिवीम्, द्याम्—सभी भाष्यकारों ने इसका अर्थ 'भूमि और आकाश' किया है। उव्वट, महीधर ने 'तीनों लोक' अर्थ किया है—अन्तरिक्षं द्युलोकं चेमां भूमिं लोकत्रयं धारयति (सा०-यद्वा पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम अन्तरिक्षं दिवं भूमिं च धारयति)। किन्तु ह० शं० का वक्तव्य द्रष्टव्य है—"क्या वैदिक ऋषि की दृष्टि इतनी सङ्कुचित थी जो केवल दृश्यमान अन्तरिक्ष और पृथिवी को लेकर ऐसी उधेड़बुन करती ?...ये पूर्वार्ध और उत्तरार्ध हैं। पूर्वार्ध में आध्यात्मिक सृष्टि का विकास एकरूपता और अखण्डरूपता में होता है तो उत्तरार्ध में भौतिक सृष्टि का खण्ड-खण्डशः, व्यक्ति-व्यक्तिशः।"

कस्मै—या० (नि० १०।२२)—कः कमनो वा क्रमणो वा, सुखो वा (कामियों की कामनाओं का साधन या स्वयं बहुत्व की कामना करने वाला—एकोऽहं बहु स्याम्—सबकी गति का साधन, सुखमय अथवा सुख प्रदान करने वाला—प्रजापति), मै० सं० (१।१०।१०), का० सं० (३६।५), श० ब्रा० (७।४।१६)—प्रजापतिर्वै कः, लुड्विग—क देव को—इन सभी व्याख्याओं में संज्ञा शब्द 'क' के साथ सर्वनाम-प्रत्यय 'स्मै' के संयोग की समस्या है। इसके समाधान के लिये अन्य इसी प्रकार के वैदिक प्रयोग दिये गये हैं यथा

१. हरिशंकर जोशी, वैदिक विश्व दर्शन, भाग २, पृ. ७६२ से।

'परमस्याम्, मध्यमस्याम्, अवमस्याम्'। इसके अतिरिक्त पाणिनि (४।२।२५) के सूत्र 'कस्येत्' के भाष्य में पतञ्जलि ने उपर्युक्त समस्या का यह समाधान प्रस्तुत किया है कि 'सर्व' की सर्वनाम संज्ञा की जाती है। और 'सर्व' (सब कुछ) प्रजापति है, प्रजापति 'क' है। अतः 'क' के साथ सर्वनाम-प्रत्यय का सयोग सर्वथा व्याकरण-सम्मत है। (सर्वस्य हि सर्वनामसंज्ञा क्रियते। सर्वश्च प्रजापतिः प्रजापतिश्च कः)। उव्वट०—काय इति प्राप्ते स्मै आदेशश्छान्दसः। प्रजापतये देवाय, मही०—काय प्रजापतये देवाय। सा०—अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते (क्योंकि प्रजापति का स्वरूप विदित नहीं, अतः प्रश्नवाचक किम् शब्द यहाँ प्रजापति के अर्थ में है)। स्मै प्रत्यय के विषय में सायण ने दो विकल्प रखे हैं—यदासौ किं शब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः। यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्। इसके अतिरिक्त यास्क के निवचनों के आधार पर सायण ने ये अर्थ भी दिये हैं—सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः। कमेर्ड-प्रत्ययः (√कम् इच्छा करना से ड प्रत्यय लगाकर 'सृष्टि के लिये कामना करता है' अर्थ में क शब्द है), अथवा कं सुखं तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते (क का अर्थ सुख है, सुखस्वरूप होने के कारण प्रजापति को क कहा जाता है। फिर सायण ने 'क' का अर्थ स्पष्ट करने के लिये तै० ब्रा० (२।२।१०।१-२) की आंशिक कथा दी है—इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदीदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते। वहाँ की पूर्ण कथा का भाव इस प्रकार है—"प्रजापति ने देवों के पीछे इन्द्र को बनाया और कहा 'जाओ तुम इन देवों के अधिपति बनो।' देवों ने कहा—तुम हो कौन? हम तुमसे बड़े हैं। इन्द्र प्रजापति के पास आया और बोला—'देव कहते हैं—तुम हो कौन? हम तुमसे बड़े हैं। प्रजापति के पास वह तेज था जो आदित्य में है। इन्द्र ने कहा अपना यह तेज मुझे दे दो तो मैं देवों का अधिपति बन सकूँगा। प्रजापति ने कहा—इसे दे दूं तो फिर मैं क्या रहूँगा? इन्द्र ने कहा—तुम 'क्या' (कः) रहोगे। अतएव प्रजापति की संज्ञा क है। इस ज्ञान से इन्द्र देवों का अधिपति बन गया।[1] वें०—तस्मै, स्वा० द०-तस्मै सुखस्वरूपाय। सभी पाश्चात्य विद्वानों ने इसे प्रश्नवाचक सर्वनाम मानकर इसका अर्थ 'किसको' किया है। परन्तु वस्तुतः बहुत ही काव्यात्मक ढंग से काकू द्वारा यहाँ बताया गया है कि 'उपर्युक्त महत्त्व तथा विशेषताओं वाले हिरण्यगर्भ के अतिरिक्त किस अन्य देव की हम उपासना करें?' अर्थात् किसी की भी नहीं, वही एक उपासनायोग्य है। जैमिनीसूत्र १०।३।१५ पर

---

१. दे. वा. श. अ., वेदरश्मि, पृ. २।

शबरस्वामी के भाष्य में 'कस्मै' के प्रारम्भ में 'एकार लोप की कल्पना करके 'एकस्मै'—'एकमात्र परमेश्वर को' अर्थ किया गया है (कस्मै देवाय हविषा विधेमेति । एकस्मै देवायेत्यर्थः । एकारलोपेनैतच्छब्दविज्ञानादर्थप्रत्ययो भवति)।

हविषा, विधेम—या०-विधतिर्दानकर्मा, वें०-हविषा परिचरणं कुर्मः (इन्होंने विधिलिङ् न मानकर लट् लकार माना है), सायण ने √विध् का अर्थ परिचर्या करना (निघं० ३।५) मानकर यज्ञ-परक व्याख्या की है। तदर्थ उसे 'कस्मै' में भी कर्म के अर्थ में सम्प्रदानत्व मानकर चतुर्थी माननी पड़ी है। —क्रियाग्रहणं कर्तव्यम् इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । कं प्रजापतिं देवाय देवं दानादिगुणयुक्तं हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैककपालात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम। मक्स०, मुइर, लुड्विग—हम आहुति या होम अर्पित करें ? पी.—हम आहुति लायें ? गेल्ड०-हम आहुति से सेवा करें ? (मित् ऑफ़र दीनन ज़ॉल्लन ?)। आहुति यहाँ समस्त पूजाभाव का प्रतीक है। 'आहुतिद्वारा अर्पित करें' का भाव है कि 'पूजा समर्पित करें ?' उव्वट, मही०-हविर्दद्मः इति विभक्तिव्यत्ययः। स्वा० द०-आत्मादिसर्वस्वदानेन परिचरेम सेवेमहि।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

यः । आत्मऽदाः । बलऽदाः । यस्य । विश्वे । उपऽआसते । प्रऽशिषम् । यस्य । देवाः । यस्य । छाया । अमृतम् । यस्य । मृत्युः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥

जो आत्मा का दाता बल का दाता जिसके सभी
करते उपासना आदेश की जिसके देव (त्वरा से)।
जिसकी छाया है अमरत्व जिसकी है मृत्यु (भी तो)
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ? ॥

वह प्रजापति ही सबका आत्मदाता अर्थात् उनके उनके स्वरूपों को प्रदान करने वाला या उनका स्रष्टा है, वही सबको बल प्रदान करता है। इसीलिये सब प्राणी—देव तक उसके शासन में रहते हैं। निस्सन्देह उसकी शरण में अमरत्व ही है, इसलिये मृत्यु को भी उससे पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि विलय के बिना सृष्टि की कल्पना नहीं हो सकती। या मरणधर्मा प्राणियों और अमर देवों दोनों पर उसका समान नियन्त्रण है। इतना महान् है वह स्रष्टा।

आत्मऽदा—वें०—शरीरबलयोः दाता, उ०, मही०, स्वा० द०-आत्मानं ददाति, उपासकानां सायुज्यप्रदः। सा०-आत्मनां दाता, आत्मानो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते, यथाग्नेः सकाशाद्विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत्, यद्वा

आत्मनां शोधयिता(√दैप् शोधने से) दूसरे शब्दों में 'सभी प्राणियों में आत्म-तत्त्व के रूप में विद्यमान।' सभी पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ 'प्राणदाता' (गिवर ऑफ़ ब्रेथ) करते हैं। तु० ऋ० १०।१६८।४—आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः॥

विश्वे'—वें., उ०, महीο-सर्वे मनुष्याः, सा०, महीο, पी.-सर्वे प्राणिनः, स्वा० द०, मक्स०, लुड्विग-विश्वे देवाः, ऑल दि ब्राइट गॉड्स (सभी देवता) —परन्तु इस व्याख्या में दूसरा 'यस्य' अव्याख्यात रह जाता है। तभी स्वा० द० को दूसरे 'यस्य' की भावपूर्ति इस प्रकार करनी पड़ी—यस्य सकाशात् सर्वे व्यवहारा जायन्ते। मुइर-ऑल, (ईवन) दि गॉड्स, गेल्ड०-सभी—इसके अनुसार दूसरे 'यस्य' के द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि सर्वज्ञ देव भी उसके अधीन हैं। परन्तु टिप्पणी में इन्होंने इसका 'सभी देवता' अर्थ भी स्वीकार किया है।

छाया, अमृतम्—तृतीय पाद में छन्दःपूर्ति के लिये इन दो शब्दों का उच्चारण सन्धि-विच्छेद करके किया जाना चाहिये। अथवा इसे निचृत्-त्रिष्टुप् छन्द भी मानते हैं। वें०-यस्य च छाया मृत्युः अमृतं च भवति। येनाच्छादितो जीवति म्रियते च सा छाया इति। उ०, महीο-आश्रयो ज्ञानपूर्वमुपासनम् अमृतं मुक्तिहेतुः, यस्य अज्ञानमिति शेषः मृत्युः संसारहेतुः। सा०—अमृतम् अमृतत्वम्, यद्वा अमृतम्, मरणं नास्त्यस्मिन्नित्यमृतं सुधा, तदपि यस्य प्रजापतेः छायेव भवति, मृत्युः यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति (सायण ने छाया का सम्बन्ध दूसरे 'यस्य' से भी माना है)। स्वा० द० ने भी उ० और महीο के समान छाया का अर्थ 'आश्रय' किया है और उन्हें भी दूसरे 'यस्य' के आगे भावपूर्ति के लिये 'आज्ञाभङ्गः' का अध्याहार करना पड़ा है अर्थात् 'जिसका आज्ञाभंग मृत्यु है।' मक्स०, मुइर, गेल्ड०-जिसकी छाया अमरत्व है और जिसकी छाया मृत्यु है। इन विद्वानों ने भी सायण के समान छाया का सम्बन्ध दूसरे 'यस्य' से भी माना है। लुड्विग, पी. प्रभृति विद्वानों ने दूसरे 'यस्य' का छाया से कोई सम्बन्ध नहीं माना। तदनुसार—जिसकी छाया अमरत्व है और जिसकी मृत्यु है (हिज़ शेडो इज़ इम्मॉर्टेलिटी, एण्ड हिज़ इज़ डेथ)। गेल्डनर ने टिप्पणी में इस उक्ति का भाव स्पष्ट करते हुए कहा है—वह स्वयं मृत्यु और अमरत्व से ऊपर रहता है। ह० शं०—अमृत या देवता उसकी छाया हैं, "जितनी समानता छाया की उसके वास्तविक तत्त्व से होती है उतनी ही समानता इनमें है। ....मृत्यु नाम भौतिकताप्रधान आसुरी सृष्टि का है ..मृत्यु नाम संवत्सर रूप काल प्रजापति का भी है, कः ही काल प्रजापति भी है। यह मृत्यु उसके वश में है, वह भौतिक शरीरहीन होने से मृत्यु रूप का भी है।"[१]

---

१. वैदिक विश्वदर्शन, भाग २, पृ. ७६४।

य॒: प्रा॑ण॒तो नि॑मिष॒तो म॑हि॒त्वैक॒ इद्राजा॒ जग॑तो ब॒भूव॑ ।
य ईशे॑ अ॒स्य द्वि॒पद॒श्चतु॑ष्पद॒: कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥३॥

यः । प्रा॒ण॒तः । नि॒ऽमि॒ष॒तः । म॒हि॒ऽत्वा । एकः॑ । इत् । राजा॑ । जग॑तः । ब॒भूव॑ । यः । ईशे॑ । अ॒स्य । द्वि॒ऽपदः॑ । चतुः॑ऽपदः । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ।

जो प्राण लेते पलक झपकते (जन्तु) का महत्त्व से
एक ही शासक (तेजःपूर्ण) जगत् का बना हुआ है ।
जो शासन करता इन (सभी) द्विपाद चतुष्पादों पर,
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ? [1]।

उस स्रष्टा प्रजापति का महत्त्व इतना है कि जितना भी विशाल गतिशील संसार है, उस सबका वह अकेला ही राजा है—अपने प्रकाश से सबको दीप्त करता है। इसके सभी प्राणी, मनुष्य और पशु-पक्षी सभी उसके नियन्त्रण में ही प्राण लेते हैं। उनकी पलक झपकने तक की सहज क्रिया भी उस प्रजापति के महत्त्व तथा नियन्त्रण में ही होती है।

प्रा॒ण॒तः, नि॒मि॒ष॒तः—उ०-प्राणनं कुर्वतः भूतग्रामस्य, निमेषणं कुर्वतः क्रियावतः इत्यर्थान्तरम्, मही०-प्राणनं जीवनं कुर्वतो, नमेषण कुर्वतः, उपलक्षणमेतत्, दृगादीन्द्रियव्यापारं कुवतः सचेतनस्य जगतः (जीवित रहते हुए तथा नेत्रादि इन्द्रियों की क्रियाएँ करते हुए सचेतन जगत् का), सा०-प्रश्वसतः, अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः, स्वा० द०-प्र णिनः, नेत्रादिना चेष्टां कुर्वतः, मक्स०-ऑफ़ दि ब्रीदिंग्, एण्ड् टिवक्लिग् वर्ल्ड (प्राण लेते तथा झिलमिलाते हुए संसार का), मुइर, लुड्विग—ऑफ़ दि ब्रीदिंग एण्ड विंकिंग वर्ल्ड (प्राण लेते तथा पलक झपकते संसार का), पीटसन, गेल्ड०—ऑफ़ ब्रेथ एंड स्लीप, वास आत्मत उन्त् श्लूमर्त (प्राण लेने वाले और सोने वाले का)। पीटर्सन ने यह टिप्पणी दी है—सोने वाला संसार अर्थात् उस स्वर्ग से विभिन्न पृथ्वी जिसके निवासी न तो सुस्ताते हैं और न सोते हैं।[1] साधारणतया शतृप्रत्ययान्त शब्द का प्रत्यय उदात्त होता है, किन्तु उपर्युक्त दोनों पदों में उक्त प्रत्यय होने पर भी आगे नुम्-आगम न होने पर तथा सर्वनामस्थान से भिन्न अजादि विभक्ति होने पर विभक्ति उदात्त है (पा० ६।१।१७३—शतुरनुमो नद्यजादी)।

---

१. प्रजापति अपनी सर्वशक्तिमत्ता द्वारा (पूर्वार्ध में) प्राणरूप सृष्टि का विकास करते हुए (उत्तरार्ध में चक्षु नामक) सूर्य तत्त्व का निमिषोन्मीलन करके, इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का केवल एक राजा 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' स्वरूपी तत्त्व बनता है, वह पहले उस द्विपदीय (जीवात्मा, और उसके साथ त्रिपदीय तैजसात्मा) का विकास करता है, फिर उसी से चतुष्पाद ब्रह्म का विकास करने में समर्थ हुआ। ह. शं., वैदिक विश्व दर्शन, भाग २, पृ. ७६५।

द्विपदः—दो पाँव वाले का । द्वौ पादौ यस्य सः द्विपात् । 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा० ५।४।१४०) से पाद के अन्त्य अकार का लोप । सर्वनामस्थानभिन्न प्रत्यय के कारण भसंज्ञा होने पर 'पादः पत्' (पा० ६।४।१३०) से पात् का पत् होकर द्विपदः रूप बना । अब बहुव्रीहि समास होने के कारण इसके पूर्वपद में प्रकृति-स्वर प्राप्त होता है, परन्तु 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ' (पा० ६।२।१९७) के अनुसार द्वि के आगे उत्तरपद में पात् शब्द आने पर अन्तोदात्तत्व प्राप्त हुआ । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० २।३।५२) के अनुसार √ईश् के कर्म में षष्ठी विभक्ति है । यहाँ जाति का द्योतक एकवचन है, अभिप्राय बहुवचन का ही है ।

अस्य—इसका अर्थात् इन (दो पाँव, चार पाँव वालों) पर (शासन करता है) । इदम् शब्द के तृतीयादि विभक्ति वाले रूप जहाँ अन्वादेश (कही हुई बात के पुनर्वचन) के रूप में आते हैं, वहाँ वे सर्वानुदात्त होते हैं (नि० ४।२५—अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे । अनुदात्तमन्वादेशे; पा २।४।३२—इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ) । परन्तु यहाँ 'अस्य' अन्वादेश न होने के कारण 'ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' (पा० ६।१।१७१) से इसकी विभक्ति उदात्त है ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

यस्य । इमे । हिमऽवन्तः । महिऽत्वा । यस्य । समुद्रम् । रसया । सह । आहुः । यस्य । इमाः । प्रऽदिशः । यस्य । बाहू इति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥

जिसके (हैं) ये महा हिमाद्रि (निज अतुलित) महिमा से,
जिसका समुद्र नदियों सहित बतलाते हैं (ज्ञानी) ।
जिसकी (हैं) ये सभी दिशायें जिसकी दोनों बाहें,
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ? ॥

विशाल हिमालय जैसे पर्वत उस प्रजापति की महिमा के कारण उसके ही हैं । यहाँ तक कि सभी ओर से आने वाली नदियों से आपूर्यमाण विस्तीर्ण पारावार भी उसके अधीन है । इससे भी अधिक ये दिखाई देने वाली और उससे भी परे की दिशायें उसके नियन्त्रण में ही नहीं हैं, अपितु ये उसके लिये इतनी सीमित हैं मानो उसके दो हाथ ही हों । अथवा मनुष्य की दो भुजायें वस्तुतः उसकी ही हैं । उसी की प्रेरणा से मनुष्य सब प्रकार के कार्य करता है ।

हिमवन्तः—भारतीय विद्वान्[1]—हिमालय आदि पर्वत, पाश्चात्य विद्वान्-

---

१. वें.—पर्वताः, पर्वतेषु हिमं भूयिष्ठं भवति ।

बर्फ़ीले पर्वत। पदपाठ में 'वतुप्' प्रत्यय को समास के उत्तरपद के समान पृथक् किया गया है (वैं० वैं० व्या० भा० १, पृ० २००)। प्रत्यय का प् इत् होने के कारण प्रत्यय अनुदात्त है और 'हिम' पर स्वाभाविक स्वर है। सा०-हिमवदुपलक्षिता इमे दृश्यमानाः सर्वे पर्वताः।

महि त्वा—संज्ञापदों के साथ लगने वाला 'त्व' प्रत्यय पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखाया जाता है।[1] पा० ७।१।३९ (सुपां सुलुक् इत्यादि) के अनुसार यहाँ 'आ' आदेश होकर तृतीया एकवचन का यह रूप बना है। वें.-महत्त्वेन तिष्ठन्ति, महीधर और सायण के मतानुसार यह प्रथमान्त है—सर्वे पर्वताः यस्य प्रजापतेः महत्त्वं माहात्म्यमैश्वर्यमित्याहुः। तेन सृष्टत्वात्तद्रूपेणावस्थानाद्वा। मुइर ने इसे द्वितीयान्त पद मानकर इसे 'आहुः' का कर्म माना है और पर्वत तथा समुद्र को उसका कर्ता—ये बर्फ़ीले पर्वत और नदी सहित समुद्र जिसके महत्त्व की घोषणा करते हैं। गेल्डनर और मक्स. ने इसे तृतीयान्त ही माना है। गेल्डनर ने इसका सम्बन्ध तीनों पादों से जोड़ा है—'जिसकी शक्ति से ये पर्वत हैं, जिसकी शक्ति से समुद्र' आदि। तृतीयान्त मानते हुए भी पीटर्सन ने इसे 'रसया' का विशेषण माना है—हिज़ दे से, द ओशन विद द ग्रेट रिवर।

रसया—वें०-यस्य अवयवभूतमुदधिमनया पृथिव्या सह वदन्ति। सा०-रसो जलम्। तद्वती रसा नदी। जातावेकवचनम्। रसाभिर्नदीभिः सह समुद्रम्। पूर्ववदेकवचनम्। सर्वान् समुद्रान् यस्य महाभाग्यमित्याहुः। ऑफ़्रेख्त के अनुसार इसका अर्थ 'आकाशगंगा' है। मक्स ने रसा को 'एक दूरवर्तिनी नदी' कहा है।

प्रदिशः, बाहू—वें०-इमाः प्रकृष्टा दिशः चतस्रः बाहू भवतः, पुनः यस्य इति पूरणम्। सायण ने प्रदिशः के आगे 'ईशितव्याः' क्रिया का अध्याहार किया है और 'यस्य बाहू' को पृथक् वाक्य माना है—यस्य च इमाः प्राच्यारम्भा आग्नेय्याद्याः कोणदिश ईशितव्याः, तथा बाहू, वचनव्यत्ययः, बाहवो भुजाः। भुजवत्प्राधान्ययुक्ताः प्रदिशश्च यस्य स्वभूताः। मुइर, पी.—जिसकी ये दिशायें हैं, जिसकी वे भुजायें हैं (ऑफ़ हूम् दीज़् रिजन्स, ऑफ़ हूम् दे आर द आर्म्ज़)। मक्स० ने बाहू के पूर्ववर्ती 'यस्य' की उपेक्षा करके इसे एक वाक्य मानते हुए अर्थ किया है—'ये दिशायें निश्चय ही जिसकी दोनों भुजायें हैं।' पी. ने सायण द्वारा प्रदिशः का 'कोणदिशः' अर्थ किये जाने की आलोचना की है और कहा है कि यहाँ केवल 'दिशः' ही ठीक प्रतीत होता है।[2]

---

१. वैं. व्या. भा. १, पृ. ६०-१।

२. हिम्ज फ़्रॉम दि ऋग्वेद, पृ. २८६ पर टि. २।

परन्तु सायण की भावना उपर्युक्त भाष्य में सभी दिशाओं और उपदिशाओं का उल्लेख करने की है (प्राच्यारम्भाः+आग्नेय्याद्याः)। गेल्डनर ने प्रथम यस्य के साथ 'महित्वा' का अध्याहार करके इस प्रकार एक वाक्य बनाया है—"जिसकी शक्ति से ये दिशायें जिसकी दोनों भुजायें हैं"—(दुर्श) देस्सन (माह्त) दीज़ॅ हिम्मॅल्स्-गेगेन्दन, देस्सन बाइदॅ आर्मॅ ज़ी ज़िन्द। टिप्पणी में बाहू के द्वि-वचन और प्रदिशः के बहुवचन की सङ्गति बिठाते हुए इस विद्वान् ने कहा है कि अन्य देवताओं की जो दो भुजायें हैं, वे इसके लिए सारी दिशायें हैं। अथर्व० (४।२।५) में प्राप्त होने वाला इसका रूपान्तर एक प्रकार से इसकी स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है—**इमाश्च॑ प्र॒दिशो॒ यस्य॑ बा॒हू।**

विशेष—त्रिष्टुप् छन्द की पूर्ति की दृष्टि से मन्त्र के प्रथम और तृतीय पाद के आरम्भ में 'यस्य इमे' और 'यस्य इमाः' सन्धि-विच्छेद करके उच्चारण किया जाना चाहिये। अथवा इसे निचृत्-त्रिष्टुप् कहा जा सकता है।

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ळ्हा येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑।
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥५॥

येन॑। द्यौः। उ॒ग्रा। पृ॒थि॒वी। च॒। दृ॒ळ्हा। येन॑। स्व१रिति॑ स्वः॑। स्त॒भि॒तम्। येन॑। नाकः॑। यः। अ॒न्तरि॑क्षे। रज॑सः। वि॒ऽमानः॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒॥

जिसके द्वारा गगन समुन्नत, धरा गई है थामी,
जिसके द्वारा स्वर्ग स्तब्ध है, जिसके द्वारा सूरज।
जो अन्तरिक्ष में (उस महा) ज्योति का निर्माता है,
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा॥

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ने अति उन्नत आकाश और सभी भूमण्डलों की पृथ्वी को उनके-उनके स्थान पर स्थिर कर दिया था, जिससे प्राणी जीवित रह सकें। स्वः और नाकः एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। दोनों का मूल तत्त्व सुखमयत्व है। सूर्य से दोनों का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है क्योंकि सूर्य मण्डल पार करके ही मुमुक्षु परम सुख का अनुभव करता है और कहता है 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' (ईशोपनिषद्—१६)। सृष्टि के साथ ही प्रजापति ने उस सुखमय स्थिति की स्थापना की, परन्तु कोई साधक ही उसे प्राप्त कर सकता है। अन्तरिक्ष की महान् ज्योति विद्युत् का निर्माण भी उसने किया है। विद्युत् वृष्टि की वाहक होने के कारण सबकी जीवनदात्री है।

उग्रा—वें०-येन द्यौः उद्गूर्णा पृथिवी च दृढा भवति। सा०-(अन्तरिक्षम्)

उद्गूर्णा विशेषागहनरूपं वा।[1] (जिसके द्वारा आकाश उन्नत किया गया है और पृथ्वी स्थिर की गई है)। मुइर और लुड्विग ने इसी अन्वय का अनुसरण किया है, परन्तु उग्रा का अर्थ मुइर के अनुसार 'जाज्वल्यमान' (फ़ायरी) और लुड्विग के अनुसार 'शक्तिशाली' (गेवाल्तिग) है। मक्स०, गेल्ड० और पी. के अनुसार 'उग्रा' द्यौः का विशेषण है और इसकी तथा पृथ्वी की संयुक्त क्रिया 'दृळहा' है। इस अन्वय की पुष्टि मक्स० के मतानुसार अथर्व० (४।२।४) के मन्त्रांश 'येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृळहे' से होती है।[2] मक्स०-वैभवशाली (ऑ-फुल), पी.-महान् (ग्रेट), गेल्ड०-शक्तिशाली (गेवाल्तिगे)।

स्वः, नाकः—'स्वः' पर जात्यस्वरित स्वर है, इसीलिये पदपाठ में इसके आगे १ लिखा गया है। इस जात्य या तथाकथित स्वतन्त्र स्वरित को नियमानुकूल (उदात्तानुवर्ती) बनाने के लिये इसका पाठ 'सुअः' अथवा 'सुवः' करना चाहिये। इस प्रकार इस पाद के त्रिष्टुप् छन्द में एक अक्षर की कमी भी पूरी हो जाती है।[3] प्रायः जात्य स्वरित वाले प्रयोगों में छन्द में एक अक्षर की न्यूनता देखने में आती है। इस शब्द के अन्त में आने वाला विसर्जनीय रिफित है, अतः इस विशेषता को प्रकट करने के लिये पद पाठ में इसके आगे 'इति' जोड़ा गया है और इसकी चर्चा अर्थात् एक बार आवृत्ति की गई है।[4] या० (नि० २।२४) ने स्वः के आदित्य और आकाश दोनों ही अर्थ दिये हैं। सा०-स्वर्गः स्तब्धः कृतः, यथाधो न पतति तथोपरि स्थापितम् (स्वः) इत्यर्थः। नाकः आदित्यः। मुइर—अन्तरिक्ष और स्वर्ग (फ़र्मामेंट, हेवन), लुड्विग-स्वर्, आवरण (?) (स्वर, गेवोल्बे), मक्स०-आकाश, अन्तरिक्ष (ईथर, फ़र्मामेंट), पी. -स्वर्ग का अन्तरिक्ष (फ़र्मामेंट ऑफ हेवन)-इस व्याख्या में स्वः और नाकम् में सम्बन्ध-षष्ठी का कोई आधार दिखाई नहीं देता। गेल्ड०-सूर्य, अन्तरिक्ष (दी ज़ॉन्नें, फ़र्मामेंट)। स्वः का अर्थ 'प्रकाश' भी है (दे० स्वा० द० भाष्य)।

रजसः—वें०-तेजसः, सा०-उदकस्य, मुइर—वायव्य अवकाश का (ऑफ़ एरियल स्पेस), मक्स०-वायु (एयर इन द स्काई—अन्तरिक्ष)—आकाश की दीप्त वायु, आकाश-अन्तरिक्ष-पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य है।[5] गेल्ड०-(वायु में) अवकाश को (इन देअर लुफ़्त देन राउम)। यास्क (नि० ४।१९) ने इस शब्द

---

१. पीटर्सन के संग्रह में पाठ 'उद्गूर्णविशेषा गहनरूपा वा' है, तदनुसार उग्रा पृथ्वी का विशेषण है, और दोनों (द्यौः, पृथ्वी) की संयुक्त क्रिया दृळहा है।

२. सातवलेकर के संस्करण में यह पाठ है—यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही।

३. वै. व्या. भा. २, पृ. ८९८-९।

४. वही, भा. १, पृ. १९३-४।

५. से. बु. ई., खं. ३२, पृ. ९, टि. २।

के ज्योति, उदक, लोक, रक्त, दिन—ये अर्थ दिये हैं। इनके मूल में √रज् (रागे) धातु मानी है।[१]

विमानः—वें०, सा०-निर्माता, मुइर, लुड्विग-मापने वाला (मेज़रर), मक्स०-(जिसने) मापा (हू मेज़र्ड), गेल्ड०-(जो) बींध देता है। (दुर्शद्रिग्त)। वि √माङ् से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० ३।३।११३) के अनुसार कर्तरि ल्युट्। ल् इत् होने से प्रत्यय से पूर्व धातु को उदात्त (लिति—पा० ६।१।१९३)।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

यम्। क्रन्दसी इति। अवसा। तस्तभाने इति। अभि। ऐक्षेताम्। मनसा। रेजमाने इति। यत्र। अधि। सूरः। उत्ऽइतः। विऽभाति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥

जिसको क्रन्दनशील उभय ने, रक्षणहेतु, स्तब्धों ने
देखा (आदरपूर्वक) मन से कम्पमान (दोनों) ने।
जिसके ऊपर सूर्य उदित हो भासित हो जाता है;
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ? ॥

हिरण्यगर्भ-अण्ड जब दो खण्डों में विभाजित हुआ तो द्यौः और पृथिवी का निर्माण उन दो खण्डों से हुआ। प्रजापति ने उन्हें अपने अपने स्थान पर अवस्थित कर दिया। परन्तु अण्ड के विभाजित होने के समय उन दोनों खण्डों में कुछ चरमराहट हुई होगी, उसी कारण द्यौः और पृथिवी को क्रन्दसी कहा गया है। उस समय अतुलित प्रकाश में दीप्त उन दोनों ने प्रजापति को पूर्ण एकाग्रता से देखा अर्थात् उसके प्रति आदर भाव प्रकट किया। उसी प्रजापति के आधार पर सूर्य उदित होता है, सूर्यरूप महा तेजःपुञ्ज का भी शासक वही है। उसी ने सूर्य की सृष्टि की और उसी ने उसे तेज प्रदान किया तथा सौर मण्डल का केन्द्र बिन्दु होने का गौरव प्रदान किया।

क्रन्दसी—वें०-द्यावापृथिव्यौ, सा.-क्रन्दितवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ। श्रूयते हि—'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्' (तै० ब्रा० २।२।६।४) इति। स्वा० द० (वा० सं० ३२।७)—स्वगुणैः श्लाघनीये सूर्य-पृथिव्यौ, मुइर, लुड्विग—(शोर मचाती हुई) दो सेनायें, गेल्ड०-दोनों सेना-समूह (बाइदन हीअर-हाउफन), मक्स०-पृथ्वी और आकाश—'क्रन्दसी के स्थान पर **'रोदसी'** पाठ अच्छा है, अथर्व० ४।२।३ का पाठ (**यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने**

---

२. रजो रजतेर्ज्योती रज उच्यते। उदकं रज उच्यते। लोका रजांस्युच्यन्ते। असृगहनी रजसी उच्येते।

भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्) भी इसकी पुष्टि करता है। यह शब्द (क्रन्दसी) ऋ० में केवल दो और स्थलों पर आया है। ऋ० २।१२।७ में इन्द्र-सूक्त में (यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते) अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ 'शोर करती हुई दो सेनायें' किया है, यद्यपि वहाँ भी 'पृथ्वी और आकाश' पूर्णतया संगत है। ऋ० ६।२५।४ में भी यह शब्द इन्द्र सूक्त में आया है। वहाँ क्रन्दसी के 'बोलने' का उल्लेख है (वि क्रन्दसी उर्वरासु ब्रवैते)। यहाँ यदि अभिधार्थ लिया जाये तो (सा.) 'परस्पर चिल्लाते हुए दो व्यक्ति विवाद करें' या (स्वा. द.) 'मन्त्रणा करते हुए राजा और मन्त्री विशेष उपदेश करें' अर्थ होगा, अन्यथा लाक्षणिक दृष्टि से 'पृथ्वी और आकाश अनुकूल न हों' अर्थ भी सम्भव है। सम्भवतया 'क्रन्दसी' के द्वारा वह स्थिति प्रकट की गई है जब आदिम अण्ड के दो भागों में विभक्त होने के समय चिल्लाहट जैसी चरमराहट हुई होगी।[1]

अवसा तस्तभाने—वें-तस्य रक्षणेन विष्टभ्यमाने त्राणार्थमभिपश्यतः, सा०-रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थम्, प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्ये सत्यौ, मुइर, लुड्विग, मक्स०-उसकी इच्छा से स्थिरीकृत (स्टेंडिग फर्म बाइ हिज विल्ल्), गेल्ड०-जो उसकी सहायता से आधार प्राप्त किये हुए हैं (दी दुर्श जाइनन बाईस्टांड आइनें श्टयुत्से बिकामन), स्वा० द०- (सबको) धारण करने वाले (सूर्य और पृथ्वी लोक) रक्षा आदि से (सबको) धारण करते हैं। राम गोपाल-अनुग्रह[2]। **अवस्** शब्द √अव्+असुन् से निष्पन्न हुआ है, अतः 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१९७) से न् इत् होने से यह आद्युदात्त है। **तस्तभाने** शब्द √स्तभ्+कानच् से बना है। यहाँ प्रत्यय का च् इत् होने के कारण 'चितः' (पा० ६।१।१६३) से अन्तोदात्त है।

रेजमाने—वें०-कम्पमाने, सा०-राजमाने दीप्यमाने, आकारस्य व्यत्ययेनैत्वम्। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। यद्वा लिटः कानच्। 'फणां च सप्तानां' (पा० ३।४।१२५) इत्येत्वाभ्यासलोपौ। 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकत्वाच्छप्। अत एव 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। सायण ने 'दीप्यमान' अर्थ करते हुए दो प्रकार से इस शब्द की रचना मानी है—एक तो √राज् दीप्तौ से सीधा शानच् प्रत्यय और तदनुसार व्यत्यय से धातु के आ का ए, दूसरे √राज् के लिट् रूप से कानच् और फिर उसमें आकार का एकार और लिट् के अभ्यास का लोप, फिर कानच् का च् इत् होने के कारण जो अन्तोदात्त प्राप्त था, उसकी बाधा के लिये पहले इसे सार्वधातुक

---

१. वायु पु. २४।७४—अन्ते वर्षसहस्रस्य वायुना तद्द्विधा कृतम्।

२. वै. व्या. भा. २—पृ. ८००, ३५८ (क)।

सिद्ध किया और फिर आद्युदात्तत्व। स्वा० द०-चलायमान, पाश्चात्य विद्वान्-काँपते हुए। वस्तुतः या. (नि० ३।२१) के वचन 'भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः' और उसके द्वारा उद्धृत ऋ० (६।६६।६) के 'रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः' प्रयोग से √ रेज् के 'काँपना' अर्थ में सन्देह नहीं रह जाता। उक्त स्थल पर स्वय सायण ने 'कम्पते' अर्थ किया है। उसमें स्वर सम्बन्धी कठिनाई भी नहीं रहती।[१] मैक्डॉनल ने अपनी धातु सूची में √ रेज् के अन्य भी अनेक रूप उद्धृत किये हैं।[२]

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥

आपः। ह। यत्। बृहतीः। विश्वम्। आयन्। गर्भम्। दधानाः। जनयन्तीः। अग्निम्। ततः। देवानाम्। सम्। अवर्तत। असुः। एकः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥

सृष्टिजल पहले जब बहुत सभी (ब्रह्माण्ड) में आया,
गर्भ को धारण किये उपजाता हुआ (प्रथम) अग्नि को !
तब देवों का हुआ प्राण (जीवन-धारक) एक (ही),
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ॥

इस मन्त्र में उस दिव्य सृष्टिजल के महासमुद्र का वर्णन है, जिसमें कुछ भी तत्त्व पृथक् नहीं था और जिसमें सृष्टि का मूल कारण हिरण्यगर्भ अण्ड प्रकट हुआ। (तु० ऋ० १०।१२६।३—**तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।**) इस अण्ड को ही यहाँ गभ कहा गया है। अन्यत्र भी ऋग्वेद में ऐसे प्रथम गर्भ धारण करने वाले जल का वर्णन है जिसमें सभी देवता मिले हुए थे।[३] उसी जल ने इस गर्भ के रूप में अग्नि को उत्पन्न किया था। वाजसनेयि संहिता में भी प्रजापति द्वारा अग्नि का आहरण करते हुए जल के समुद्र-सम्बन्धी गर्भ की बात कही गई है।[४] उस हिरण्यगर्भ को ही यहाँ देवों का एक प्राण कहा गया है। ऊपर के मन्त्रों में हम सब महान् शक्तियों के आधार भूत तत्त्व के रूप में हिरण्यगर्भ का वर्णन देख आये हैं।

---

१. वै. व्या. भा. २—पृ. ८८०, ४१५ (क) ३—चित् से आने वाला अन्तोदात्त गण-विकरण के कारण होने वाले स्वर-स्थान को नहीं बदलता।
२. वै. ग्रा. स्टू.—पृ. ४१४—रेज्।
३. ऋ. १०।८२।६—तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
४. वा. सं. ११।४६—वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम्।
विस्तृत विवेचनार्थ दे. भगवद्दत्तकृत वेदविद्यानिदर्शन, सप्तम अध्याय।

बृ॒ह॒तीः—बड़े, महान्, लौकिक संस्कृत में प्रथमा बहु० में बृहत्यः रूप बनता, परन्तु वेद में 'वा छन्दसि' (पा० ६।१।१०६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो गया है। बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' (पा० ६।१।१७३ पर वार्तिक) से यह स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त है।

विश्व॒म् आय॑न्—वें० सर्वलोकमगच्छन, व्याप्ता अभवन्, सा०-सर्वं जगद व्याप्नुवन्, स्वा० द०-यद विश्वं सर्वप्रविष्टं गर्भं धारयन्त्यः आपः आयन् प्राप्नुवन्तु, मुइर, पीटर्सन-विश्व को व्याप्त किया (पर्वेडड दि युनिवर्स), लुड्विग-समस्त गर्भ को धारण किये हुए (जल) आते हैं (दी वास्सर कामन, दी आल्लन काइम इन जिश फास्टसेन), गेल्ड०-विश्व अर्थात् संसार को गर्भ के रूप में धारण किये हुए (जल) आते हैं (...दी गेवेस्सर कामन, दास ऑल आल्स काइम एम्प्फांगेंद)। निरुक्त में सर्वत्र 'विश्व' का अर्थ सर्व किया गया है। मैक्डॉनल, रामगोपाल प्रभृति वैदिक वैयाकरणों ने भी वेद में इस शब्द को केवल 'सब'—अर्थ वाला सर्वनाम माना है। अतः इसका अर्थ 'जगत्' या 'विश्व' करना उचित नहीं प्रतीत होता।

यत्, ततः—वें०-यदा तदा, सा०-यस्मात्, तस्माद्धेतोः, स्वा० द०-दोनों शब्द गर्भ से सम्बद्ध—जिस गर्भ को...उससे; सायण ने भी यही वैकल्पिक अर्थ दिया है—यद्वा, यद् यं गर्भं दधाना आपो विश्वात्मनाऽवस्थिताः, ततो गर्भभूतात् प्रजापतेः...। अथवा यत् लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः। उक्तलक्षणा या आपो विश्वमावृत्य स्थिताः ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशात्। पाश्चात्य विद्वान्–जब तब।

अ॒ग्निम्—वें०-विद्युद्रूपमग्निम्, सा०-अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादिभूतजातम्, मक्स०-प्रकाश (लाइट), स्वा० द०-सूर्यादिरूपमग्निम्। वस्तुतः यहाँ उस अग्नि तत्त्व के प्रति संकेत है जो विभिन्न पदार्थों में विद्यमान है।

विशेष—इस मन्त्र के तृतीय पाद में त्रिष्टुप् छन्द के अक्षरों से दो अधिक, १३ अक्षर होने के कारण इसे स्वराट् त्रिष्टुप् संज्ञा दी गई है।

यश्चि॒दापो॑ महि॒ना प॒र्यप॑श्य॒द्दक्षं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर्य॒ज्ञम्।
यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व एक॒ आसी॒त् कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥८॥

यः। चि॒त्। आपः॑। म॒हि॒ना। परि॑ऽअप॑श्यत्। दक्ष॑म्। दधा॑नाः। ज॒नय॑न्तीः। य॒ज्ञम्। यः। दे॒वेषु॑। अधि॑। दे॒वः। एकः॑। आसी॑त्। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒॥

और जिसने जल को महिमा से देखा सभी ओर से,
दक्ष को धारण करते को उत्पन्न करते यज्ञ को।
जो देवों में सबसे ऊपर देव एक था (अद्भुत),
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा॥

सम्भवतया यहाँ उस परमात्मा की ओर संकेत है जो प्रारम्भिक सृष्टिजल और हिरण्यगर्भ का भी स्रष्टा है। उसके निरीक्षण में ही मानो उस सृष्टिजल ने सर्जन-शक्ति को धारण किया हुआ था और सृष्टिरूपी यज्ञ को उत्पन्न अर्थात् आरम्भ किया था। यहाँ यह संकेत महत्त्वपूर्ण है कि समग्र सृष्टि ही यज्ञमय है। वही एकमात्र सर्वनियन्ता जगदुत्पादक परमात्म-तत्त्व है। उससे भिन्न कोई अन्य शक्ति हमारी पूजा का पात्र नहीं हो सकती।

आपः—सृष्टिजल को, सा०-व्यत्ययेन प्रथमा, अपः प्रलयकालीनाः।

महिना—वें-महत्त्वेन, सा०-महिम्ना, छान्दसो मलोपः। ऋ० में प्रायः तृ० एक० में महिमन् शब्द के उपधालोप के साथ साथ उसके साथ के म का लोप भी हो जाता है। मक्स०, पीटर्सन—शक्ति से; मुइर, गेल्ड०-महत्त्व या बड़प्पन से (थ्रू हिज ग्रेट्नैस)।

दक्षम्—वें०-आदित्यम्, सा०-प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिम्, स्वा० द०—बलम्, यास्क ने दक्ष को आदित्यरूप माना है (नि० २।१३)। पाश्चात्य विद्वान्—शक्ति। ब्रा० श० के अनुसार दक्ष का तात्पर्य वीर्य अर्थात् शक्ति है। सब प्रकार की शक्तियों का अयन दाक्षायण है।[1] श० ब्रा० (४।१।४।१) में मित्र को क्रतु और वरुण को दक्ष बताया गया है—क्रतूदक्षौ ह वाऽस्य मित्रावरुणौ, मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षः। इसी वीर्य को रेतस् भी कहा गया है क्योंकि रेतस् सब वीर्यों का अधिष्ठान है। आपः की इस रेतोरूप शक्ति का संकेत ऐतरेयोपनिषद् खं० २ में इस प्रकार दिया गया है:—आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्।

यज्ञम्—वें०-यज्ञम्, सा० यज्ञोपलक्षितं विकारजातमुत्पादयन्तीः, स्वा० द०-सङ्गतं संसारमुत्पादयन्तीः, पाश्चात्य विद्वान्-यज्ञ, मक्स.- प्रकाश (लाइट), भी।

देवेषु अधि—यहाँ कर्मप्रवचनीय अधि (स्वामी होना) के योग में 'देवताओं का स्वामी' भाव व्यक्त करने के लिये सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।[2]

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥९॥

मा। नः। हिंसीत्। जनिता। यः। पृथिव्याः। यः। वा। दिवम्। सत्यऽधर्मा। जजान।
यः। च। अपः। चन्द्राः। बृहतीः। जजान। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।

नहीं हमें दुख देवे (वह) उत्पादक जो पृथ्वी का,
और जिसने नभ को सत्यधर्म ने जन्म दिया था।

---

१. उरुज्योति, पृ. ६५-६।

२. पा. १।४।९७—अधिरीश्वरे, पा. २।३।९—यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी।

अरु जिसने जल आह्लावक बहुत किया उत्पन्न (तभी),
किस (अन्य) देव को हवि के द्वारा करें समर्पित पूजा ॥[1]

परमेश्वर आनन्दमय है (तै० उप० २।५—आनन्द आत्मा)। उसकी प्रथम सृष्टि जल को भी इसी कारण यहाँ आह्लादक कहा गया है। ऐसे स्रष्टा से जो 'दुःख न दे' यह प्रार्थना की गई है, उसमें दुःख की आशङ्का कैसे हो सकती है ? उसकी पृथ्वी आदि किसी सृष्टि में दुःख दिखाई नहीं देता। दुःख तो मनुष्य के कर्म से उत्पन्न होता है। दुःख न होने का सूत्र भी मन्त्र में ही दिया गया है क्योंकि परमेश्वर को सत्यधर्मा अर्थात् सच्चे सुव्यवस्थित नियमों वाला बताया गया है। जो मनुष्य उन शाश्वत नियमों का पालन करता है उसे दुःख नहीं होता या आनन्दलीन होने के कारण वह प्रतीयमान दुःख को दुःख नहीं मानता।

हिं सीत्—सा०-(मा) बाधताम्, पाश्चात्य विद्वान्—आघात (न) पहुँचाये।

जनिता—√जन् तृच्-उत्पादकः, जनयिता, प्रस्तुत वैदिक शब्द में 'जनिता मन्त्रे' (पा० ६।४।५३) सूत्र से णि का लोप दिखाई दे रहा है।

पृथिव्या—यहाँ विभक्ति उदात्त है क्योंकि पृथिवी शब्द से ङस् विभक्ति लगकर पृथिवी के उदात्त ईकार का यण् (य्) हो गया है और उससे पूर्व हल् है।[2]

सत्यधर्मा—बहुव्रीहि समास, अतएव पूर्वपद में प्रकृतिस्वर है। सा०-सत्यमवितथं धर्म जगतो धारणं यस्य सः तादृशः प्रजापतिः, मुइर—निश्चित नियमों से शासन करने वाला (रूलिंग् बाई फिक्स्ड ऑर्डिनेंसज), मक्स०-धार्मिक (राइटिअस), गेल्ड०-प्रचलित या प्रवर्तमान विधानों के द्वारा (मित् ग्युल्तिगॅन गेजेत्सन)।

चन्द्राः—सा०-आह्लादिनीः, पाश्चात्य विद्वान्—चमकने वाला, (ब्राइट, शाइनिंग, शिमर्न्दन)। यास्क ने 'चन्द्र' के जो निर्वचन दिये हैं, उनसे उपर्युक्त दोनों ही अर्थ सम्भव हैं। १.—चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः, अर्थात् जिसकी सब जनों द्वारा कामना की जाती है—जो सब का आह्लादक है; २.—चारु द्रमनि (जो मनोज्ञ होकर चलता है) —चारु रुचेर्विपरीतस्य (चारु शब्द √रुच्—दीप्ति का वर्णविपर्यय होकर बना है), अतः 'दीप्त होकर चलता है' अर्थ हुआ।[3]

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥

---

१. वें. ने इसका भाष्य न करके इसे 'निगदसिद्धा' कहा है।
२. दे. पा. ६।१।१७४—उदात्तयणो हल्पूर्वात्।
३. नि. ११।५।

प्रजाऽपते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । जातानि । परि । ता । बभूव । यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥[1]

हे प्रजापति, (सबके पालक) न तुम से इनको अन्य
सभी उत्पन्न हुए उन प्राणियों को करता व्याप्त ।
जो इच्छा ले तुझे आहुति हम देते वह हमरी हो,
हम हो जावें पालक (दाननिमित्त) धनों के (तेरे) ॥

इस अन्तिम मन्त्र में स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व के नौ मन्त्रों में जिस अनन्य देव के विषय में जिज्ञासा प्रकट की गई है, वह सब जनों का पालनकर्ता प्रजापति ही है, और कोई नहीं । वही उत्पन्न मात्र सभी प्राणियों में व्याप्त है । उससे अन्य कोई भी उनमें व्याप्त नहीं । केवल उसी से अपनी सब इच्छाओं की पूर्ति की प्रार्थना करना उपयुक्त है । 'कस्य स्विद् धनम्' इस वेद-भावना के अनुकूल ही यहाँ पति का अर्थ 'स्वामी' न करके 'पालक' करना अधिक उचित प्रतीत होता है ।

मक्स म्युलर ने इस मन्त्र को अन्य मन्त्रों की जिज्ञासामय दार्शनिक भावना के आगे हल्का बताया है । उसके अनुसार इस मन्त्र के द्वारा समस्त सूक्त की उदात्तता विकृत हो गई है ।[2]

प्रजापते—यद्यपि साधारणरूप में प्रजापति शब्द का पूर्वपद अपना प्रकृति-स्वर ग्रहण करता है,[3] तथापि वाक्य के आदि में 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ६।१।१९८) सूत्र से यहाँ यह आद्युदात्त है ।

विशेष—वा० सं० १०।२० और २३।६५ में इस मन्त्र में **जातानि** के स्थान पर **रूपाणि** पाठ है ।

छन्द—प्रथम और चतुर्थ पाद में त्रिष्टुप् छन्द में एक एक अक्षर की कमी है । उसकी पूर्ति के लिये प्रथम पाद में सन्धिविच्छेद करके **'एतानि अन्यः'**, तथा चतुर्थ पाद में व्यूह करके **'सिआम'** उच्चारण करना चाहिये । अन्यथा इसके छन्द को निचृत्-त्रिष्टुप् भी कह सकते हैं ।

---

१. यह पदपाठ विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, के स्कन्दादिभाष्य-सहित ऋग्वेद के संस्करण में से उद्धृत है । अन्यत्र इसका पदपाठ अनुपलब्ध है ।

२. से. बु. ई. खं. ३२, पृ. १२ ।

३. पा. ६।२।१८—पत्यावैश्वर्ये ।

संज्ञानम्—ऋ० १०।१९१

चार मन्त्रों वाला यह सूक्त ऋग्वेद संहिता का अंतिम सूक्त है। पहले मन्त्र का देवता अग्नि है। शेष तीनों का संज्ञान देवता है। संज्ञान का अभिप्राय समानता, मानसिक और बौद्धिक एकता है। प्रथम मन्त्र में भी अग्नि को सम्मिश्रण करने वाला या संयोजक बताया गया है। इस सूक्त के ऋषि 'संवनन आङ्गिरस' का नाम भी इसी भाव की ओर सङ्केत करता है क्योंकि संवनन का अर्थ भी संयोग है। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र अथर्व० ६।६३।४ है और शेष तीन मन्त्र स्वल्प परिवर्तनसहित अथर्व० का ६।६४ सूक्त होते हैं। उस सूक्त का देवता या विषय 'सांमनस्य' बताया गया है।

सम-भावना की प्रेरणा देने वाला यह सूक्त वेद के समतापूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें सब जनों की क्रियाओं, गति, विचारों और मन-बुद्धि के पूर्ण सामञ्जस्य की प्रेरणा दी गई है। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इस सूक्त में प्रार्थित समान विचारों वाली विवादरहित सभा समाज का कितना उत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत करती है। सभी सभासदों का एक सा जनकल्याण का दृष्टिकोण असन्दिग्ध रूप से राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाता है। आज हमारे देश में, समस्त विश्व में इस भावना की ओर अधिक आवश्यकता है।

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥१॥

सम्ऽसम्। इत्। युवसे। वृषन्। अग्ने। विश्वानि। अर्यः। आ। इळः। पदे। सम्। इध्यसे। सः। नः। वसूनि। आ। भर॥

भली प्रकार निश्चय ही मिला रहे हो बलिष्ठ,
हे अग्नि, सभी को स्वामी (तुम) सभी ओर से।
(स्तुत्य) इडा की पदवी में होते हो प्रज्वलित,
वह (तुम) हमें धन लाकर दे दो (सभी छोर से)॥

अग्नि का उल्लेख यहाँ उष्ण तत्त्व के रूप में हुआ प्रतीत होता है क्योंकि उष्णता ही विभिन्न पदार्थों और प्राणियों की भी संयोजक है। जैसे वियोग इस जीवन का अनिवार्य तत्त्व है, उसी प्रकार उससे पूर्व संयोग अवश्यम्भावी है। इस कारण अग्नि सब का स्वामी है—सबका संयोग उसके हाथ में है।

ऐसा यह स्तुत्य अग्नि प्रकाशस्वरूप है और स्तुतियोग्य परमेश्वर के स्थान पर दीप्त होता है। उसकी दीप्ति का अनुभव करके ही मनुष्य अपने आपको धन-सम्पन्न समझता है। वह निवासयोग्य धन की पूर्णता अनुभव करता है—स्वयं को पूर्ण सुरक्षित मानता है। इसीलिये उस दीप्तिमय अग्नि-तत्त्व से वह अनुभूति प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।

अर्यः, विश्वानि—वें०-स्वामी, सा०-ईश्वरः 'अर्यः स्वाम्याख्यायाम्' (फिट्० १।१८) इत्यन्तोदात्तत्वम्। गेल्ड० ने इसे षष्ठ्यन्त मानकर अर्थ किया है—'स्वामी के भी सभी (खजानों) को पूर्णतया अधिगृहीत कर लेते हो' (आलॅ, (शेत्सॅ), आउख देस होहन हैरेंन, निम्स्त दू गान्त्स इन बेश्लाग)। 'खजाना' अर्थ सम्भवतया वें० के 'धनानि' का अनुकरण है। सा०-सर्वाणि भूतजातानि। 'अर्यः' पर विस्तृत टिप्पणी के लिये दे. पृ. ४६।

आ संसं युवसे—वें.-सम्मिश्रयसि, सा०-आ समन्तात् सम्मिश्रयसि, देवेषु मध्ये त्वमेव सर्वाणि भूतजातानि वैश्वानरात्मना व्याप्नोषि, नान्यः।

इळः पदे—वें.-इडायाः पदे, सा०-इडायाः पृथिव्याः पदे स्थाने उत्तरवेदि-लक्षणे (ऐ० ब्रा० १।२।८—एतद्वा इडायास्पदं यदुत्तरवेदीनाभिः)। गेल्ड०-इड् के स्थान पर अर्थात् वेदी पर (आॅन् देअर श्टेट्टॅ देअर आॅप्फर-श्पेंडॅ)। सा. ने सर्वत्र इन पदों का अर्थ 'वेदी अथवा उत्तरवेदी-रूप भूमि के स्थान पर' किया है। इस अर्थ के प्रमाण में ऋ० १।१२८।१ के अन्तर्गत उसने तै० ब्रा० १।१।४।४ का यह उद्धरण भी दिया है—"इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत्"। स्वा० द० ने इसी मन्त्र के भाष्य में इन पदों का अर्थ 'स्तोतुमर्हस्य जगदीश्वरस्य प्राप्तव्ये विज्ञाने' दिया है। ऋ० २।१०।१ में उन्होने 'पृथिव्याः स्थाने' और ऋ० ६।१।२ में 'पृथिव्या वाचो वा पदे' अर्थ दिया है। ऋ० ५।४२।१४ के इळस्पतिम् पद प्रसङ्गानुसार स्पष्ट ही मेघ के वाचक हैं—वहाँ सा० ने 'अन्नस्य उदकस्य वा पतिम्' और स्वा० द० ने 'पृथिव्याः पालकं मेघम्' अर्थ दिया है। इड् के इन सभी अर्थों में √ईड् का मूलभाव विद्यमान है (दे० नि० ८।७ ईळ ईट्टे: स्तुतिकर्मणः)। वहीं इसका निर्वचन √इन्ध् से भी दिया गया है (इन्धतेर्वा)। तदनुसार इड् का अर्थ 'वह पृथ्वी जो यज्ञाग्नि से प्रदीप्त होती है' या 'वह परमेश्वर जो सर्वत्र प्रदीप्त—प्रकाशित होता है' होगा।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥२॥

सम्। गच्छध्वम्। सम्। वदध्वम्। सम्। वः। मनांसि। जानताम्। देवाः। भागम्। यथा। पूर्वे। सम्ऽजानानाः। उपऽआसते॥

साथ साथ मिलो साथ ही बोलो (हे लोगो),
साथ तुम्हारे मन (मिलकर सब बातें) जानें।
देव भाग को जैसे पहले (निर्विरोध हो)
साथ जानते हुए बरतते (सबका मानें)॥

देवता बहुत पहले से इस बात को जानते हैं कि अग्नि में अर्पित आहुतियाँ सबके लिये हैं। अतः उनमें संघर्ष नहीं होता। अथवा दिव्य शक्तियों या इन्द्रियों का अधिकारभाग निश्चित है; उनमें भी संघर्ष नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्यों को प्रेरणा दी गई है कि सब संसार ईश्वर द्वारा निर्मित है, उसमें सबका समान भाग है, सबका कर्तव्यभाग भी समान है, अतः सबको मिलकर रहना चाहिये।

सं ग॑च्छध्वम्—वें०, सा०-हे स्तोतारः यूयम्, संगताः सम्भूता भवत। 'समो गम्यृच्छि'-(पा० १।३।२९) इत्यादिना गमेरात्मनेपदम्। स्वा० द०[1]-ईश्वरोऽभिवदति-हे मनुष्याः मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं **सम्यक् प्राप्नुत** अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत।

दे॒वा भा॒गम्—सा०-यथा पूर्वे पुरातना देवाः सञ्जानाना ऐकमत्यं प्राप्ता हविर्भागमुपासते यथास्वं स्वीकुर्वन्ति तथा यूयमपि वैमत्यं परित्यज्य धनं स्वीकुरुतेति शेषः। स्वा० द०[1]-यथा ये सम्यग् ज्ञानवन्तो विद्वांस आप्ताः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्तन्ते किं वा ये मृतास्ते यथा भागं भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते, तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयो यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत्।

स॒मा॒नो मन्त्रः॒ समि॑तिः समा॒नी स॑मा॒नं मनः॑ स॒ह चि॒त्तमे॑षाम्।
स॒मा॒नं मन्त्र॑म॒भि म॑न्त्रये वः समा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि॥३॥

स॒मा॒नः। मन्त्रः॑। सम्ऽइ॑तिः। स॒मा॒नी। स॒मा॒नम्। मनः॑। स॒ह। चि॒त्तम्। ए॒षा॒म्। स॒मा॒नम्। मन्त्र॑म्। अ॒भि। म॒न्त्र॒ये॒। व॒ः। स॒मा॒नेन॑। वः। ह॒विषा॑। जु॒हो॒मि॒॥

समान हो मनन संगठन समान (हो सबका),
समान हो मन (और) साथ (ही) चिन्तन इनका।
समान मन्त्र उच्चारित करता हूँ मैं तुमको,
समान तुम्हें हवि से करता हूँ अर्पण (मन का)॥

पिछले मन्त्र के अनुसार आचरण करने वालों के लिये अभिलाषा प्रकट की गई है कि उनका मनन, चिन्तन, मन, और तदनुरूप संगठन भी एक-समान

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, अजमेर, सं० १९९०, पृ. ५३।

हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि किसी भी संगठन या सभा में विचारों की समानता के बिना एकता स्थापित नहीं हो सकती। मैं (राजा, नेता या उपदेशक) आप सब प्रजाजनों को एक समान सम्मति देता हूँ और एक समान आहुति अर्थात् भोज्य-पदार्थ से आपका आह्वान करता हूँ।

सा०—पूर्वोऽर्धर्चः परोक्षकृत उत्तरः प्रत्यक्षकृतः। एषामेकस्मिन् कर्मणि सह प्रवृत्तानामृत्विजां स्तोतॄणां वा मन्त्रः स्तुतिः शस्त्राद्यात्मका गुप्तभाषणं वा समान एकविधोऽस्तु। तथा समितिः प्राप्तिरप्येकरूपास्तु। 'केवलमामक' (पा० ४।१।३०) इत्यादिना समानशब्दात् ङीष्। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीष उदात्तत्वम्। तथा मनः मननसाधनमन्तःकरणं चैषां समानमेकविधमप्यस्तु। चित्तं विचारजं ज्ञानं तथा सह सहितं परस्परस्यैकार्थेनैकीभूतमस्तु। अहं च वः युष्माकं समानमेकविधं मन्त्रमभि मन्त्रये। ऐकविध्याय संस्करोमि। तथा वः युष्माकं स्वभूतेन समानेन साधारणेन हविषा चरुपुरोडाशादिना अहं जुहोमि॥ 'तृतीया च होश्छन्दसि' (पा० २।३।३) इति कर्मणि कारके तृतीया। वषट्कारेण हविः प्रक्षेपयामीत्यर्थः॥

स्वा० द०[1]-हे मानवा, वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवी-पर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणोपदेशेन ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति ।...यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्तव्यो भवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत्सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुण-लक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत। यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत। तथा समितिः सामाजिकनियम-व्यवस्था...समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्रदानसुखवर्धनायैकरसैव कार्येति। मनः संकल्पविकल्पात्मकं ..युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु। यच्चितं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात् सर्व-प्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत् सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्यम् सह युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम्। ये ह्येषां सर्व-जीवानां सङ्गे स्वात्मवद्वर्तन्ते तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्यहं कृपालुर्भूत्वा अभिमन्त्रये वः युष्मान् पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि। हविर्दानं ग्रहणं च तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्यम्। तेन समानेनैव हविषा वो युष्मान् जुहोमि सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि। अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, अजमेर, सं १९६०, पृ. ५४।

वें.—समानः मन्त्रः समितिः समानी युष्माकं, समानं मनः चित्तं च अनुसन्धानसाधनं सह भवतु एषां युष्माकमिति । समानं मन्त्रमभ्युच्चारयामि युष्माकं. येन सङ्गताः स्यात । तथानेन हविषा युष्माकं जुहोमीति ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥

समानी । वः । आऽकूतिः । समाना । हृदयानि । वः । समानम् । अस्तु । वः । मनः । यथा । वः । सुऽसह । असति ॥

समान तुम्हारा सङ्कल्प (सबका हितकर हो),
समान (हों) हृदय तुम्हारे (पीड़ा को समझें) ।
समान हो तुम्हारा मन (समभाव रहो तुम),
जिससे तुम्हारी शोभन सङ्गति हो (जनहित में) ॥

एक जैसा सङ्कल्प मन में लेकर जब सब मनुष्य कार्य करेंगे और उनके मन और हृदय समान होंगे तो कल्पना की जा सकती है कि कितना सुन्दर सामञ्जस्य समाज में होगा और वह समाज कितनी प्रगति करेगा । ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त की यह पुनीत भावना युग-युगों तक सामाजिक मानव-मन को अनुप्राणित करती रहेगी।

आकूतिः—सा०-सङ्कल्पोऽध्यवसायः, स्वा० द०-अध्यवसायः, उत्साहः, आप्तरीतिर्वा—शुभगुणानामिच्छा कामः, तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा संकल्पः । ऋ० १०।१२८।४ पर सा०-सङ्कल्पनमभीष्टस्य प्रार्थनम्, गेल्ड०—सङ्कल्प (फोरहाबन) ।

सुसहासति—सा०-यथा युष्माकं शोभनं साहित्यम् असति भवति, तथा समानमस्त्वित्यन्वयः, असति √अस् से लट् लकार में 'बहुलं छन्दसि' से शप् के लुक् का अभाव, स्वा० द०-हे मनुष्याः, युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वस्ति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः । सम्भवतया स्वा० द० ने असति को √अस् से लेट् लकार का रूप माना है, ति से पूर्व अकार अट् का है (लेटोऽडाटौ—पा० ३।४।९४) ।

शिवसङ्कल्पसूक्तम्—वा० सं० ३४।१-६

(महीधर—षड़ृचस्त्रिष्टुभो मनोदेवत्याः शिवसङ्कल्पदृष्टाः)।

जहाँ ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञान से माना जाता है, वहाँ यजुर्वेद का सम्बन्ध कर्म से बताया जाता है। वैदिक श्रौत यज्ञों में ऋग्वेद के पुरोहित 'होता' का कार्य केवल मन्त्रों का ज्ञानपूर्वक उच्चारण है, और यजुर्वेद के परोहित 'अध्वर्यु' का कार्य समस्त यज्ञ की व्यवस्था करना है। अध्वर्यु के इस कार्य में गति और क्रिया अधिक अपेक्षित हैं। इसीलिये श ब्रा. १०।३।५।२-२ में यजुः का निर्वचन यत् (√इ+शतृ) और √जू (वेग होना) से किया गया है। निरुक्त (७।१२) में इसे √यज् से निष्पन्न माना है। इस धातु का मुख्य अर्थ 'यज्ञ, पूजा करना' है।

यजुर्वेद की दो प्रमुख शाखायें हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद को कृष्ण (काला) कहने का प्रमुख कारण यह है कि उसमें मन्त्रों के साथ साथ उनकी व्याख्या तथा विधिवाक्यों और अर्थवाद के रूप में ब्राह्मण अंश भी दिया गया है। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता को वाजसनेयि-संहिता (वा० सं०) भी कहते हैं। परम्परागत आख्यान के अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्य ने वाजी (सूर्य) की उपासना करके इस वेद का शुद्ध ज्ञान प्राप्त किया, अतः इसका नाम वाजसनेयि-संहिता है।[1]

इसकी माध्यन्दिन और काण्व, दो शाखायें उपलब्ध हैं। इनमें से माध्यन्दिन शाखा का प्रचलन अधिक है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार यह समस्त संहिता यज्ञ-परक है, क्योंकि इसमें मन्त्रों का क्रम दर्श-पौर्णमास प्रभृति यागों में विनिर्दिष्ट क्रम ही है। किन्तु अनेक स्थलों पर उव्वट महीधर के भाष्यों से ज्ञात होता है कि यज्ञपरक अर्थ करने के लिये शब्दों के साथ खींचतान करनी पड़ी है।[2] इसके अतिरिक्त इस संहिता का चालीसवाँ अध्याय (ईशोपनिषद्) और मनःसम्बन्धी प्रस्तुत मन्त्र (वा० सं० ३४ १-६) इस संहिता की आध्यात्मिकता के अत्यन्त स्फुट निदर्शन हैं। ये मन्त्र मनो-विज्ञान का सार

---

१. एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः।। भागवतपुराण १२।६।७३

२. वा. सं. १।१ में 'वायवः स्थ' पर मही.—वा गतिगन्धनयोः, वान्ति गच्छन्ति इति वायवो गन्तारः। हे वत्साः, यूयं वायवः स्थ मातृभ्यः सकाशादन्यत्र गन्तारो भवत।

प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक मन्त्र में मन के शिवसङ्कल्प होने की प्रार्थना के आधार पर इस मन्त्रसमूह को 'शिवसङ्कल्प-सूक्त' नाम से भी अभिहित किया जाता है। मनो-विज्ञान के मूलभूत गूढ तत्त्व इस सूक्त में अत्यन्त काव्यमयी भाषा में रखे गये हैं। इन मन्त्रों का सार यह है कि मन इस विश्व में बहुत बड़ी शक्ति है। ये मन्त्र ऋ० १०।१६६ के पश्चात् पठित खिल सूक्त ४।११ में भी आये हैं। वहाँ इनका क्रम भिन्न है तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुत से मन्त्र हैं।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥१॥

जो जागते हुए का दूर चला जाता है दिव्य,
वही सोते हुए का उसी प्रकार चला जाता है।
दूरगामी ज्योतियों में ज्योति एक (है अपरिमित)
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

मनुष्य का मन सबसे अधिक प्रभावशाली है। इसकी शक्ति अपरिमित है, अतः यह दिव्य है। मनुष्य के सोते होने पर भी मन का गतिशील होना अवचेतन मन की ओर संकेत करता है। जिस प्रकार बड़ी ज्योतियों (ग्रहनक्षत्रों) से मनुष्य का जीवन प्रभावित होता है, उसी प्रकार मन से भी होता है। साररूप में कह सकते हैं कि मनुष्य वह है, जो उसका मन है। यदि प्रत्येक व्यक्ति के मन में कल्याण की भावना आ जाये, तो सारे संसार का चित्र परिवर्तित हो जाये।

उदैति—मही.-उद्गच्छति, चक्षुराद्यपेक्षया मनो दूरगामीत्यर्थः।

दैवम्—उ.-देवो विज्ञानात्मा, सोऽनेन गृह्यत इति दैवम्। मही.-दीव्यति प्रकाशते देवो विज्ञानात्मा तत्र भवं दैवमात्मग्राहकमित्यर्थः—'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्' इति श्रुतेः।

तदु—उ.-तदः स्थाने यदो वृत्तिः, उकारः समुच्चयार्थीयः (और जो)।

दूरंगमम्—मही०—दूरात् गच्छतीति दूरंगमम् खश्प्रत्ययः। अतीतानागतवर्तमानविप्रकृष्टव्यवहितपदार्थानां ग्राहकमित्यर्थः।

ज्योतिषां ज्योतिरेकम्—मही०-ज्योतिषां प्रकाशकानां श्रोत्रादीन्द्रियाणामेकमेव ज्योतिः प्रकाशकं प्रवर्तकमित्यर्थः। प्रवर्तितान्येव श्रोत्रादीन्द्रियाणि स्वविषये प्रवर्तन्ते। आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति न्यायोक्तेर्मनःसम्बन्धमन्तरा तेषामप्रवृत्तेः।

शिवसंकल्पम्—उ०-संकल्पः काममूलपदार्थस्य स्त्र्यादेः सुरूपताज्ञानवतः कामप्रभृति शान्तसंकल्पम्। मही०-शान्तसंकल्पम्—शिवः कल्याणकारी धर्म-

विषयः संकल्पो यस्य तत् तादृशं भवतु—मन्मनसि सदा धर्म एव भवतु न कदाचित् पापमित्यर्थः ।

येन॒ कर्मा॑ण्य॒पसो॑ मनी॒षिणो॑ य॒ज्ञे कृ॒ण्वन्ति॑ वि॒दथे॑षु॒ धीराः॑ ।

यद॑पू॒र्वं य॒क्षम॒न्तः प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥२॥

जिसके द्वारा (सभी) कर्म कर्मशील मनीषी
यज्ञ में करते हैं ज्ञानप्रसङ्गों में (भी) बुद्धिमान् ।
जो अपूर्व पूज्य भीतर सब प्रजाजनों के (है)
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

जितने भी कर्म साधारण जनों से लेकर अत्यन्त मेधावी जन करते हैं, वे सब मन के द्वारा, उसकी सहायता से ही करते हैं। चित्त की एकाग्रता के बिना अभीष्ट कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती । सभी प्राणियों के भीतर विद्यमान यह महाशक्ति, अग्रिम स्थान को प्राप्त है । सभी इन्द्रियों आदि से पूर्व मन विद्यमान था । यह भी कह सकते हैं कि किसी इन्द्रिय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया के सञ्चालनार्थ चेतन अथवा अवचेतन मन से सङ्केत प्राप्त होना अनिवार्य है, उसके बिना पलक झपकने जैसी क्रिया भी असम्भव है ।

अ॒पसः॑—कर्मशील, अपस् शब्द अन्तोदात्त होने पर विशेषण (कर्मशील) होता है । आद्युदात्त होने पर यह संज्ञा-पद (कर्म) होता है । मही०-अप इति कर्मनाम । अपो विद्यते येषां ते अपस्विनः कर्मवन्तः, 'अस्मायामेधास्रजो विनिः (पा० ५।२।१२१) इति विन्प्रत्ययः 'विन्मतोर्लुक्' इतीष्ठाभावेऽपि छान्दसो विनो लुक् (पा० ४।३।६५), सदा कर्मनिष्ठा इत्यर्थः ।

कृ॒ण्वन्ति॑—√कृ स्वादि० परस्मै० लट्० प्र० पु० बहु०, वाक्य में 'यत्' (येन) का प्रयोग होने के कारण 'आद्युदात्तश्च' (पा० ३।१।३) से प्रत्यय 'अन्ति' का आदि उदात्त है ।

वि॒दथे॑षु—उ०-वेदनेषु यज्ञविधिविधानेषु, मही०-ज्ञानेषु सत्सु विद्यन्ते तानि विदथानि तेषु । वेत्तेरौणादिकोऽथप्रत्ययः, प्रत्ययोदात्तत्वेन मध्योदात्तं पदम् 'आद्युदात्तश्च' (पा० ३।१।३) इति पाणिन्युक्तेः यज्ञसम्बन्धिनां हविरादिपदार्थानां ज्ञानेषु सत्स्वित्यर्थः । यास्क (नि० १।७) ने ऋ. २।११।२१ के अन्तर्गत 'विदथे' का अर्थ 'स्वे वेदने' किया है । 'वेदने' का अर्थ अधिकांश भाष्यकारों ने 'गृहे' या 'यज्ञे' दिया है । परन्तु यास्क ने स्वयं अन्य स्थलों (यथा नि० ३।१२ में विदथा-वेदनेन, नि० ६।७ में विदथानि वेदनानि) पर जो 'वेदन' अर्थ दिया है उससे भाष्यकारों ने 'ज्ञान' ही समझा है । अतः अधिकतर इस शब्द का 'ज्ञान' अर्थ ही यास्क को अभिप्रेत प्रतीत होता है । सायण ने (१) ऋ० १।३१।६ के

अन्तर्गत 'विदथे' का अर्थ 'कर्मणि' दिया है और (२) ऋ० १।४०।६ के अन्तर्गत 'विदथेषु' का अर्थ 'यज्ञेषु' देते हुए उसका निर्वचन इस प्रकार किया है—विद ज्ञाने, विद्यते फलसाधनत्वेन ज्ञायते इति विदथो यज्ञः, 'रुविदिभ्यां कित्' (उणादि० ३।३९५) इति अथप्रत्ययः। (३) ऋ० १।१४३।७ के अन्तर्गत सा. ने 'विदथेषु' की व्याख्या 'यज्ञेषु वेदयत्सु स्तोत्रेषु निमित्तभूतेषु' की है। स्वा. द. ने उपर्युक्त प्रथम स्थल पर 'धर्म्ये युद्धे यज्ञे' अर्थ किया है क्योंकि निघं० ३।१७ में विदथ शब्द संग्राम के नामों में आया है। द्वितीय स्थल पर उन्होंने नि० ६।७ के साक्ष्य पर 'विज्ञानेषु पठनपाठनव्यवहारेषु कर्तव्येषु सत्सु' अर्थ किया है। तृतीय प्रसंग में फिर 'संग्रामेषु' अर्थ दिया गया है। अर. के अनुसार इसका अर्थ 'ज्ञान' अथवा 'ज्ञान का अन्वेषण' (नॉलेज, डिस्कवरी ऑफ नॉलेज) है।[1] पी. ने इस शब्द पर टिप्पणी देते हुए[2] इसका निर्वचन वि √ धा (बाँटना, व्यवस्थित करना, विधान करना) से माना है। इस मूल धात्वर्थ के अनुसार वैदिक ऋषियों के विचार में सर्वाधिक कृत्रिम रूप से 'विहित' वस्तु का प्रमुख उदाहरण 'यज्ञ' था। अतः 'यज्ञ' और 'विधान' लगभग पर्याय हो गये। अन्ततः 'विदथ' का अर्थ 'किसी कार्य को निबटाना' जैसा प्रतीत होता है। अतः 'विदथ' और 'सभा' शब्दों के अर्थ एक दूसरे के निकट आते प्रतीत होते हैं। इसी आधार पर सम्भवतया पी. तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द का अर्थ 'सभा' (असेम्बली) किया है। किन्तु स्पष्ट ही √ विद् (जानना) से व्युत्पन्न दिखाई देने वाले इस शब्द के लिये 'वि √ धा' की कल्पना करना अनावश्यक है। इसका अर्थ 'ज्ञान,-ज्ञानसत्र,-ज्ञान-प्रसङ्ग,—ज्ञान या विचारविमर्श का स्थल' अधिक उचित प्रतीत होता है। इस मन्त्र में यज्ञ और विदथ शब्दों के एक साथ आने से उनका भिन्नार्थक होना निश्चित प्रतीत होता है।

अपूर्वम्—मही०-न विद्यते पूर्वमन्द्रियं यस्मात्तदपूर्वम् इन्द्रियेभ्यः पूर्वं मनसः सृष्टेः। यद्वा अपूर्वमनपरमबाह्यमित्युक्तेरपूर्वम्। आत्मरूपमित्यर्थः।

यक्षम्—उ०-पूज्यम्, मही० यष्टुं शक्तं यज्ञम्, यजतेरौणादिकः सन्प्रत्ययः।

अन्तः—इस पद के अन्त में रिफित विसर्जनीय होने के कारण पदपाठ में 'इति' लगाकर इसकी चर्चा अर्थात् द्विरुक्ति की गई है। मही०-इदं मनः प्राणिमात्रमन्तः शरीरमध्ये आस्ते इतरेन्द्रियाणि बहिःष्ठानि मनस्त्वन्तरिन्द्रियमित्यर्थः।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः...॥३॥

---

१. श्री आरोबिन्दोज वेदिक ग्लॉस्सरी, पृ. ३५०-५१।

२. हिम्ज फ्रॉम दि ऋग्वेद, पृ. १००; दे. ओ. ब., वेदिक हिम्ज, भाग २, पृ. २६-७; मक्स वेदिक हिम्ज, भाग १, पृ. ३४५-५०।

जो प्रज्ञा और (जो) चिन्तन औ' धारणशक्ति (है),
जो ज्योति भीतर अमर (है) सब प्रजाजनों में।
जिसके नहीं बिना कुच्छ भी कर्म किया जाता है,
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

सर्वोच्च तथा गूढ तत्त्व के रूप में मन मनुष्य की उच्चतम श्रेष्ठ शक्तियों पर नियन्त्रण करने वाला होता है। और उन शक्तियों को सबसे प्रखर रूप में वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसका मन पूर्णतया नियन्त्रित है। वह मन ही मानो सब प्राणियों में सब तत्त्वों को प्रकाशित करने वाली ज्योति है। यदि मन की प्रवृत्ति नहीं हो तो अत्यन्त दक्ष पुरुष भी कुछ कार्य नहीं कर सकता। कुछ भी करने के लिये चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है।

प्र॒ज्ञान॑म्, चेत॑:, धृति॑:—उ०-विशेषप्रतिपत्तिप्रज्ञानम्, सामान्यप्रतिपत्तिचेतः, धृतिश्च प्रसिद्धा, मही.-विशेषेण ज्ञानजनकम् प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत् प्रज्ञानम्; 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० ३।३।११७) इति करणे ल्युट्प्रत्ययः, चेतयति सम्यक् ज्ञापयति तच्चेतः, 'चिती संज्ञाने' अस्मात् ण्यन्तादसुन्प्रत्ययः। सामान्य-विशेषज्ञानजनकमित्यर्थः। यच्च मनो धृतिर्धैर्यरूपम्। मनस्येव धैर्योत्पत्तेर्मनसि धैर्यमुपचर्यते कार्यकारणयोरभेदात्। ऋग्वेद में (खिल सूक्त ४।११ को छोड़कर) 'प्रज्ञानम्' और 'धृतिः' शब्दों का अभाव है। हाँ, 'प्रज्ञातारः' शब्द केवल एक बार (१०।७८।२ में) आया है। चेतस् शब्द ऋग्वेद में कुल छः बार आया है और इन सभी स्थलों पर इसका प्रयोग तृतीयान्त रूप 'चेतसा' में हुआ है। इससे ऐसा संकेत मिलता है कि 'चेतस्' अधिकतर करण के रूप में माना जाता था। तदनुसार चेतस् (मन) तत्त्वों को जानने, समझने वाला तत्त्व है।[1] शुक्ल यजुर्वेद के प्रस्तुत मन्त्र में ये तीनों शब्द प्रथम बार एक साथ आये हैं। इससे इनके भावों में सूक्ष्म भेद ऋषि को अभीष्ट है। प्रज्ञान वस्तुतः मन की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है जिसमें आत्मानुभूति के आनन्द में उसे और कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता। 'जो कुछ स्थावर और जगम है, प्रज्ञा ही उसकी दृष्टि है, प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है, लोक की दृष्टि प्रज्ञा है, प्रज्ञा प्रतिष्ठा है, प्रज्ञान ब्रह्म है।'[2] इस रूप में मन और बुद्धि का परमोत्कर्ष एक हो गए हैं। चेतस् शब्द का सम्बन्ध 'चिन्तन करना, जानना, समझना' क्रियाओं से है। इसका निर्वचन 'चित्त' के समान ही √चित् (संज्ञाने) से किया जा सकता है—चेतति अनेन

१. तु. ऋ. ५।७३।६—यु॒वोर्विश्चिकेतति॒ नरा॑ सु॒म्नेन चेत॑सा।
ऋ. ६।८६।४२—सो अ॒ग्रे॒ अह्ना॒॑ हरि॑र्हर्य॒तो मदः प्र चेत॑सा चेतयते अनु॒द्युभिः।
२. ऐतरेय उपनिषद्—३।३, सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।

अर्थात् । धृति मन की धारणशक्ति है । यह 'धी' भी कही जा सकती है । इसमें √धृ (धारणार्थक) बहुत स्पष्ट है । गीता के प्रयोग से भी इसके उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है ।[1] इसी प्रकार अमरकोष में जहाँ धृति के धारण और धैर्य दोनों पर्याय दिये गये हैं (धृतिर्धारणधैर्ययोः), वहाँ भी धारण मन की धारण-शक्ति ही प्रतीत होती है ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥

जिससे यह (सब) भूत वर्तमान (औ') भविष्य (भी)
नियन्त्रित है अमर के द्वारा सब कुछ (कण एक एक) ।
जिससे यज्ञ किया जाता है सात पुरोहित वाला
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

मन का और उससे उत्पन्न कामना का सृष्टि के क्रम में बहुत महत्त्व है । प्रजापति में सृष्टि करने से पूर्व एक से बहुत होने की कामना उत्पन्न होती है ।[2] मन के प्रथम वीर्यरूप काम का अस्तित्व सृष्टि के आरम्भ में बताया गया है ।[3] इस प्रकार स्वाभाविक रूप से सृष्टि में सहायक मन अपने उत्कृष्टतम रूप में अमर भी है और भूत, वर्तमान, भविष्य का नियामक भी । अन्यथा भी तीनों कालों में मनुष्य जो कुछ करता है, वह उसके चेतन अथवा अवचेतन मन के चिन्तन का परिणाम है । यह मन ही सात ज्ञानेन्द्रियों, प्राणों रूपी पुरोहितों वाला (श० ब्रा० ६।१।१—प्राणा वा ऋषयः) जीवन-यज्ञ करवाता रहता है । मन को इन्द्रियों रूपी घोड़ों की लगाम बताया ही गया है (कठोपनिषद्-इन्द्रियाणि हयानाहुः मनः प्रग्रहमेव च) । अथवा अग्निष्टोम (सातपुरोहितों वाला) यज्ञ करना हो तो उसमें भी मन की एकाग्रता आवश्यक है ।

परिगृहीतम्—मही०-परितः सर्वतो ज्ञातम्, त्रिकालसम्बद्धवस्तुषु मनः प्रवर्तत इत्यर्थः । श्रोत्रादीनि तु प्रत्यक्षमेव गृह्णन्ति ।

अमृतेन-मही०-शाश्वतेन, मुक्तिपर्यन्तं श्रोत्रादीनि नश्यन्ति मनस्त्वनश्वरमित्यर्थः ।

सप्तहोता—मही०-सप्त होतारो देवानामाह्वातारो होतृमैत्रावरुणादयो यत्र स सप्तहोता । अग्निष्टोमे सप्त होतारो भवन्ति ।

---

१. गीता १८।३३—धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

२. प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । ताण्ड्यमहाब्राह्मण, २।२।५ ।

३. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । ऋ. १०।१२९।४

यस्मि॒न्नृचः॒ साम॒ यजूँ॑षि॒ यस्मि॑न् प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒राः ।
यस्मि॑ँश्चि॒त्तँ॑ सर्व॒मोतं॑ प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥५॥

जिसमें (रहीं) ऋचायें, साम, यजुष (भी) हैं जिसमें
सुस्थित रथ (-चक्र) के केन्द्र (-बिन्दु) में यथा अरायें ।
जिस पर (ही) चित्त सभी बुना है प्रजाजनों का
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

ऋचायें, साम और यजुष् तीनों प्रमुख विद्याओं या ज्ञान-मात्र के प्रतीक हैं। समस्त विद्यायें इस मन पर उसी प्रकार आधारित हैं जैसे किसी यान के चक्र के केन्द्र से सब अरायें जुड़ी रहती हैं। जब तक मन एकाग्र न हो, मनुष्य कोई भी विद्या ग्रहण नहीं कर सकता। इसी कारण कहा गया है कि प्राणियों का समस्त चित्त अर्थात् ज्ञान-विज्ञान, चिन्तन मन में मानो बुना हुआ है। सब ज्ञान मन से उसी प्रकार गुंथा रहता है जैसे वस्त्र के तन्तु एक दूसरे से गुंथे होते हैं।

प्रतिष्ठिता—मही०-प्रतिष्ठितानि । मनसः स्वास्थ्ये एव वेदत्रयीस्फूर्तेर्मनसि शब्दमात्रस्य प्रतिष्ठितत्वम् 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इति छान्दोग्ये मनस एव स्वास्थ्ये वेदोच्चारणशक्तिः प्रतिपादिता। तत्र दृष्टान्तः। यथा आराः रथचक्र-नाभौ मध्ये प्रतिष्ठिताः तद्वच्छब्दजालं मनसि ।

चित्तम्—उ०-संज्ञानम्, मही०-ज्ञानं सर्वपदार्थविषयि ज्ञानम् ।

ओतम्—निक्षिप्तम्, मनःस्वास्थ्ये एव ज्ञानोत्पत्तिर्मनोवैयग्र्ये ज्ञानाभावः

सु॒षा॒र॒थिरश्वा॑निव॒ यन्म॑नु॒ष्या॒न्नेनी॒यते॒ऽभीशु॑भिर्वा॒जिन॑ इव ।
हृ॒त्प्रति॑ष्ठं॒ यद॑जि॒रं जवि॑ष्ठं॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥६॥

अच्छा सारथि घोड़ों को जैसे जो मनुजों को
ले जाता सतत, रास से वाजिवृन्द को मानो ।
हृदयप्रतिष्ठित जो जरारहित वेगवान् सबसे (जो)
वह मेरा मन कल्याणकर निश्चय वाला होवे ॥

मन एक ऐसा कुशल सारथि है, जिसके वंश में मनुष्यरूपी घोड़े निरन्तर रहते हैं। जिस प्रकार लगाम के द्वारा सारथि घोड़ों को इच्छानुसार ले जाता है, उसी प्रकार मन भी मनुष्यों से सब कार्य करवाता है। मन बहुत प्रवल है। गीता में इसके लिये 'प्रमाथि, बलवद्, दृढम्' विशेषण आये हैं। और यह मन कहीं बाहर से प्रभाव नहीं डालता। यह तो मनुष्यों के हृदय में प्रतिष्ठित अर्थात् भीतर ही है। शरीर के जराग्रस्त होने पर भी यह जराग्रस्त नहीं

होता। मन का सबसे वेगवान् होना सुविख्यात है। केवल ब्रह्म मन से अधिक वेगवान् है—मनसो जवीयः (ईशोपनिषद्-४)।

सुषारथिः—उ०-कल्याणसारथिः, मही०-शोभनः सारथिः; यह स्वरविषयक अपवाद का उदाहरण है। पाणिनि (६।२।१९५—सोरवक्षेपणे) के अनुसार सु के साथ तत्पुरुष समास केवल निन्दा के अर्थ में अन्तोदात्त हो सकता है। परन्तु यहाँ अन्तोदात्त होते हुए भी यह प्रशंसा के अर्थ में है। वै. स्व. स., पृ. १५२

मनुष्यान्—वाजसनेयिप्रातिशाख्य १।१११-एकपदे नीचपूर्वः सयवो जात्यः। जब एक ही पद में अनुदात्त स्वर के अनन्तर आने वाले यकारान्त, वकारान्त संयुक्ताक्षर के स्वर पर स्वरित चिह्न हो तो वह 'जात्य स्वरित' होता है।

नेनीयते—निरन्तर ले जाता रहता है, मही.-अत्यर्थम् इतस्ततो नयति। √नी यङ्, लट्, प्र० पु० एक०।

हृत्प्रतिष्ठम्—मही०-हृदि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तत्, हृद्येव मन उपलभ्यते। यहाँ बहुव्रीहि समास होते हुए उत्तरपद का आद्यक्षर उदात्त होना अपवादात्मक है—(पा० ६।२।१९९ पर कारिका—परादिश्च परान्तश्च…)।

अजिरम्—मही०-जरारहित वाल्ययौवनस्थविरेषु मनसस्तदवस्थत्वात्।

जविष्ठम्—उ०-अतिशयेन गन्तृ, मही०-अतिवेगवत्, 'न वै वातात्किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति' इति श्रुतेः।

वा. सं. २२।२२

शुक्लयजुर्वेद में से उद्धृत यह मन्त्र वेद के सर्वोदयात्मक सर्वाङ्गपूर्ण उदार दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। इसे वेद का 'राष्ट्रीय गीत' भी कहा जाता है। स्वस्थ, सुखी, समृद्ध राष्ट्र के लिये जो कुछ भी मूलतः अपेक्षित है, उस सबकी अभिलाषा इसमें अभिव्यक्त की गई है। शारीरिक बौद्धिक और प्राकृतिक—तीनों रूपों में समस्त राष्ट्र को समृद्ध होना चाहिये।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्यो-ऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

सब ओर हे ब्रह्म ! ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त जन्म ले,
सब ओर राष्ट्र में क्षत्रिय, वीर, बाण में कुशल,
(शत्रु को) अत्यधिक विद्ध करने वाला महारथी जन्म ले,
दुधारू गाय सवत्सा, वाहक बैल, द्रुतगामी घोड़ा (हो),
समृद्धियुक्त नारी, विजयी (जन) रथ पर सुस्थित,
सभ्य, युवा इस यजमान का वीर (पुत्र) ले जन्म,
इच्छा के अनुकूल हमारी मेघ वृष्टि (सदा) दे,
फलवती हमारी ओषधियाँ पकें (निरन्तर),
(विविधवस्तु की) प्राप्ति-रक्षा हमारी बनी रहे ॥

पढ़ने पढ़ाने वाले, तेजस्वी विचारक व्यक्ति सुदृढ़ राष्ट्र का आधार हैं, उसकी अमूल्य निधि हैं, अतः सर्वप्रथम उनके लिये प्रार्थना की गई है। किन्तु साथ ही उनकी रक्षा के लिये क्षत्रियों अर्थात् कुशल सैनिकों का होना अत्यन्त आवश्यक है। अरक्षा के वातावरण में चिन्तनसम्बन्धी गतिविधियाँ असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाती हैं—'शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचर्चा प्रवर्तते'। और सैनिकों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये कृषकों, वैश्यों आदि के द्वारा पुष्टि-कारक दूध, अनाज आदि का विपुल उत्पादन आवश्यक है। इस उत्पादन से बैल घोड़े आदि उपयोगी पशुओं को भी लाभ होता है। यदि गृहलक्ष्मी समृद्ध होगी, तभी वह अर्थव्यवस्था के मूलाधार घर को सुचारु रूप से सम्भाल सकेगी। राष्ट्र में यजमान अर्थात् ईश्वर में श्रद्धाभाव रखने वाले एवं दानी व्यक्ति निस्सं-देह सभी अभिलषित तत्त्वों की पूर्ति में सहायक होते हैं। प्रकृति का सहयोग अर्थात् समय पर आवश्यक मात्रा में वृष्टि का होना और प्रचुर मात्रा में अनाज का होना भी राष्ट्र के लिये आवश्यक है। और अन्त में आवश्यक है योगक्षेम अर्थात् आवश्यकतानुरूप वस्तुओं की प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा।

ब्रह्मवर्चसी—उ०, मही०-यज्ञाध्ययनशीलः।

इषव्यः—उ०, मही०-इषुभिर्विध्यति इति, यद्वा इषौ कुशलः इति।

महारथः—बहुव्रीहि समास के अन्तोदात्त स्वर के लिये वा० सं० ३४।६ के अन्तर्गत 'हृत्प्रतिष्ठम्' पर टिप्पणी देखिये।

पुरंध्रिः—मही०-पुरं शरीरं सर्वगुणसम्पन्नं दधाति—रूपवती। यास्क (नि० ६।१३) ने इस शब्द का अर्थ 'बहुधीः' किया है। स्पष्ट ही यहाँ निर्वचन पुरु (बहुत) और धीः से किया गया है। यहाँ यह पुंलिङ्ग है और यास्क ने इससे 'भग' का अभिप्राय लिया है। विकल्प में इसका अभिप्राय 'इन्द्र' भी माना है और निर्वचन 'पुरा दारयितृतमः' (नगरों को अत्यधिक तोड़ने वाला) किया

है।[1] नि० १२।३० में 'पुरन्ध्या' का अर्थ 'स्तुत्या' दिया गया है। दुर्गभाष्य में इसका भाव इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :—पुरुधिया बहुपुत्र्या माध्यमिकया वाचा (सहिता सरस्वती)।[2] ऋ० १।११६।७ में 'पुरन्धिम्' का अर्थ 'प्रभूतां धियं बुद्धिम्' करते हुए सा. ने नि० (६।१३) को उद्धृत किया है और पृषोदरादि से उसकी सिद्धि मानी है। इसके अतिरिक्त एक और व्युत्पत्ति भी दी है—'पुरं पूरयितव्यं सर्वविषयजातमस्यां धीयतेऽव स्थाप्यते इति पुरन्धिर्बुद्धिः'। परन्तु अन्त में इसे केवल व्युत्पत्ति बताकर पृषोदरादि से ही सिद्ध बताया है—इदं तु व्युत्पत्तिमात्रं, वस्तुतः पृषोदरादिरेव। इसी मन्त्र के भाष्य में स्वा. द. ने भी इसका अर्थ 'बहुविधां धियम्' देकर इसे पृषोदरादि से ही सिद्ध माना है। सा. ने सर्वत्र प्रायः यही अर्थ दिया है। परन्तु स्वा. द. ने अन्य स्थलों पर भिन्न अर्थ भी दिये हैं। ऋ० ७।६।६ में उनके अनुसार इसका अर्थ 'यो बहून् दधाति तम्' भी है। अर के अनुसार इसका अर्थ या तो 'बहुविचार युक्त देवी' है और या 'नगर को धारण करने वाली' है।[3] ऋ० १।१८१।६ में सायण ने पुरन्धिः का 'बहुप्रज्ञः' (पुं०) के साथ साथ 'बहूनां धारयित्री पृथिवी'(स्त्री० द्वितीयार्थे प्रथमा) अर्थ भी दिया है। सायण के इसी अर्थ के आधार पर पी ने ऋ० ३।६१।१ में इसका अर्थ 'सब अच्छी वस्तुओं को तुम लाती हो' किया है। पुर् का अर्थ तदनुसार 'पूर्णता' है।[4] स्वा. द. ने उस प्रसङ्ग में 'यः पुरं जगद् धरति' अर्थ दिया है। अतः इसका 'बहुत (वस्तुएँ) धारण करने वाली—समृद्ध' अर्थ भी सम्भव है।

रथेष्ठाः—रथे तिष्ठतीति, क्विप्, सप्तम्या अलुक्, रथे स्थितो युयुत्सुर्नरः।

निकामे निकामे—उ०-प्रार्थनायाम्, अभ्यासो वीप्सार्थः। मही०-नितरां कामनायां सत्याम्।

---

१. मुकुन्दझा बख्शी ने इसका निर्वचन 'पुरो ध्यातारम्' दिया है।

२. ऋ. १०।६५।१३ पर सायण—बहुविधया प्रज्ञया सहिता सरस्वती।

३. ओरोबिन्दोज वेदिक ग्लॉस्सरी, पृ. २७२।

४. हिम्ज़ फ़ॉम दि ऋग्वेद, पृ. १३६।

अथर्व-वेदः

काण्ड ३, सूक्त ३० (सांमनस्यम्)

वैदिक वाङ्मय में अथर्ववेद का अपना अद्वितीय महत्त्व है। यद्यपि 'त्रयी' या वेदत्रय में इसकी गणना न होने के कारण बहुत से विद्वान् इसे काल की दृष्टि से अन्तिम वेद मानते हैं, तथापि वे ही विद्वान् इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि इस वेद के बहुत से अंश सम्भवतया ऋग्वेद से भी पूर्व के हैं। इसका आधार उन विद्वानों के मतानुसार इसमें लक्षित मानव की आदिम जादू-टोने आदि की प्रवृत्तियाँ हैं। इस में कोई सन्देह नहीं कि उस तथाकथित जादू-टोने के मन्त्रों पर प्रमुखरूप से अथववेदीय कौशिकसूत्र का विस्तृत कर्मकाण्ड आधारित है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वैज्ञानिक परीक्षणों एवं सूक्ष्मान्वीक्षण के द्वारा उनमें से अधिकांश मन्त्रों का सम्बन्ध या तो आयुर्वेद-प्रभृति विद्याओं से, या अध्यात्म-विद्या से स्थापित होगा। और इसी आधार पर इसे आदिमयुगीन या परवर्ती भी सिद्ध करना कठिन होगा। ब्रह्म-विद्या के आधार पर ही इसे 'ब्रह्म-वेद' की सज्ञा भी दी जाती है। यज्ञ के प्रसङ्ग में भी इस नाम को यदि देखा जाये तो यह स्पष्ट है कि जिस ब्रह्मा पुरोहित से इसका सम्बन्ध माना जाता है, उसके लिये सब वेदों का ज्ञाता होना आवश्यक है। ऐ० ब्रा० (५।५।८) में उल्लेख है कि त्रयी विद्या के द्वारा ही ब्रह्मा अपना कार्य करना है (अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति ? त्रय्या विद्यया)। इसी के भाष्य में सायण ने इसका भाव इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

अथर्वक्षेत्रवान् ब्रह्मा वेदेष्वन्येषु भागवान्।
तस्माद् ब्रह्माणं ब्रह्मिष्ठमिति ह्यारण्यकं श्रुतम्॥

सामान्यतया अथर्ववेद को विविध सकलन कहा जा सकता है। अथर्ववेद की दो प्रमुख संहितायें उपलब्ध हैं—शौनक संहिता और पैप्पलाद सहिता। इनमें से सुलभता के कारण शौनक संहिता ही अधिक प्रचलित रही है। पैप्पलाद संहिता की उपलब्धि कुछ समय पूर्व ही हुई है। अथर्ववेद में भी अन्य दो वेदों के समान ऋग्वेद के अनेक मन्त्र समाविष्ट हैं। कुल वीस काण्डों में विभाजित इस वेद के अनेक सूक्त आध्यात्मिक ज्ञान के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। कई मन्त्रों में आध्यात्मिक पहेलिया भी हैं। आयुर्वेद के मूल संकेत तो इस वेद में मिलते ही हैं, साथ ही सरल काव्यात्मक भाषा में सामान्य शिष्टाचार और जीवन के मूल सिद्धान्त भी निरूपित हैं। ३।३० सूक्त भी इन्हीं भावों से ओतप्रोत काव्य का

उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें सभी जनों में समभाव तथा परस्पर सौहार्द की भावना व्यक्त की गई है। यह अभिलाषा प्रकट की गई है कि परिवार के सभी सम्बन्धी प्रेम-पूर्वक मिलजुल कर रहें, क्योंकि समाज का मूल परिवार ही है। सब एक दूसरे से मधुर वाणी में बोलें और सबके मन एक-समान हों। उनमें एक दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति हो। यह सौमनस्य प्रत्येक काल में रहे जिससे समाज में कलह न हो और सब कार्य सुचारु रूप से चलते रहें; फलतः राष्ट्र उन्नति करे और समृद्धि को प्राप्त हो। स्नेह और सौहार्द का यह सन्देश आज के स्वार्थपरक युग में और भी आवश्यक है। इस सूक्त की तुलना ऋ० १०।१९१ से की जा सकती है।

कौशिकसूत्र (१२।५) में यह सूक्त मानसिक एकता उत्पन्न करने से सम्बद्ध कर्म के लिये निर्दिष्ट सात सूक्तों (३।३०; ५।१।५; ६।६४; ७३; ७४; ९४; ७।५२) में से प्रथम है। अगले सूत्र में बताई गई विधि के अनुसार कलहरत जनसमुदाय के चारों ओर जलपूर्ण घृतानुलिप्त कलश घुमाया जाता है और फिर उसे उनके मध्य उंडेल दिया जाता है।

ऋषिः—अथर्वा, देवता—चन्द्रमाः, सांमनस्यम्।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥

समान हृदय (अरु) सम-मन-भाव,
अविद्वेष करता तुम सबका।
एक अन्य की करो कामना
बछड़े जाये की जैसे गौ ॥

हृदय की समानता, मन की समानता और विद्वेषशून्यता की जो उपमा यहाँ दी गई है, उससे अधिक उपयुक्त उपमा, इस प्रसङ्ग में, और कोई नहीं हो सकती। नवजात बछड़े के साथ गौ पूर्णतया एकरूप होती है। बछड़े का तनिक सा कष्ट भी मानो उसका अपना कष्ट होता है। यह समानता केवल शारीरिक नहीं है, हार्दिक और मानसिक है।

सहृदयम्—सा०-समानैर्हृदयैरुपेतं (सांमनस्यम्) समानचित्तवृत्तियुक्तम् इत्यर्थः। ब्लूम० हृदय-संयोग (यूनिटी ऑफ़ हार्ट), व्हि० हृदय-समानता (लाइक-हार्टडनैस)।

सांमनस्यम्—सा० का पाठ 'सांमनुष्यम्' है। मिथः संप्रीतियुक्ता मनुष्याः संमनुष्याः तैर्निर्वर्तितं सांमनुष्यम्। ईदृशं समानज्ञानहेतुभूतं सख्यं करोमीत्यर्थः।

ब्लूम०-मन-संयोग (यूनिटी ऑफ़ माइंड), व्हि०-मन-समानता (लाइक माइंडेडनैस)।

अघ्न्या—सायण का पाठ 'अघ्न्याः' (बहु०) है।—जो हिंसा के योग्य नहीं है। गौ के लिये प्रयुक्त यह शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें तत्कालीन समाज द्वारा गौ के प्रति प्रदर्शित सम्मान प्रकट होता है।

हर्यत—√हर्य् गतिकान्त्योः।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥

अनुव्रती (हो) पिता का पुत्र
माता से हो समानमन वह।
पत्नी पति को माधुर्ययुक्त
वाणी बोले शान्त-सुखद वह॥

समाज में सम-भावना का आधार परिवार है। अतः सन्तति का माता-पिता के प्रति स्नेह और आज्ञाकारिता उसका प्रथम चरण है। इसी प्रकार जिस घर में पति और पत्नी में मधुर सम्बन्ध नहीं होगा, वहाँ समाज में भी उसका प्रतिफल लक्षित होगा। घरेलू असन्तोष से व्यक्ति बाहर के वातावरण को अनायास ही प्रभावित करता है।

अनुव्रतः—अनुकूलकर्मा भवतु, यत् पिता कामयते तत्कर्मकारी भवतु।

मात्रा—सायण ने यहाँ 'माता' पाठ दिया है।

शन्तिवाम्—सा०-सुखयुक्ताम्, ब्लूम०-मधुर (स्वीट), व्हि०-स्वस्थ-समृद्ध (वीलफ़ुल)।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥

न भाई भ्रात से करे द्वेष,
नहीं बहिन से और बहिन (भी)।
समानगति समव्रत होकर तुम,
वाणी बोलो भद्र (भाव) से॥

भाई-बहिन का स्नेह परिवार की दृढ़ता के लिये आधार का कार्य करता है। परिणामस्वरूप वे साथ साथ चलते हुए, समान नियमों का पालन करते

हुए, मधुर और सभ्य वाणी बोलते हुए समाज को उन्नति तथा सौमनस्य की ओर ले जाते हैं।

द्विक्षत्—√द्विष् अप्रीतौ, अनिट् सिच्-लुङ् के अंग से लेट् प्र० पु० एक०। भारतीय विद्वानों (परम्परागत) के मतानुसार 'सिप् बहुलं लेटि' (पा० ३।१।३४) से यहाँ लेट् प्रत्यय परे रहने पर सिप् (स्) विकरण जोड़ा गया है। सा० ने 'द्विष्यात्' पाठ दिया है। दायभागादिनिमित्तेन भ्रातृविषयमप्रियं मा कुर्यात्। ब्लूम०, व्हि०-घृणा न करे (शैल नॉट हेट्)।

सम्यञ्चः—सम्+√अञ्च्+क्विन्, 'समः समि' (पा० ६।३।९३) से सम् का समि होकर यण् सन्धि से यह रूप प्र० बहु० में बनता है। डॉ० राम गोपाल ने इसका अर्थ 'साथ जाता हुआ' दिया है (वै० व्या० भाग १, पृ० २७९)। ब्लूम०-समरूप (हार्मोनिअस), व्हि०—सुसंगत (एकॉर्डेंट)। सा०-सम-ञ्चनाः, समानगतयः।

सव्रताः—समानं व्रतं नियमः येषां ते। सा०-समानकर्माणः, ब्लूम०-समान उद्देश्य में लगे हुए (डिवोटेड टु दि सेम् पर्पज़), व्हि०-समान मार्गों वाले (ऑफ लाइक कोर्सेज़)। यास्क ने (नि० २।१३ में) व्रत के निम्नलिखित तीन निर्वचन देकर तीन अर्थ बताये हैं—१. व्रतमिति कर्म नाम, वृणोतीति सतः, (किया हुआ कर्म कर्ता को आवृत करता है)। २. इदमपीतरद्व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म, वारयतीति सतः (यमनियमादि कर्ता को दुर्वृत्त से रोकते हैं)। ३. अन्नमपि व्रतमुच्यते, यदावृणोति शरीरम् (अन्न शरीर को आवृत करता है)। अन्यत्र (नि० ११।२३ और १२।३२ में) यास्क ने व्रत का अर्थ 'कर्म' ही किया है। सा. ने प्रायः इसका अर्थ कर्म—'यज्ञादि कर्म' किया है। स्वा. द. के अनुसार इसका अर्थ 'सत्यभाषणादि नियतधर्मयुक्त कर्म' है। वा० सं. १।५ में उव्वट ने व्रत का अर्थ 'सत्यादिकम्' किया है। इसी प्रसंग में महीधर ने इसका अर्थ 'अनुष्ठेयं कर्म' दिया है। वा० सं० के उपर्युक्त प्रकरण में ही असत्य से सत्य की ओर जाने का भाव व्यक्त किया गया है (इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि), अतः वहाँ विद्वानों ने व्रत से 'सत्य' अर्थ समझा है। सम्भवतया इसी आधार पर ऋ० के अधिकांश स्थलों पर स्वा. द. ने व्रत का अर्थ 'कर्म, सत्यभाषणादि कर्म, नियम, सत्यनियम, सत्ययुक्त चरित्र' इत्यादि अर्थ किये हैं। ऋ० १।१२४।२ के अन्तर्गत व्रतानि का 'वर्तमानानि सत्यानि वस्तूनि कर्माणि वा' तथा ऋ० ५।४०।६ के अन्तर्गत 'अपव्रतेन' का 'अन्यथा वर्तमानेन' भाष्य करते हुए उन्होंने इस शब्द के √वृत् (वर्तने) से निर्वचन का संकेत भी दिया है। तदनुसार 'व्रत' सदा रहने वाला, चलता रहने वाला—नियम, सत्य, कर्म है। पीटर्सबर्गकोश में इसका निर्वचन √वृ (अदादि., वरण करना) से मानकर

इसके 'इच्छा, आदेश, विधान, नियम, शासन, विहित कर्म, प्रथा, धर्मानुष्ठान, प्रतिज्ञा' आदि अर्थ दिये हैं। मक्स. ने ऋग्वेदानुवाद (पृ० २२५-८) में इसका निर्वचन √वृ (भ्वादि, रक्षा करना) से माना है और इसका मूल अर्थ 'कोई घिरी हुई, सुरक्षित, अलग रखी गई वस्तु' बताया है। उसके अनुसार आगे चलकर इसका अर्थ-विस्तार 'सीमा द्वारा पृथक्कृत, निश्चित, नियमित, विधान, आध्यादेश, अधिकार, शक्ति, शासन' आदि अर्थों में हुआ। बर्गेन ने भी मूल अर्थ 'गुप्ति या रक्षा' दिया है। बेन्फे ने इसका मूल अर्थ 'चुना गया कार्य या चुनी गई कार्य-पद्धति' दिया है, और फिर आगे के अर्थों में 'चुनाव' का भाव छोड़ दिया है।[1] स्थूल रूप में मक्स. का अनुसरण करते हुए पी. ने ऋ० १।२५।१; ६।५४।६; ७।७५।३ में व्रत के क्रमशः 'विधान (लॉ), भूमि (लैंड), कर्म (वर्क्स)' अर्थ किये हैं। **वैदिक इंडेक्स, खं० २, पृ० ३४१—**

परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के इन सब निर्वचनों और अर्थों की असंगति को देखते हुए व्हिट्ने, और उसकी पुष्टि करते हुए विनायक महादेव आप्टे ने स्वा. द. के समान ही इसका निर्वचन √वृत् 'चलना, आगे बढ़ना' (प्रोसीड) से सुझाया है। तदनुसार व्रत का अर्थ 'पद्धति, मार्ग, गति-मार्ग, क्रिया-पद्धति-और फिर, आचरण, व्यवहार' होगा। इन्हीं अर्थों का विस्तार 'अभ्यस्त, प्रतिष्ठित, सामान्य, या सम्मत कार्यपद्धति या आचरण-पद्धति तथा नैतिकता या धर्म द्वारा निर्धारित कोई एक नित्य-कर्म अथवा उनकी शृङ्खला' में होगा। स्वयं वेद में √वृत् से निर्वचन के संकेतों से उक्त निर्वचन की पुष्टि होती है।[2]

वदत—सा० ने वदतु पाठ मानकर 'व्यत्ययेन एकवचनम्' कहा है।

भद्रया—सा०-कल्याण्या वाचा वागिन्द्रियेण वाचं वदन्तु। ब्लूम०-दया-भावना से (इन् काइंड्ली स्पिरिट्), व्हि०-कल्याणरूप में (ऑस्पीशस्ली)।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥४॥

जिससे देव नहीं बनें विमुख
और न हों निष्प्रेम परस्पर।
वह करते हम मति तव घर में
समान ज्ञान पुरुषों के हित ॥

---

१. आप्टे, विनायक महादेव, ऑल एबाउट व्रत इन द ऋग्वेद, पृ. १,२,४।

२. ऋ. १।१८३।२—वामनु व्रतानि वर्तते; ऐ. ब्रा. ३।११—आदित्यस्य व्रतमनुपर्यावर्तन्ते। 'व्रत' पर पूर्ण विवेचन के लिये द्र. विनायक महादेव आप्टे की लघुपुस्तिका-'ऑल एबाउट व्रत इन् दि ऋग्वेद', (बुलेटिन ऑफ़ दि डेकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट—खं. ३, पृ. ४०७-८८ से पुनर्मुद्रित)।

मनुष्य यदि परस्पर झगड़ते हैं तो दैवी शक्तियाँ भी मानो कलहरत हो जाती हैं, अर्थात् उन शक्तियों से जो कुछ प्राप्त होता है, मनुष्य शान्तिपूर्वक उसका उपभोग नहीं कर सकता। पुरुषों में समानज्ञान वाली बुद्धि हो तो देवता अर्थात् दैवी शक्तियाँ विमुख नहीं होतीं अर्थात् उनसे प्राप्त द्रव्यों का पुरुष सुख-पूर्वक उपभोग करके समभाव से आनन्द को प्राप्त करते हैं।

न वि॒यन्ति—सा०-विमतिं न प्राप्नुवन्ति; ब्लूम०-विमति को नहीं प्राप्त होने देता (कॉज़ेज नॉट् टु डिस-एग्री); व्हि०-पृथक् नहीं होते (डु नॉट् गो अ्रॅपार्ट)। वाक्य में 'यत्' का प्रयोग होने के कारण यह तिङन्त पद सोदात्त है। इसका यह भी अर्थ हो सकता है—"जिससे देवता मनुष्यों से दूर नहीं जाते: अर्थात् विमुख नहीं होते।"

ब्रह्म—सा०-ऐकमत्यापादकं ब्रह्म मन्त्रात्मकं सांमनस्यम्। ब्लूम० और व्हि० दोनों ने इसका अर्थ 'जादूमन्तर' (चार्म, इन्कांटेशन) दिया है। किन्तु इस समस्त सूक्त में कहीं भी जादू का संकेत नहीं है। अतः ब्रह्म शुद्ध भावनाओं वाला सूक्त या उससे प्रेरित बुद्धि, मति हो सकता है।

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः॒ सधु॑रा॒श्चर॑न्तः।
अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ सध्री॒चीना॑न् वः॒ संम॑नसस्कृणोमि ॥५॥

ज्येष्ठयुक्त, चित्तयुक्त, नहीं अलग हो,
समोद्देश्य ले, एक धुरा ले चलते।
एक अन्य प्रिय बातें कहते आओ
सहकारी तुमको सममन करता हूँ॥

मिलकर साथ साथ काय करने का सुन्दर उदाहरण इस मन्त्र में प्रस्तुत किया गया है। सबको स्वार्थ छोड़ कर केवल एक उद्देश्य अपने सम्मुख रखकर कार्य करना चाहिये। तभी कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। राष्ट्र की उन्नति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

ज्याय॑स्वन्तः—बड़ों से युक्त अर्थात् बड़ों की बात मानने वाले, ब्लूम०-अपने नेता का अनुसरण करते हुए (फ़ॉलोइंग योर लीडर), व्हि०-श्रेष्ठों से युक्त (हैविंग् सुपीरिअर्ज़)। सा०-ज्येष्ठकनिष्ठभावेन परस्परमनुसरन्तः।

चि॒त्तिनः॑—सा०-समानचित्तयुक्ताः, ब्लूम०-(समान) मन वाले (ऑफ़ (दि सेम्) माइंड्), व्हि०-इच्छा युक्त (इंटेंट्फुल)। किन्तु 'चित्त से युक्त' अर्थात् 'मन लगाकर काम करने वाले' में कोई कठिनाई नहीं है।

सं॒रा॒धय॑न्तः—सा०-समानसंसिद्धिकाः, समानकार्याः, ब्लूम०-सहयोग करते हुए (को-ऑपरेटिंग), व्हि०-साथ साथ सिद्ध करते हुए (एकॉम्प्लिशिंग टुगेदर)।

सध्रीचीनान्—सा०-सहाञ्चतः कार्येषु सह प्रवृत्तान्, ब्लूम०-समान उद्देश्य वाले (ऑफ़ दि सेम् एम्), व्हि०-संयुक्त (युनाइटेड)। (सह) सध्रि (साथ)+ अञ्च् (जाता हुआ, क्विन् अर्थात् साथ साथ कार्य करता हुआ) से ईन (पा०-ख), 'अचः' (पा० ६।४।१३८) से अच् (अञ्च्) के अ का लोप, 'चौ' (पा० ६।३।१३८) से पूर्वपद के सध्रि के इ का दीर्घ।

विशेष—प्रथम और द्वितीय पाद में एक एक (कुल दो) अक्षर कम होने के कारण इसका छन्द विराट्-जगती है।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥६॥

साथ पान, साथ तुम्हारा अन्नभाग,
समबन्धन में साथ तुम्हें हूँ जोड़ता।
साथ मिले तुम अग्नि की करो सपर्या
अरे केन्द्र को जैसे सभी दिशा से ॥

साथ साथ खाना पीना, उठना बैठना हार्दिक सम्बन्ध का भी आधार होता है। प्रायः निकटता प्रकट करने के लिये साथ बैठकर खाना-पीना होता है। इसी प्रकार एक प्रकार के विचारों के व्यक्ति, विविध प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ होने पर भी अग्नि की सपर्या अर्थात् ईश्वर की पूजा में एक साथ मिल जाते हैं—ठीक वैसे ही जैसे विविध दिशाओं में निकली हुई पहिये की अरायें एक ही केन्द्रबिन्दु में मिली हुई होती हैं।

प्रपा—सा०-पानीयशाला (प्याओ), परस्परानुरागवशेन एकत्रावस्थितमन्नपानादिकं युष्माभिरुपभुज्यतामित्यर्थः। ब्लूम०-पेय, व्हि.—पीना (ड्रिंकिंग)।

सपर्यत—सपर्या करो, परिचर्या करो, पूजा करो, सत्कार करो; निघं० ३।५ में सपर्यति धातु परिचरणकर्मा मानी गई है। यास्क (नि० ३।४) ने 'सपर्यन्' का अर्थ 'पूजयन्' दिया है। 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (पा० ३।१।२७) से कण्डू इत्यादि शब्दों के मध्य परिगणित होने के कारण 'सपर' शब्द से यक् प्रत्यय लगकर 'सपर्य' नामधातु बनती है।[1] महाभाष्य, काशिका एवं सिद्धांतकौमुदी में 'कण्डू' आदि धातुओं से स्वार्थ में यक् प्रत्यय माना गया है।[2] आधुनिक विद्वान् हलन्त सपर् से सपर्यति-प्रभृति रूपों की व्युत्पत्ति मानते हैं।[3] मोनियर विलियम्स के कोश में इस धातु का अर्थ 'ध्यानपूर्वक सेवा करना, सत्कार, पूजा करना' बता कर किसी लुप्त नामपद सपर् से इसकी व्युत्पत्ति की सम्भावना व्यक्त की गई है। सा०-पूजयत।

१. ऋ. १।१२।८ पर सायणभाष्य।
२. वै. व्या. भा. २, पृ. ६७४।
३. वै. व्या. भा. २, पृ. ७३२, टि. ३८६।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥७॥

सहकारी तुमको समान-मन करता हूँ,
एकगति तुमको सम्मेलन से सबको ।
देव यथा अमृत की रक्षा करते,
सायं-प्रात शुभमनभाव तुम्हारा हो ॥

साथ साथ चलने, कार्य करने वाले, एकसमान गति वाले जनों का मन स्वाभाविक रूप से समान हो जाता है । अमरत्व या दीर्घायुष्य की रक्षा करती हुई दिव्य शक्तियों का मनोभाव जिस प्रकार एक जैसा शुभ होता है, उसी प्रकार समान भावना वाले, देशहित के एक उद्देश्य में निरत जनों का मनोभाव भी शुभ ही हो ।

एकश्नुष्टीन्—ब्लूम०-एक व्यक्ति के प्रति आदरभाव दिखाते हुए (पेयिंग् डेफ़रेंस टु वन् पर्सन्), व्हि०-एक समूह वाले (ऑफ़ वन् बंच्) । सायण ने यहाँ 'एकश्नुष्टिम्' पाठ स्वीकार करके व्याख्या की है—एकविधं व्यापनम्, एकविध-स्यान्नस्य भुक्तिं वा । क्योंकि 'श्नुष्टि' शब्द का ऋ० में नितान्त अभाव है, अतः यहाँ 'एकश्रुष्टीन्' पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है । यास्क (नि० ६।१२) ने 'श्रुष्टी' का अर्थ 'शीघ्र' देकर इसका निर्वचन 'आशु+√अश् क्तिन्+ङीष्' माना है (श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टतीति); अर्थात् जो शीघ्र व्याप्त हो जाये या शीघ्र पहुँच जाये—त्वरितगति—गति । तदनुसार एकश्रुष्टीन् का अर्थ होगा 'एक गति वाले' । ब्लूमफ़ील्ड ने 'एकश्रुष्टीन्' पाठ ही स्वीकार किया है (दे० वैदिक कॉन्कॉर्डेंस) । क्या 'श्रुष्टि' का निर्वचन (शु) श्रुष् (√श्रु सन्) से नहीं हो सकता ? फिर अर्थ होगा 'एक सी शुश्रूषा या सेवा है जिनकी' ।

संवननेन-सा०-वशीकरणेन अनेन सांमनस्यकर्मणा युष्मान् सर्वान् वशी-करोमीत्यर्थः ।

अमृतम्—ब्लूम०—अमृत (एम्ब्रोशिआ), व्हि०-अमरत्व (इम्मॉर्टैलिटी) । सा०—द्युलोकस्थम् अजरामरत्वप्रापकं पीयूषम् ।

सौमनसः-ब्लूम०-(नेता) तुम्हारे प्रति शुभमनस्क हो (मेय् ही (द लीडर) बी वैल्-डिस्पोज्ड टुवर्ड्स यू), व्हि०-शुभमनस्कता तुम्हारी हो (बी वैल्-विल्लिंग् योर्ज)। तै० सं० ४।७।३।१ में भी सौमनसः (पुं०) का प्रयोग भाववाचक (सौमनसम्) के रूप में हुआ है । अतः लुड्विग द्वारा किया गया पाठसंशोधन (सौमनसम्) अनावश्यक प्रतीत होता है ।[1] सा०-सौमनस्यम्, शोभनमनस्कत्वम् ।

1. हिम्ज ऑफ़ दि अथर्ववेद, पृ. ३६४, मन्त्र ७ पर टि. ।

भूमिः—अथर्व० १२।१

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में मानवसाहित्य में प्रथम बार पृथ्वी को माता बता कर अपने आपको उसका पुत्र बताया गया है। 'मातृभूमि' की धारणा का यह प्रथम उद्‌गार है। इस राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत सूक्त में विविधरूपा वसुन्धरा की अनेक सुन्दर तथा कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में स्तुति की गई है। वह विविध ओषधि-वनस्पतियों से सब प्राणियों का भरणपोषण उसी प्रकार करती है, जिस प्रकार कोई माता दूध से अपने शिशुओं का। भूमि अटल है, दृढ़ है, अपने शिशुओं के लिये सब कुछ सहन करती है। सूर्य, चन्द्रमा, पर्जन्य प्रभृति महती दिव्य शक्तियाँ निरन्तर पृथ्वी की रक्षा करती रहती हैं। पृथ्वी रत्नगर्भा है—प्राणि-मात्र के लिए ऊर्जा का महान् स्रोत है। यह ऊर्जा और दृढ़ता मनुष्य को सतत दृढ़ और स्वतन्त्र रहने की प्रेरणा देती रहती है। इसे **विश्वम्भरा** और **वसुधानी** कहा गया है। यह सृष्टि के आधारभूत अग्नि को धारण करती है—**वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निम्** (अथर्व० १२।१।६) सम्भवतया यहाँ पृथ्वी के भीतर विद्यमान ताप अभिप्रेत है। इसी पर शिलायें, पाषाण, धूलि आदि हैं—यही सुवर्णमय वक्षःस्थल वाली (**हिरण्यवक्षाः**) है। भूमि की उत्पत्ति के विषय में बताया गया है कि उत्पत्ति से पूर्व वह समुद्र में सलिल के रूप में थी—**यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत्** (अथर्व० १२।१।८)। सम्भवतया यहाँ उस सृष्टि-जल के प्रति संकेत है जिस पर हिरण्यगर्भ अण्डा तैरता रहा था और बाद में फूटने पर उसके एक भाग से पृथ्वी और दूसरे से आकाश बने थे।

भूमि सबके लिये समान है, सबको समता का व्यवहार सिखाती है। इसीलिये पाँचों (प्रकार के या पाँचों दिशाओं में रहने वाले) मनुष्य उसके ही बताये गये हैं—**तवेमे पृथिवि पञ्च मानवाः** (अथर्व० १२।१।१५)। भूमि को अदिति, कामनाओं का दोहन करने वाली, विस्तृत और प्राणियों का बीज-वपन करने वाली बताया गया है—**त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना** (अथर्व० १२।१।६१)। भूमि की गोद की कल्पना की गई है—**उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः** (६२)। बार बार भूमि से प्रार्थना की गई है कि वह सब प्रकार की सुरक्षा प्रदान करे, आयु दीर्घ बनाये, धन-धान्य से सम्पन्न तथा ओषधिरस, गोरस, जल आदि से समृद्ध होकर सभी प्राणियों को सुखी बनाये। कोई शत्रु इस पर आधिपत्य न कर सके। इसीलिये मातृभूमि का उपासक

प्रण करता है कि 'मैं क्रोध करने वाले अन्य (शत्रुओं) को नीचे गिरा मारूँ'—
—अधान्यान् हन्मि दोधतः (५८)। वह अपने आपको चारों ओर से विजय करने वाला, सर्वविजयी और प्रत्येक दिशा या मनोरथ को वश में करने वाला उद्‌घोषित करता है—**अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः** (५४)।

राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत वीरता की भावना वाले तथा मातृभूमि के यशोगान से परिपूर्ण इस भूमि-सूक्त में कुल तिरेसठ मन्त्र हैं। यहाँ उसके प्रथम चौदह मन्त्र दिग्दर्शन-मात्र उद्धृत किये गये हैं। इस सूक्त पर सायण भाष्य नहीं है।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥१॥

सत्य महान् ऋत उग्र क्रियासंकल्प तपस्या
वेद यज्ञ (का भाव) धरा को धारण करते।
वही हमारी भूत-भविष्य (कर्मों) की शासक
विशाल स्थान भूमि हमारे लिये बना दे॥

असम्बाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥२॥

बिना किसी बाधा के मध्य सब मानव-जन के
जिसके ऊँचे, विशाल, समतल (भाग) बहुत हैं।
विविध शक्ति की ओषधियाँ जो धारण करती
भूमि हमारे लिये बड़ी हो, प्राप्त हो हमको॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥

जिस पर सागर और नदी-नद (विविध) सलिल है,
जिस पर अन्न, खेतियाँ (अनेकों) होतीं पैदा।
जिस पर यह जीता जग प्राणवान् चलता-फिरता
वह हमें भूमि प्रथम-पेय हित स्थापित कर दे॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

जिसकी चारों महा दिशायें (हैं) पृथ्वी की,
जिस पर अन्न, खेतियां (अनेकों) होती पैदा ।
जो धारण करती बहुधा प्राणी चलते को,
वह हमें भूमि गौओं में भी अन्न में रख दे ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वज॒ना विचक्रि॒रे यस्यां॑ दे॒वा असु॑रान॒भ्यव॑र्तयन् ।
गवा॒मश्वा॑नां॒ वय॑सश्च वि॒ष्ठा भग॒ं वर्चः॑ पृथि॒वी नो॑ दधातु ॥५॥

जिस पर पहले के पूर्व-जनों ने किये पराक्रम,[1]
जिस पर देवों ने असुरों को कर दिया पराजित ।
गौओं, घोड़ों और पक्षियों का निवास (जो),
सौभाग्य, तेज (वह) पृथ्वी हममें कर दे स्थापित ॥

वि॒श्व॒म्भ॒रा व॑सु॒धानी॑ प्रति॒ष्ठा हिर॑ण्यवक्षा॒ जग॑तो नि॒वेश॑नी ।
वै॒श्वा॒न॒रं बिभ्र॑ती॒ भूमि॑र॒ग्निमिन्द्र॑ऋषभा॒ द्रवि॑णे नो दधातु ॥६॥

विश्वम्भरा वसु की धात्री आधार (सभी का),
स्वर्णमय उर वाली[2] संसार बसाने वाली ।
वैश्वानर[3] को धारण करती भूमि अग्नि को
इन्द्ररूप वृषभ वाली धन में हमको रख दे ॥

यां रक्ष॑न्त्यस्व॒प्ना वि॑श्व॒दानी॑ दे॒वा भूमि॑ं पृथि॒वीमप्र॑मादम् ।
सा नो॒ मधु॑ प्रि॒यं दु॑हा॒मथो॑ उक्षतु॒ वर्च॑सा ॥७॥

जिसकी रक्षा करते निद्रा से रहित सदा ही
(सब) देव भूमि की विस्तृत की अप्रमाद हो ।
वही हमारे लिये मधु का प्रिय दोहन कर दे,
और पुष्ट करे (हमको अतुल) तेज से (सत्वर) ॥

यार्ण॒वेऽधि॑ सलि॒लमग्र॒ आसी॒द्यां मा॒याभि॑र॒न्वच॑रन्मनी॒षिणः॑ ।
यस्या॒ हृद॑यं पर॒मे व्यो॑मन्त्स॒त्येनावृ॑तम॒मृत॑ं पृथि॒व्याः ।
सा नो॒ भूमि॒स्त्विषिं॒ बलं॑ रा॒ष्ट्रे द॑धातूत्त॒मे ॥८॥

---

१. व्हिट्ने, अपने आपको फैलाया (स्प्रैड देमसेल्व्ज) ।
२. ,, स्वर्णपृष्ठ (गोल्ड-बैकड) ।
३. ,, सार्वभौम अग्नि (यूनिवर्सल फ़ायर) ।

जो (सृष्टि-)समुद्र के मध्य जल (-रूपा) पहले थी[1],
जिसके निज मायाओं से अनुचर हुए मनीषी।
जिसका (सूर्यरूप प्राणसम) हृदय परम व्योम में
सत्य से आवृत हुआ अमर पृथ्वी का शाली॥
वही हमारे भूमि (अपरिमित सदा) तेज को, बल को
राष्ट्र में कर दे स्थापित उत्तम में (उत्तम को)॥

मायाभिः—मनीषी विद्वान् मनुष्यों ने अपनी सर्जनात्मक प्रज्ञा के द्वारा इसका अनुचरण किया, सेवा की अर्थात् इस पर विविध निर्माण करके उसे सजाया सँवारा। निघं० ३।९।९ में माया शब्द प्रज्ञा के पर्यायों में पठित है। इसके मूल में √मा (मापना) है, जिसके आधार पर अरविन्द इसे 'अनन्त चैतन्य की ग्रहण करने, मापने, निर्माण करने की शक्ति' या **सर्जनात्मक प्रज्ञा** मानते हैं।[2] किन्तु यह आश्चर्यकर है कि अनेक स्थलों पर यह हीन-प्रज्ञा या कपट के अर्थ में भी आया है। उदाहरणार्थ ऋ० १।११।७ के **मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः** मन्त्रांश में स्पष्ट ही कम से कम 'मायिनम्' में तो यह हीनार्थ में ही है 'मायाभिः' देवता से सम्बद्ध है, अतः इसके दोनों भाव हो सकते हैं।[3] व्हिट्ने ने इसका अर्थ 'उपाय' (डिवाइसज़) किया है

हृदयम्—हृदय समस्त शरीर का प्रेरणास्रोत, प्राण है। हृदय की गति से ही शरीर की गति होती है। इसी प्रकार सूर्य भी पृथ्वी का मुख्य प्रेरणा-स्रोत है। पृथ्वी उसकी परिक्रमा करती रहती है, इसी से ऋतुएँ बनती हैं। अथवा चन्द्रमा में भी पृथ्वी का हृदय बताया गया है—**वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्** (पारस्कर गृह्यसूत्र १।१६।१७)।[4] किन्तु सत्य और अमरत्व की भावना सूर्य से अधिक सम्बद्ध है। (तु० हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्—ईशोपनिषद् १५)। अरविन्द ने तो सूर्य को 'सत्य का प्रकाश' माना ही है।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥९॥

---

१. व्हिट्ने महासागर में समुद्र थी (वॉज़ सी अपॉन द ओशन)।

२. ओरोबिन्दोज़ वेदिक ग्लॉस्सरी, पृ. ७१।

३. तु. सायणभाष्य—नानाविधकपटोपेतं शुष्णमेतन्नामकमसुर मायाभिः तत्प्रतिकूलैः कपटविशेषैः, यद्वा तद्वधोपायगोचरप्रज्ञाभिः हिंसितवानसि।

४. दे. लेखककृत गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग, पृ. २१२-३।

जिसमें जल परिचर (हो)[1] समान (रूप में विस्तृत)
दिनरात (निरन्तर) अप्रमत्त होकर बहते हैं।
वही हमारे लिये भूमि बहुधारा वाली जल को[2]
दोहे भी अरु सींचे (हमको विपुल) तेज से ॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।[3]
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥१०॥

जिसे (शशि-सूर्य) दोनों अश्विनों ने है मापा,
विष्णु (व्यापक) ने जिस पर विविधक्रमण किया है।
इन्द्र (प्रकाशक) ने जिसे बनाया अपने हेतु,
शत्रु रहित को, शक्ति के स्वामी ने (सृजन किया है) ॥
वही हमारी भूमि विविध (रसों की) करे सृष्टि ।
माता पुत्र के लिये (ज्यों) मेरे हित दुग्ध (-वृष्टि) ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥११॥

ऊँचे उठे तुम्हारे पर्वत हिममण्डित (जो),
अरण्य तुम्हारा पृथ्वी ! सुखकर हो (सबको)।
भूरी काली लाल सभी रूपों वाली (विविधा)
ध्रुवा भूमि विस्तृत पर इन्द्र द्वारा रक्षित पर ॥
अविजित (और) अहत अनाहत (हुआ यहां पर,
(स्वतन्त्र) करूँ शासन पृथ्वी पर मैं (जनहित पर) ॥

स्वतन्त्र शासन की भावना का अभिप्राय यही है कि मैं स्वयं किसी समान मानव के द्वारा अपमानित हुए बिना और उसके वशीभूत हुए बिना शुद्ध स्वतन्त्र विचारों वाला होकर जीवन-यापन करूँ। कुछ विद्वानों के अनुसार

---

१. व्हिट्ने—परिक्रमणशील जल (सर्कुलेटिंग वाटर्ज़)।
२. ,, दूध दे (यील्ड अस मिल्क)।
३. उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (पा. ६।२।१४०) से दोनों पद उदात्त।

बभ्रु का अर्थ 'सबका भरणपोषण करने वाली', कृष्णा का अर्थ 'किसानों द्वारा जोती गई', रोहिणी का 'नाना अन्न-वनस्पतियों से सम्पन्न' और विश्वरूपा का 'समस्त प्राणियों से सम्पन्न' है।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः सम्बभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥१२॥

जो तेरे मध्य पृथ्वी ! और जो उदरस्थ (सभी)
जो तेरी ऊर्जायें तन से उत्पन्न हुई हैं।
उनमें हमको स्थापित कर दो, हमें पवित्र करो
माता है भूमि पुत्र हूँ मैं पृथ्वी का (पोषित)
मेघ पिता (है), वही हमें परिपूर्ण करे (वृष्टि से) ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥१३॥

जिस पर वेदी को घेरा करते हैं भूमि पर,
जिस पर यज्ञ को फैलाते हैं विश्वकर्मा (भी)।
जिस पर निर्मित होते हैं यज्ञस्तम्भ धरा पर
ऊँचे उज्ज्वल आहुति से पहले (वैभवशाली)
वह हमें भूमि अभिवृद्ध करे (जो) वर्धमान (है) ॥

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमि रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥१४॥

जो हमसे द्वेष करे पृथ्वी ! जो करे आक्रमण
जो (हमको) नष्ट करे मन से, जो आयुध से (भी) ॥
उसे हमारे लिए भूमि हे ! कर दे नष्ट (अभी)
हे पूर्व (व्यवस्था) करने वाली (दूरदर्शिनी) ॥

ऐतरेयब्राह्मणम् ३३।३

न केवल वेदों को समझने के लिये, अपितु प्राचीन भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण चित्र प्राप्त करने के लिये भी ब्राह्मण-ग्रन्थ वैदिक वाङ्मय का महत्त्व-पूर्ण अङ्ग हैं। निस्सन्देह इनका स्वरूप संहिताओं के मन्त्रों जितना मौलिक और शुद्ध तो नहीं है, फिर भी प्राचीन काल से ही इन्हें संहितामन्त्रों के साथ ही वेद कहा गया है (बौधायन गृह्यसूत्र २।६।३—मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते)।[1] अधिकांश विद्वानों द्वारा ब्रह्म अर्थात् मन्त्र की व्याख्या के अर्थ में 'ब्रह्मन्' शब्द से अण् प्रत्यय लगकर 'ब्राह्मण' शब्द निष्पन्न माना जाता है।

ब्राह्मणों में बहुधा यज्ञ-प्रसङ्गों का सूक्ष्म विवेचन होने पर भी अनेक स्थलों पर उनमें मन्त्र-व्याख्या के महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं। स्वयं यास्क कई निर्वचनों के लिये ब्राह्मणों का ऋणी है। प्रायः ब्राह्मणों में यज्ञों में प्रयुक्त अपनी अपनी शाखा की संहिताओं के मन्त्रों की व्याख्या, उसके लिये पौराणिक आख्यान तथा मन्त्रों के अथवा यज्ञ के वर्णन में आने वाले विशिष्ट शब्दों के निर्वचन दिये गये हैं। ब्राह्मणों का यह स्वरूप तैत्तिरीय संहिता (१।५।१) में निम्नलिखित शब्दों में बताया गया है :—ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः।[2] इस सामान्य स्वरूप के आधार पर ब्राह्मणों की विषयवस्तु के तीन विशेष विभाजन किये गये हैं, १—विधि अर्थात् यज्ञसम्बन्धी विधान, २—अर्थवाद अर्थात् प्रशंसावाक्य, उस विधान की व्याख्या या उसके फल आदि का कथन, ३—उपनिषद् अर्थात् शब्दसम्बन्धी, पौराणिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक विवेचन। ब्राह्मणों के अध्ययन के बिना अनेक पौराणिक कथाओं के उद्भव और विकास का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

ब्राह्मणों की भाषा प्रायः सरल, समासरहित, चलती हुई एवं छोटे वाक्यों वाली है। बहुधा किसी कथन पर अधिक बल देने के लिये वाक्यों की आवृत्ति की गई है। यह भाषा यद्यपि लौकिक संस्कृत नहीं है, फिर भी संहिताओं की

---

१. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४।१।३१—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

२. शबरभाष्य (२।१।२) में ब्राह्मणों की विषयवस्तु का विस्तृत वर्णन है :—हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना। उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य नु॥

भाषा से पर्याप्त भिन्न है। ब्राह्मणों में स्वराङ्कन की पद्धति भी भिन्न है। भावों और विचारों की दृष्टि से भी ब्राह्मणों और संहिताओं (कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं को छोड़कर, क्योंकि उनमें स्वयं ब्राह्मणांश हैं) में अन्तर है। उदाहरणार्थ ब्राह्मणों में यज्ञ की प्रमुखता ही नहीं, प्रभुता देखने में आती है। प्रजापति, अग्नि, विष्णु आदि को यज्ञस्वरूप ही बताया गया है। जिन प्रजापति, विष्णु और रुद्र को ऋग्वेद में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त था, वे ही, विशेषकर प्रजापति, ब्राह्मणों में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त किये हुए दिखाई देते हैं। ब्राह्मणों में सृष्टिसम्बन्धी आख्यान भी अनेक स्थलों पर आये हैं।

ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय ब्राह्मण के प्रणेता ऋषि महीदास ऐतरेय हैं। सायण के अनुसार यह ऋषि इतरा नामक महिला का पुत्र था। इतरा ने पृथ्वी (मही) की उपासना की। पृथ्वी के आशीर्वाद से महीदास विद्वान् हो गया और उसने इस ब्राह्मण का प्रणयन किया। यह ब्राह्मण पाँच पाँच अध्यायों के आठ पञ्चकों में विभाजित है। तदनुसार इसमें कुल चालीस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय कुछ खण्डों में उपविभाजित है।

इस ब्राह्मण का प्रस्तुत प्रकरण (३३।३) राजकृत्यों से सम्बद्ध राजसूय यज्ञ का अङ्ग है। तेंतीसवें अध्याय में प्रसिद्ध शुनःशेप आख्यान आता है। उसी आख्यान के प्रसङ्ग में हरिश्चन्द्र की प्रस्तुत कथा दी गई है। सायण ने इस कथा का फल बहुपुत्रलाभ बताया है।[1] इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चन्द्र सन्तानहीन था। महर्षि नारद ने उसे पुत्र-प्राप्ति का यह उपाय बताया कि तुम राजा वरुण से प्रार्थना करो और उसे कहो कि मेरा जो पुत्र होगा, उससे मैं तुम्हारा यजन करूँगा। उसका रोहित नामक पुत्र हुआ। स्वाभाविक रूप से वरुण ने उसे पुत्र द्वारा यजन के लिये कहा। परन्तु हरिश्चन्द्र उसे यह कहकर टालता रहा कि अभी इसके दाँत निकलने दो, दाँत टूटने दो, फिर दाँत निकलने दो। अन्त में उसने कहा कि क्षत्रिय का पुत्र धनुष्, बाण, कवच इत्यादि से युक्त होने पर ही यज्ञ-योग्य होता है। यह होने पर अर्थात् रोहित के धनुर्विद्या से युक्त होने पर पिता ने उसे सारी बात बताई। यह सुनकर रोहित धनुष-बाण लेकर वन में पहुँचा और एक वर्ष तक वहाँ रहा।

इधर हरिश्चन्द्र के जलोदर रोग हो गया। वरुण द्वारा उत्पन्न किये गये इस रोग का समाचार वन में रोहित को मिला तो वह वन से गाँव की ओर चला। परन्तु इन्द्र ने उसे रोका। इस प्रकार पाँच वर्ष तक इन्द्र द्वारा रोके जाने पर छठे वर्ष वन में चलते हुए उसे अजीगर्त नामक ऋषि मिला। रोहित अपने आपको वरुण से छुड़ाने के लिये सौ गौओं के बदले में अजीगर्त के पुत्र

---

१. त्रयस्त्रिंशोऽयमध्यायः शौनःशेपेतिनामवान्। हरिश्चन्द्रकथा तत्र कथिता बहुपुत्रदा॥

शुनःशेप को ले आया ।

इस कथा का आशय यह प्रतीत होता है कि यदि हरिश्चन्द्र कुछ प्रयत्न करता और अकर्मण्य बैठकर वरुण को बहानों से टालता न रहता, तो वह अवश्य ही अपने पुत्र को बचाकर भी वरुण को सन्तुष्ट कर देता । उसकी अकर्मण्यता के कारण ही उसे भयानक जलोदर रोग हो गया । उधर अपनी रक्षा में निरत वन में सञ्चरणशील रोहित अपनी रक्षा का उपाय ढूँढने में सफल हो गया । इसीलिये बार बार इन्द्र रोहित को उपदेश देता है—चरैवेति अर्थात् चलते ही रहो, क्योंकि इन्द्र अर्थात् ईश्वर चलने वाले अर्थात् कर्मशील व्यक्ति का मित्र है ।

अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह, तस्य होदरं जज्ञे, तदु ह रोहितः शुश्राव, सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति, इति ॥१॥

फिर इक्ष्वाकु वंशोत्पन्न (राजा हरिश्चन्द्र) को वरुण ने (रोग के रूप में) पकड़ लिया । उसका पेट उत्पन्न हो गया अर्थात् जलोदर-रोग के कारण पेट में पानी भरने से फूल गया । (वन में) रोहित ने वह (समाचार) सुना । वह वन से गाँव को आया । (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष रूप में आकर उसे कहा—

नहीं अनथके के लिये लक्ष्मी होती है
ऐसा रोहित ! सुना हुआ है हमने (पहले) ।
पापी, जनता में दुखी, श्रेष्ठ जन (भी होता),
इन्द्र बस चलने वाले का (होता है) सखा, चलते ही रहो ॥

जो व्यक्ति कार्य करता करता थक न जाये, वह सुख का अधिकारी नहीं होता । बहुत स्पष्ट रूप से इन शब्दों में श्रम की महिमा बताई गई है । चाहे व्यक्ति जन्म तथा वंश से कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, यदि वह अकर्मण्य रहता है तो सामान्य जन में उसका सम्मान नहीं होता, वह दुःखी ही नहीं होता, अपितु अकर्मण्यता के कारण उसका शरीर भी क्षीण होता रहता है । वही मानो पापी है । इन्द्र अर्थात् परमेश्वर चलने वाले अर्थात् कार्यशील व्यक्ति का सखा, सहानुभूति रखने वाला मित्र होता है । जो व्यक्ति स्वयं कार्य नहीं करता, ईश्वर भी उसकी सहायता नहीं करता । तु० फ़ारसी—हिम्मते मर्दां मददे ख़ुदा, अंग्रेजी—गॉड हैल्प्स दोज़ हू हैल्प दैमसैल्व्ज़ ।

जज्ञे—√जन् लिट् प्र० पु० एक०, सा०.—जलेन पूरितमुच्छूनं महोदर-नामकं रोगस्वरूपमुत्पन्नम् । हॉग—ही वॉज़ एटैक्ड बाई ड्रॉप्सी ।

नानाश्रान्ताय—सा०-आ समन्तात् श्रान्त आश्रान्तः सर्वत्र पर्यटनेन शान्ति प्राप्तस्तद्विपरीतोऽनाश्रान्त एकत्रैव निवासशीलस्तादृशाय तथाविधस्य पुरुषस्य श्रीर्बहुविधा सम्पन्नास्ति। यद्वा नानेति पदच्छेदः। श्रान्ताय सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्तस्य नाना श्रीर्बहुविधा। सम्पदस्ति। हॉग—यात्रा न करने वाले को कोई सुख नहीं मिलता (देअर इज़ नो हैप्पिनैस फ़ॉर हिम हू डज़ नॉट् ट्रैवल)।

नृषद्—सा०-नृषु सीदतीति नृषत्, श्रेष्ठोऽपि बन्धुगृहेषु सर्वदावस्थितस्तैरवज्ञातः पापस्तुच्छो भवेत्, अतस्तव पितृगृहे वासो न युक्तः। हॉग—मनुष्य-समाज में रहने वाला (लिविंग इन दि सोसाइटी ऑफ़ मेॅन)। पा. धातुपाठ में षद्लृ (सद्) का अर्थ विशरण, गति, अवसादन (नाश) दिया है। परन्तु मैक्डॉनल ने इसका अर्थ 'बैठना' दिया है। (दे० वे० ग्रा० स्टू०, पृ. ४२६)

इन्द्रः—सा०-परमेश्वरः, हॉग-इन्द्र।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणो ऽवोचदिति ह द्वितीयं संवत्सरमरण्ये चचार, सोऽरण्याद् ग्रामसेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति, इति ॥२॥

"निश्चय ही मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर (रोहित) दूसरे वर्ष वन में चलता रहा। वह (फिर) वन से गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा—

पुष्प-प्रफुल्लित चलने वाले की पिंडलियाँ
वर्धमान आत्मा फल धारण करने वाली।
सोये रहते हैं इसके सब पापकर्म (भी)
श्रम से (वे सब) पथ में नष्ट हुए (हों जैसे), चलते ही रहो।

जो व्यक्ति चलता रहता है, कार्यशील रहता है, उसका स्वास्थ्य समृद्ध रहता है। और जिसका स्वास्थ्य समृद्ध हो वह निरन्तर वर्धमान तथा अभीष्ट-प्राप्ति या लक्ष्यप्राप्ति में समर्थ होता है। ऐसे व्यक्ति को किसी पापकर्म के विषय में सोचने का भी अवकाश नहीं होता। तु० अंग्रेज़ी—एन एम्प्टी माइंड इज़ ए डेविल्ज़ वर्कशॉप।

अवोचत्—√ब्रू लुङ् प्र० पु० एक०।

पुष्पिण्यौ—सा०-यथा पुष्पयुक्तो वृक्षः शाखा लता वाऽथवा सुगन्धोपेता सेव्या भवत्येवं चरतो जङ्घे श्रमजयेन सेव्ये भवतः। हॉग—पर्यटन करने वाले के पाँव पुष्पसदृश होते हैं (द फ़ीट ऑफ़ द वाँडरर आर लाइक द फ़्लॉवर)

भूष्णुः—सा०, हॉग-वर्धिष्णुः (ग्रोइंग)।

आत्मा—सा०-मध्यदेहः, हॉग—सोल ।

फलग्रहिः—सा०-आरोग्यरूपफलयुक्तो भवति । यथा वर्धमानो वृक्षः कालेन फलानि गृह्णात्येवं चरतः पुरुषस्य बीजादिदीपनादिपाटवेन मध्यदेह आरोग्यरूपं फलं गृह्णाति । हॉग-फल पकाने वाली (रीपिंग् दि फ्रूट) ।

प्रपथे—सा०-प्रकृष्टे तीर्थक्षेत्रादिमार्गे श्रमेण तत्तद्देवतादिदर्शने तीर्थयात्रादिप्रयासेन विनाशिताः । हॉग—घूमने में (इन् वांडरिंग) ।

शेरे—√शी लट् प्र० पु० बहु०, शेरते के स्थान पर वैदिक रूप । यहाँ 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० ७।१।४१) के अनुसार तकारलोप हुआ है । सा०-शयाना इव भवन्ति । यथा शयानाः पुरुषाः स्वकार्यं कृषिवाणिज्यादिकं कर्तुमशक्ता एवं पुण्येन विनष्टाः पाप्मानो नरकं दातुमसमर्था इत्यर्थः । हॉग ने इसका अर्थ नहीं दिया प्रतीत होता (आॅल हिज़ सिन्ज़ आर डेस्ट्रॉय्ड) ।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह तृतीयं संवत्सरम् अरण्ये चचार, सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति, इति ॥३॥

"निश्चय ही ब्राह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर वह तीसरे वर्ष वन में चलता रहा । वह (फिर) वन से गाँव को आया । (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा—

बैठा रहता भाग्य बैठने वाले का (भी)
ऊँचा रहता खड़ा (वही) उठने वाले का ।
सोया रहता है सोने वाले का (सर्वंव)
चलता है चलने वाले का भाग्य (यहाँ पर), चलते ही रहो ।

मनुष्य का भाग्य उसके अपने हाथ में है । जैसा और जितना कार्य मनुष्य करता है, वैसा ही उसका भाग्य होता है । जो मनुष्य अकर्मण्य होकर आलस्य में सोया रहता है, उसका भाग्य भी मानो सोता है । परन्तु कार्यशील व्यक्ति का भाग्य उसे उचित फल देने को तत्पर रहता है । तु०—जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है ।

आस्ते—सा०-सौभाग्यं तथैव तिष्ठति, न तु वर्धते, अभिवृद्धिहेतोरुद्योगस्याभावात् ।

तिष्ठति—सा०-अभिवृद्धेरुन्मुखस्तिष्ठति, कृषिवाणिज्याद्युद्योगस्य सम्भावितत्वात् ।

शेते—सा०-निद्रां करोति, विद्यमानधनरक्षादिचिन्ताया अप्यभावात् सर्वथैव विनश्यति ।

चरतः—सा०-तेषु तेषु देशेष्वर्जनार्थं पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य ।

चराति—√चर् लट् प्र० पु० एक० चरति का वैदिक रूप । सा०-दिने दिने वर्धते ।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह चतुर्थं संवत्सरमरण्ये चचार, सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति, इति ॥४॥

"निश्चय ही मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर वह चौथे वर्ष वन में चलता रहा। वह (फिर) वन से गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा—

कलियुग सोता हुआ हुआ करता है (भाई)
निद्रात्याग करता तो द्वापर (हो जाता है) ।
उठता हुआ (मनुष्य) त्रेता होता है (सुखी)
कृतयुग बन जाता है चलता हुआ (निरन्तर), चलते ही रहो ॥

चारों युगों को मनुष्य की विभिन्न अवस्थाओं के परिणाम के प्रतीकरूप में प्रस्तुत किया गया है। जो मनुष्य सोया रहता है, वह कलियुग जैसा फल प्राप्त करता है जिसमें दुःख और कष्ट तथा पारस्परिक कलह अधिक है। आलस्य, असन्तोष अशान्ति इस युग की प्रमुख विशेषता है। परन्तु जो मनुष्य निद्रात्याग करके उठने को तैयार होता है अर्थात् कार्य में प्रवृत्त होने का विचार करता है उसे द्वापर जैसा फल प्राप्त होता है। द्वापर का अन्त महाभारत में हुआ था। महाभारत में उसका चित्र अंकित है। उससे पता चलता है कि यद्यपि दूषित प्रवृत्तियाँ प्रबल हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा बहुत कुछ नाश होकर भी धर्म की विजय होती है। त्रेता का प्रतीक रामायण है। उठता हुआ अर्थात् कार्य में प्रवृत्ति आरम्भ करने वाला परन्तु पूर्ण न करने वाला भी न करने वाले से अच्छा है। वह त्रेता जैसा फल प्राप्त करता है। उसमें परस्पर स्नेह, धार्मिक भावना प्रबल होती है यद्यपि रावण वहाँ भी है। परन्तु चलने वाला तो कृतयुग का ही फल प्राप्त कर लेता है। कृतयुग पूर्ण शान्ति का सर्वोत्कृष्ट युग है। इसमें पूर्ण धर्म का प्रचार होता है। सब जन अपना-अपना कार्य करके ईश्वर पर पूर्ण विश्वास करते हुए केवल अपने कर्म के फल की आकांक्षा करते हैं। किसी अन्य के धनादि की कामना नहीं करते।

सा०—चतस्रः पुरुषस्यावस्थाः। निद्रा तत्परित्याग उत्थानं सञ्चरणं चेति।

ताश्चोत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात् कलिद्वापरत्रेताकृतयुगैः समानाः। ततश्चरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैवेति ॥

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह पञ्चमं संवत्सरमरण्ये चचार, सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् चरैवेति, इति ॥५॥

"निश्चय ही मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर वह पाँचवें वर्ष वन में चलता रहा। वह (फिर) वन से गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा—

चलता हुआ (पुरुष) निश्चय ही मधु पाता है,
चलता हुआ स्वादु उदुम्बर फल (पा जाता),
सूरज की देखो तुम शोभा (अतुलित आभा),
जो नहीं अलस होता है चलता हुआ (कभी), चलते ही रहो ॥

मधु जीवन के माधुर्य, सुख का प्रतीक है। अन्यथा भी मधु का हमारी संस्कृति में विशेष महत्त्व है। अतिथिसत्कार की शास्त्रोक्त विधि में मधुमिश्रित 'मधुपर्क' को प्रमुख स्थान प्राप्त है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मधु का महत्त्व कम नहीं। सम्भवतया इसीलिये नवजात शिशु को मधु चटाया जाता है। कार्यनिरत व्यक्ति ही मधु तथा तज्जन्य फल प्राप्त कर सकता है। उदुम्बर अर्थात् अंजीर का भी वेद में पर्याप्त यशोगान है। इसकी लकड़ी पवित्र मानी जाती थी और यज्ञ की समिधाओं के लिये उसका प्रचुर प्रयोग होता था। यहाँ यह सामान्य फल मात्र का प्रतीक है। मन्त्र के उत्तरार्ध में सतत गतिशील सूर्य की उपमा देकर चलते रहने या कार्यशील रहने की उपयोगिता स्पष्ट की गई है। गतिशील सूर्य अनादि काल से इसी प्रकार देदीप्यमान है, उसमें कभी आलस्य नहीं आता। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति तेजोमय और स्फूर्ति से युक्त जीवन चाहता है तो उसे निरन्तर गतिशील रहना चाहिये, निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिये।

सा०—चरन्नेव पुरुषः क्वचिद् वृक्षाग्रे मधु माक्षिकं लभते। क्वचित् स्वादु मधुरमुदुम्बरादिफलविशेषं लभते। एतदुभयमुपलक्षणम्। तत्र तत्र विद्यमानं भोगविशेषं लभते। तत्र सूर्यो दृष्टान्तः। यः सूर्यः सर्वत्र चरन्नपि न तन्द्रयते कदाचिदप्यलसो न भवति तस्य सूर्यस्य श्रेमाणं श्रेष्ठत्वं जगद्वन्द्यत्वं (हॉग—सौन्दर्य, शोभा—ब्यूटी) पश्य। तस्माच्चरैव।

शतपथब्राह्मणम् ११।३।१

(अग्निहोत्रावयवोपासनाप्रकारः)

ब्राह्मणों को असङ्गतियों, अटकलों और कर्मकाण्डीय जटिलताओं का पुञ्ज बताया जाता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणसाहित्य को 'धर्म-विद्या-सम्बन्धी बकवाद' (थिओलोजिकल ट्वैडल) की संज्ञा दी है। किन्तु शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण के प्रस्तुत अंश से इस धारणा का निराकरण होता है। इसमें अग्निहोत्र कर्म से सम्बद्ध विभिन्न वस्तुओं की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। इसमें बताया गया है कि यज्ञ केवल भौतिक ही नहीं होता, अपितु उसका मर्म समझने के लिये या उसका उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के लिये उसको आध्यात्मिक दृष्टि से समझकर उसका आध्यात्मिक अनुष्ठान करना आवश्यक है।

वाग्घ वाऽएतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री। मन ऽ एव वत्सस्तदिदम्मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव तस्मात्समान्या रज्ज्वा वत्सञ्च मातरञ्चाभिदधति तेजऽएव श्रद्धा सत्यमाज्यम्[1] ॥१॥

अग्निहोत्री गौ इस अग्निहोत्र की वाणी ही है। (उसका) बछड़ा (इसका) मन ही है। तो यह मन और वाणी समान ही होते हुए भी भिन्न से (हैं), अतः बछड़े और (उसकी) माता को एक समान रस्सी स बाँधते हैं। तेज अर्थात् अग्नि ही (अग्निहोत्र की) श्रद्धा, आज्य (घी) सत्य है॥

सा०—अग्निहोत्रमिति कर्मनामधेयम्। अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन्निति व्युत्पत्तिः। उपचारात्तदर्थं पयोऽप्यग्निहोत्रम्। तस्य दोग्ध्री धेनुरपि अग्निहोत्रीत्युच्यते। तस्यैतस्याग्निहोत्राख्यस्य कर्मणः वागेव 'अग्निहोत्री' धेनुः। मनस्तस्या एव वत्सः, गवि वाग्बुद्धिः, वत्से मनोबुद्धिश्च कार्येत्यर्थः। तदेतत्समानधर्मयोगेन प्रतिपादयति। 'तदिदं' वाङ्मनसलक्षणं द्वयं 'समानम्' इदंप्रदेश एकीभूतमेव सत् पश्चान्नानेव विभक्तमिव भवति। यस्मादेवं तस्माल्लोके दोग्धारः समान्या एकयैव रज्ज्वा वत्सं मातरं च अभिदधति बध्नन्ति। तत्र तेजसो हविषश्च श्रद्धासत्यरूपतामाह—तेज एव श्रद्धेति। होमाधिकरणभूतं यत्तेजः तच्छ्रद्धात्मकत्वेन ध्यातव्यम्। तत्र होमद्रव्यमाज्यं तत्सत्यात्मकमिति॥

---

१. श. ब्रा. की अपनी विशेष स्वराङ्कन पद्धति है जिसके अनुसार उदात्त को दिखाने के लिये अक्षर के नीचे सीधी पड़ी रेखा दी जाती है। यदि कुछ उदात्त स्वर एक साथ आ रहे हों तो उनमें से केवल अन्तिम उदात्त को अङ्कित किया जाता है।

तद्धैतज्जनको वैदेह इः । याज्ञवल्क्यम्पप्रच्छ वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या ३ ऽ इति वेद सम्राडिति किमिति पय ऽ एवेति ॥२॥

तो इस (बात) को विदेह के (राजा) जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—"हे याज्ञवल्क्य, क्या तुम अग्निहोत्र को जानते हो?" (उसने कहा—) "हे सम्राट् मैं जानता हूँ।" (जनक—) "वह क्या है?" (याज्ञवल्क्य—) "वह दूध ही है।"

सा०—इममर्थं जनकयाज्ञवल्क्ययोरुक्तिप्रत्युक्तिभ्यां समर्थयते। तत्र खलु अग्निहोत्रविषय एतदुक्त तेजआज्ययोः श्रद्धासत्यरूपत्वं विदेहानां राजा वैदेहः जनकाख्यो राजा याज्ञवल्क्यं महर्षि पप्रच्छ पृष्टवान्। हे याज्ञवल्क्य! त्वम् अग्निहोत्रं वेत्सि जानासि किम्? इति प्रश्नः। 'विचार्यमाणानाम्' (पा० ८।१।९७) इति प्लुतिः। सम्राट्! वेद, अहं जानामि अग्निहोत्रमिति प्रतिवचनम्। पुनः किन्तदिति प्रश्नः। 'पय एवेति' तस्योत्तरम्। पयः खलु नित्यतया अग्निहोत्रहोमसाधनत्वेन श्रुतम् अतः पय एवाग्निहोत्रमित्यर्थः॥

यत्पयो न स्यात्। केन जुहुया ऽ इति व्रीहियवाभ्यामिति यद्व्रीहियवौ न स्याताम् केन जुहुया ऽ इति या अन्याऽओषधय ऽ इति यदन्याऽ ओषधयो न स्युः केन जुहुया ऽ इति या ऽआरण्या ऽ ओषधय ऽ इति यदारण्या ऽ ओषधयो न स्युः केन जुहुया ऽ इति वानस्पत्येनेति यद्वानस्पत्यं न स्यात् केन जुहुया ऽ इत्यद्भिरिति यदापो न स्युः केन जुहुया ऽ इति ॥३॥

(जनक—) "यदि दूध न हो तो किसके द्वारा हवन करोगे?" (याज्ञ०—) "व्रीहि (धान) और यव (जौ) से।" (जनक—) "यदि धान और जौ न हों तो किससे हवन करोगे?" (याज्ञ०—)"जो दूसरी (गाँव की, खेतों में होने वाली) ओषधियाँ (हैं उनसे)।" (जनक—) "यदि दूसरी (खेतों वाली) ओषधियाँ न हो तो किससे हवन करोगे?" (याज्ञ०—) "जो जंगली ओषधियां (हैं उनसे)।" (जनक—) "यदि जंगली ओषधियाँ न हों तो किससे हवन करोगे?" (याज्ञ०—) "वनस्पतियों अर्थात् वृक्षों के फल से।" (जनक—) "यदि वृक्षों का फल न हो तो किससे हवन करोगे?" (याज्ञ०—) "जल से।" (जनक—) "यदि जल न हो तो किससे हवन करोगे?"

सा०—यदि तर्हि पयो न स्यात् तदा केन द्रव्येण जुहुया इति प्रश्नस्योत्तरं व्रीहियवाभ्यामिति। व्रीहियवयोरन्यतरत् साधनमित्यर्थः। एवमुत्तरेष्वपि प्रश्नप्रतिवचनेषु योजना। अन्या ओषधय इति। व्रीहियवातिरिक्ता ग्राम्या ओषधयो होमसाधनमित्यर्थः। आरण्या ओषधय इति। वैणवश्यामाकधान्यादिकम् आरण्याः।

वानस्पत्येनेति । वनस्पतिर्वृक्षः तज्जन्यं फलादिकं वानस्पत्यं तेनेत्यर्थः । तस्याप्यभावे आप एव होमद्रव्यमित्याह अद्भिरिति ॥

स होवाच । न वाऽइह तर्हि किञ्चनासीदथैतदहूयतैव सत्य ँ श्रद्धायामिति वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य धेनुशतम् ददामीति होवाच ॥४॥

उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा—"निश्चय ही यहाँ तब (सृष्टि के आरम्भ में) कुछ भी नहीं था, फिर भी सत्य का श्रद्धा में हवन किया जाता था।" "याज्ञवल्क्य ! तुम अग्निहोत्र को जानते हो। मैं तुम्हें सौ गौएँ देता हूँ।" (जनक ने) कहा।

सा०—तासामभावे केन होम इति पृष्टे मनसि रहस्यत्वेन स्थापितमर्थमाह। इत्थ खलु याज्ञवल्क्य उवाच—तर्हि, तथा सति इहास्मिन् लोके किंचन किमपि होमसाधनमन्यत् द्रव्यं नैवासीत्। तथापि एतदग्निहोत्रम् अहूयतैव न लुप्यते। तत्किरूपमित्युच्यते—यत्सत्यवदनरूपो यो धर्मः स एव श्रद्धारूपाग्नौ हूयत इति अन्तरतिगूढमर्थमाविष्कृतवान्। विद्योपदेशात्तुष्टस्य जनकस्य वाक्यम्—वेत्थाग्निहोत्रमिति। हे याज्ञवल्क्य ! त्वमेवाग्निहोत्रं जानासि। अतस्तुभ्यं रहस्यवेदिने धेनूनां शतं पारितोषिकं प्रयच्छामीत्यर्थः ॥

एगॅलिंग ने याज्ञवल्क्य के वचन का यह अनुवाद किया है—तब तो निश्चय ही वहाँ कुछ भी नहीं होगा और फिर भी आहुति दी जायेगी सत्य की श्रद्धा में।[1]

तदप्येते श्लोकाः। किं ँ स्विद्विद्वान् प्रवसत्यग्निहोत्री गृहेभ्यः। कथ ँ स्विदस्य काव्यं कथ ँ सन्ततोऽअग्निभिरिति कथ ँ स्विदस्यानपप्रोषितं भवतीत्येवैतदाह ॥५॥

उस (अग्नि होत्र) के विषय में ये श्लोक भी हैं। अग्निहोत्र करने वाला (अग्निहोत्र का) क्या जानता हुआ (अपने) घर से प्रवास करता है ? कैसे उसका काव्य (अर्थात् 'जीवन पर्यन्त अग्नि होत्र करता रहे' यह वाक्य सिद्ध होता है) ? कैसे वह अग्नियों से सम्बद्ध (रहता है) ? यह (श्लोक) यही कहता है कि "कैसे उस (प्रवासी) का प्रवास-दोष का अभाव होता है ?"

सा०—अथ प्रवसद्विषये अग्निहोत्रमस्य मनःप्राणात्मना सान्तत्यं श्लोकमन्त्रैः प्रतिपादयति। तत्तस्मिन् अग्निहोत्रविषये अपि खलु एते श्लोकाः पठ्यन्ते। तत्तत्र प्रथमेन श्लोकेन प्रवासविषयं प्रश्नमुद्भावयति। अग्निहोत्री यावज्जीव-

1. सेक्रिड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट, खं. ४४, पृ. ४६।

संकल्पिताग्निहोत्रवाग् यजमानः किं विद्वान् किंरूपमग्निहोत्रं जानन् गृहेभ्यः प्रवसति तथा अस्य प्रवसतो यजमानस्य कथं वा तत् काव्यं कविकर्म यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति वाक्यं समर्थं भवति। तथा अग्निभिः गार्हपत्यादिभिः कथं सन्ततः सम्बद्धो भवतीति। अस्य मन्त्रस्य तात्पर्यार्थमाह—अस्य प्रवसतो यजमानस्य अनपप्रोषितं प्रवासदोषाभावः कथं सिद्ध्यतीति एतत् प्रथमश्लोकरूपमन्त्रवाक्यं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥

एगॅलिंग—क व्यम्-प्रज्ञा (विज्डम)—उसकी प्रज्ञा कैसे (व्यक्त होती) है? अर्थात् जीवन भर प्रतिदिन नियमित रूप से दो बार अग्निहोत्रानुष्ठान-सम्बन्धी अपने ज्ञान को कैसे प्रकट करता है?[1]

यो ज॒वि॑ष्ठो भुव॑नेषु। स वि॒द्वान् प्र॑व॒सन् वि॑दे। तथा॑ त॒दस्य॑ का॒व्यं त॒था सन्त॑तोऽअ॒ग्निभि॑रि॒ति मन॑ऽए॒वैत॒दाह मन॑सै॒वास्या॑नपप्रोषितं भवती॒ति ॥६॥

जो लोकों में (अर्थात् लौकिक अनुष्ठानों में)[2] सबसे अधिक वेगवान् हैं, वह विद्वान् प्रवास करता हुआ लाभ के लिये (होता है)। उस प्रकार उसका वह काव्य (अग्निहोत्र-नियमसम्बन्धी वाक्य सिद्ध होता हैं)। उस प्रकार वह अग्नियों से सम्बद्ध (रहता है)। यह (श्लोक) मन को ही कहता है, मन के द्वारा ही उसके प्रवास-दोष का अभाव होता है।

सा.—अस्योत्तरं द्वितीयेन श्लोकमन्त्रेण प्रतिपादयति। यः यजमानः भुवनेषु लोकेष्वनुष्ठेयपदार्थेषु जविष्ठः अतिशयेन जववान् मनसा कृत्स्नं दूरवर्त्यपि प्रयोगजातमनुसन्धातुं कुशल इत्यर्थः। स विद्वान् विदे लाभाय प्रवसन् प्रवासकारी भवति। तथा तेन वेदनेन अस्य प्रवसतः तत् काव्यं यावज्जीववाक्यमपि सार्थकं भवति तथा तेनैव वेदनेन दूरे वर्तमानोऽपि अग्निभिः सन्ततः अव्यवहितसम्बन्ध एव भवति। इमं मन्त्रं तात्पर्यकथनेन व्याचष्टे— एतन्मन्त्रवाक्यं प्रवासजनितदोषनिवृत्तेः मन एव समाधानमिति आह तात्पर्यतो ब्रूते इत्यर्थः। अनपप्रोषितं प्रवासदोषविरहः ॥

यत्स॒ दू॒रं प॒रेत्य॑। अ॒थ त॒त्र प्र॑मा॒द्यति॑ क॒स्मिन् सा॒स्य हु॒ता॒हु॒ति॒र्गृ॑हे या॒मस्य॑ जु॒ह्वती॒ति। यत्स॒ दू॒रं प॒रेत्या॒थ त॒त्र प्र॑मा॒द्यति॑ क॒स्मिन्नस्य॑ सा॒हु॒ति॒र्हु॒ता भ॑व॒ती॒त्ये॒वैत॒दाह ॥७॥

---

१. सेक्रिड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट, खं. ४४, पृ. ४७।

२. वही; एगॅलिंग—लोकों में या प्राणियों के मध्य या प्राणियों में।

यदि वह (यजमान) दूर जाकर और वहाँ प्रमाद करता है (तो ऋत्विज्) उसकी जिस आहुति को अर्पित करते हैं, उसकी वह अर्पित आहुति किस घर में अर्पित होती है ? यदि वह दूर जाकर और वहाँ प्रमाद करता है (तो) उसकी वह आहुति किस (घर) में अर्पित होती है ?—यह (श्लोक) यही कहता है।[1]

सा. यत् स दूरमिति तृतीयश्लोकः। यत् यदि सः यजमानः दूरं परेत्य अथ तत्र प्रमाद्यति अनवधानयुक्तो भवति। तदा अस्य यजमानस्य गृहे यामाहुतिम् ऋत्विजः जुह्वति सा आहुतिरस्य प्रमाद्यतो यजमानस्य तस्मिन् गृहे एव हुता भवति। न त्वनेन संगच्छत इत्यर्थः। निगदसिद्धोऽर्थः॥

यो जागार भुवनेषु। विश्वा जातानि योऽबिभः तस्मिन्त्सास्य हुताहुतिर्गृहे यामस्य जुह्वतीति प्राणमेवैतदाह तस्मादाहुः प्राणऽएवाग्निहोत्रमिति ॥८॥

जो लोकों (अथवा प्राणिशरीरों) में जागता रहता है, जो सभी प्राणियों को धारण करता है, उसकी वह आहुति उस (प्राणरूपी) घर में अर्पित होती है, उसकी जिस आहुति को (ऋत्विज्) अर्पित करते हैं। यह (श्लोक) प्राण को ही बताता है। इसलिये कहते हैं कि प्राण ही अग्निहोत्र है।[2]

सा.—एवं हि तन्मनस्कस्य प्रवसतो मनसैवाग्निहोत्रसम्पत्तिमभिधाय प्राणरूपतामप्याह। यः प्राणवायुः भुवनेषु शरीरेषु जागार जागर्ति अनिद्रः सदा वर्तते। तथा विश्वा सर्वाणि जातानि भूतजातानि योऽबिभः तत्रात्मरूपतया बिभर्ति तस्मिन् अनिरुक्तरूपिणि तस्मिन् प्राणवायौ अस्य उक्तं प्राणत्वं विदुषः प्रवसतो यजमानस्य सा अग्निहोत्राहुतिः हुता भवति। गतमन्यत्। इमं मन्त्रं व्याचष्टे—एतन्मन्त्रवाक्यं प्राणमेव होमाधारत्वेन प्रतिपादयतीत्यर्थः। अत्र विद्वत्प्रसिद्धि संवादयति—इत्थमाहुत्यधिकरणत्वात् प्राण एव अग्निहोत्राख्यं कर्मेति तत्र प्राणबुद्धिः कार्येत्यर्थः। प्राणस्तु सर्वदा यजमानेन सम्बद्धः इति न प्रवासजनितदोषावकाश इत्यर्थः॥

---

१. एगॅलिंग—यत्-जब, कस्मिन् सा...जुह्वतीति—उसकी वह आहुति कहाँ अर्पित की जाती है; (और कहाँ) उसके घर में वे प्रगति का यज्ञानुष्ठान करते हैं ?

२. एगॅलिंग—भुवनेषु—लोकों में, तस्मिन्..जुह्वतीति—उसकी वह आहुति उसमें अर्पित होती है, (और उसमें) उसके घर में वे प्रगति की आहुति अर्पित करते हैं।

शब्दानुक्रमणिका

कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ